लेखक—
श्रीराम शर्मा आचार्य
गायत्री तपोभूमि, मथुरा।

ॐ भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि
धियो योनः प्रचोदयात् ।

प्रकाशक—
"अखण्ड ज्योति" प्रेस, मथुरा।

प्रथम बार] सन् १९५८ [मूल्य ।)

ईश्वर का विराट रूप

गायत्री मंत्र का प्रथम पद 'ॐभूर्भुवःस्वः' ईश्वर के विराट स्वरूप की झांकी कराता है—

भूर्भुवः स्वस्त्रयो लोका व्याप्त मोम्ब्रह्मतेषुहि ।
स एव तथ्यतो ज्ञानी यस्तद्वेति विचक्षण ॥

अर्थात्—"भूः भुवः स्वः ये तीन लोक हैं। इनमें 'ओ३म्' ब्रह्म व्याप्त है। जो उस ब्रह्म को जानता है वास्तव में वही ज्ञानी है।"

भूः (पृथ्वी) भुवः (पाताल) स्वः (स्वर्ग) ये तीनों ही लोक परमात्मा से परिपूर्ण हैं। इसी प्रकार भूः (शरीर) भुवः (संसार) स्वः (आत्मा) ये तीनों ही परमात्मा के क्रीड़ा स्थल हैं। इन सभी स्थलों को, निखिल विश्व ब्रह्माण्ड को, भगवान का विराट रूप समझ कर, उस उच्च अध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये जो गीता के ११वें अध्याय भगवान ने अपना विराट रूप बतला कर अर्जुन को प्राप्त कराई थी।

प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थ में, प्रत्येक परमाणु में, भूः भुवः स्वः में, सर्वत्र 'ओ३म्' ब्रह्म को व्याप्त देखना, प्रत्येक वस्तु में विश्वव्यापी परमात्मा का दर्शन करना, एक ऐसी आत्मिक विचार-पद्धति है, जिसके द्वारा विश्व सेवा की भावना पैदा होती है। इस भावना के कारण संसार के प्रत्येक पदार्थ एवं जीव के सम्बन्ध में एक ऐसी श्रद्धा उत्पन्न होती है, जिसके कारण अनुचित स्वार्थ-साधन का नहीं वरन् सेवा का ही कार्य-

क्रम बन पड़ता है। ऐसा व्यक्ति प्रभु की इस सुरम्य वाटिका के किसी भी कण के साथ अनुचित अथवा अन्याय मूलक व्यवहार नहीं कर सकता।

कर्तव्यशील पुलिस, न्यायाधीश अथवा राजा को सामने खड़ा देख कर कोई पक्का चोर भी चोरी करने या कानून तोड़ने का साहस नहीं कर सकता। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के मन में भावना दृढ़ता पूर्वक समाई हुई है कि परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है और हजार आँखों से उसके हर विचार और कार्य को देख रहा है उसकी यह हिम्मत नहीं हो सकती कि कोई पाप गुप्त या प्रकट रूप से करे।

आध्यात्मिकता का मूल आधार

जो व्यक्ति भगवन के इस विराट स्वरूप की वास्तविकता के हृदयंगम कर लेगा, और विश्व के कार्य-कारण रहस्य को समझ जायगा, वह सदैव यही विश्वास करेगा कि भगवान इस सृष्टि में आत्मरूप होकर प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार की भावना जीवन के अंत तक स्थिर रहे इसी उद्देश से हमारे यहाँ योग्यता, बुद्धि, सामर्थ्य के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्य निश्चित कर दिये गये हैं। कर्तव्यों में विभिन्नता होते हुए प्रेरणा में समता है, एक निष्ठा है एक उद्देश्य है और यह उद्देश्य ही अध्यात्म कहलाता है। यह अध्यात्म लादा नहीं गया है, थोपा नहीं गया है, बल्कि प्राकृतिक होने के कारण स्वभाव है। और स्वभाव को अध्यात्म कहने भी लगे हैं। स्वभावो अध्यात्म उच्यते।'

'विराट के दो विभाग है। एक है अन्तः चैतन्य और दूसरा है बाह्य अंग। बाह्य अंग के समस्त अवयव अपनी अपनी कार्य दृष्टि से स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। कर्त्तव्य भी उनकी

उपयोगिता की दृष्टि से प्रत्येक के भिन्न भिन्न हैं। लेकिन ये सब हैं उस विराट अंग की रक्षा के लिए उस अन्तः चैतन्य को बनाये रखने के लिए। इस प्रकार अलग होकर और अलग कर्मों में प्रवृत्त होते हुए भी जिस एक चैतन्य के लिए उनकी गति हो रही है वही हिन्दू संस्कृति का मूलाधार है। गति की यह एकता— समसता विनष्ट न हो इसी के लिए संस्कृति के साथ धर्म को जोड़ा गया है। और यह योग ऐसा हुआ है जिसे प्रथक नहीं किया जा सकता यहां तक कि दोनों समानार्थक से दिखाई पड़ते हैं।

धर्म शब्द की व्युपत्ति से ही विराट की एक तानता का का भाव स्पष्ट हो जाता है। जो वास्तविकता है उसी की धारणा रखना धर्म है। वास्तविक है चैतन्य। यह नित्य है, अविनश्वर है, शाश्वत है, सभी धर्मों में आत्मा के नित्यत्व को, शाश्वतपन को स्वीकार किया गया है। लेकिन अंगागों में प्रथक दिखाई देते रहने पर भी जो उसमें एकत्व है, उसको सुरक्षित रखने की ओर ध्यान न देने से विविध सम्प्रदायों की सृष्टि हो पड़ी है। तो भी धर्म को इस एकता बनाये रखने, जाग्रत रखने की प्रवृत्ति अभी तक कायम है यही कारण है कि संसार में नाना सम्प्रदायों –मजहबों की सृष्टि हुई लेकिन आज उनका नाम ही शेष है। पर हिन्दू अपनी विशालता के साथ जिन्दा हैं। यह धर्म वास्तव में मानव—धर्म है। मानव की सत्ता जिसके द्वारा कायम रह सकती है और जिससे वह विश्व चैतन्य के विराट अंग का अंग बना रह सकता है उसी के लिए इसका आदेश है!

हमारे धर्म की सबसे बड़ी विशेषता उस की अपनी विशिष्ट उपासना पद्धति। विश्व आत्मा की उपासना के लिए उसके समय विभाग में कोई एक समय निश्चित नहीं है।

उपासना देश और काल में विभाजित नहीं है। उनका तो प्रत्येक क्षण उपासनामय है। वे अपने विश्व चैतन्य को एक क्षण के लिए भी भूलना नहीं चाहते, बल्कि गति विधि का प्रत्येक भाग इन चेतन देव के लिए ही लगाना चाहते हैं।

विराट के चार स्वरूप

हिन्दु धर्म के पौराणिक ग्रन्थों में ब्रह्माजी का जो स्वरूप वर्णित है उसमें उनके चार मुख दिखलाये गये हैं। यह परमात्मा की सत्ता का एक अलंकारिक चित्र है। चार मुख उसके चार भेदों का दिग्दर्शन कराते हैं। इन चार मुखों को (१) ब्रह्म (२) ईश्वर (३) विष्णु और (४) भगवान कहा जाता। वैसे तो परमात्मा एक ही है, पर उससे उत्पन्न विश्व की व्यवस्था को समझने के लिये उसके चार विभाग कर दिये गये हैं—

१—ब्रह्म

सात्विकता की ऊँची कक्षा को ब्रह्म कहते हैं वैसे तो परमात्मा सत्, रज, तम तीनों गुणों में मौजूद है पर उसकी ब्राह्मी ज्योति सतोगुण में ही है। सात्विक भाव, ब्रह्म केन्द्र से ही उत्पन्न होते हैं। मनुष्य के मन में यों तो अनेक प्रकार की इच्छाएें उत्पन्न होती रहती हैं पर जब सतोगुणी आकांक्षाऐं उत्पन्न होती हैं तो उनका उद्गम केन्द्र–प्रेरक बिन्दु वह ब्रह्म ही होता है। ऋषियों में, महात्माओं में, संतों में, सत्पुरुषों में हम परमात्मा का अधिक अंश देखते हैं, उन्हें परमात्मा के समीप समझते हैं और ऐसा मानते हैं कि परमात्मा की उन पर कृपा है। परमात्मा की विशेष सत्ता उनमें मौजूद है इसका प्रमाण यही है उनमें सत तत्व अधिक मात्रा में मौजूद है। यह सत का आधिक्य ही ब्राह्मी स्थिति है। पूर्ण सात्विकता में जो अधिष्ठित होजाते हैं वे 'ब्रह्म निर्वाण' प्राप्त कहे जाते हैं।

मनुष्य की अन्तः चेतना प्रकृति और पुरुष दोनों के संयोग से बनी हुई है । मन, बुद्धि और चित्त अहंकार प्रकृति के भौतिक तत्वों द्वारा निर्मित है, जो कुछ हम सोचते, विचारते धारण या अनुभव करते हैं वह कार्य मस्तिष्क द्वारा होता है । मस्तिष्क की इच्छा आकांक्षा, रुचि तथा भावना इन्द्रिय रसों तथा सांसारिक पदार्थों की भली बुरी अनुभूति के कारण होती है । मस्तिष्क में जो कुछ ज्ञान, गति और इच्छा, है वह सांसारिक स्थूल पदार्थों के आधार पर ही बनती हैं, स्वयं मस्तिष्क भी शरीर का एक अंग है और अन्य अंगों की तरह वह भी पंचतत्वों से, प्रकृति से बना हुआ है इस अन्तःकरण चतुष्टय से परे एक और सूक्ष्म चेतना केन्द्र है जिसे आत्मा या ब्रह्म कहते हैं । यह ब्रह्म सात्विकता के केन्द्र हैं । आत्मा में से सदा ही सतोगुणी प्रेरणाऐं उत्पन्न होती हैं । चोरी, व्यभिचार, हत्या, ठगी आदि दुष्कर्म करते हुए हमारा दिल धड़कता है, कलेजा कांपता है, पैर थरथराते हैं, मुँह सूखता है, भय लगता है, और मन में तूफान सा चलता है, भीतर ही भीतर एक सत्ता ऐसा दुष्कर्म न करने के लिये रोकती है । यह रोकने वाली सत्ता-आत्मा है इसी को ब्रह्म, कहते हैं, असात्विक कार्य-नीचता तमोगुण, पाप और पशुता से भरे हुए कार्य उसकी स्थिति से विपरीत पड़ते हैं, इसीलिये उन्हें रोकने को भीतर ही भीतर प्रेरणा उत्पन्न होती है यह प्रेरणा शुभ-सतोगुणी पुण्य कर्मों को करने के लिये भी उत्पन्न होती है । कीर्ति से प्रसन्न होना मनुष्य का स्वभाव है और यह स्वभाव अच्छे अच्छे प्रशंसनीय, श्रेष्ठ कर्म करने के लिये प्रोत्साहन करता है । शुभ कर्मों से यश प्राप्त होता है और यश से प्रसन्नता होती है । यश न भी मिले तो भी सत्कर्म करने के उपरान्त अन्तरात्मा में एक शांति अनुभव होती है, यह आत्म-

तृप्ति इस बात का प्रमाण है कि अन्तःकरण की अंतरंग आकांक्षा के अनुकूल कार्य हुआ है। दया, प्रेम, उदारता, त्याग, सहिष्णुता, उपकार, सेवा सहायता, दान, ज्ञान, विवेक की सुख शान्तिमयी इच्छा तरंगे आत्मा में से ही उद्‌भूत होती है। यह उद्‌गम केन्द्र ब्रह्म है।

वेदान्त दर्शन ने सारी शक्ति के साथ यही प्रतिपादित किया है कि आत्मा ही ईश्वर है। 'तत्वमसि', 'सोऽहम, शिवोऽहम' अयमात्मा ब्रह्म' सरीखे सूत्रों का अभिप्राय यही है कि आत्मा ही ब्रह्म है। ईश्वर का प्रत्यक्ष अस्तित्व अपने आत्मा में ही देखने की वेदान्त की साधना है। अन्य ईश्वर भक्त भी अन्तःकरण में परमात्मा की झाँकी करते हैं, असंख्यों कविताऐं एवं श्रुतिवचन ऐसे उपलब्ध होते हैं जिनमें यह प्रतिपादन किया गया है कि "बाहर ढूँढने से नहीं अन्दर ढूंढने से परमात्मा मिलता है" संत कबीर ने कहा है कि परमात्मा हम से चौबीस अँगुल दूर है। मन का स्थान मस्तिष्क और आत्मा का स्थान हृदय है। मस्तिष्क से हृदय की दूरी २४ अँगुल है। इस प्रतिपादन में ईश्वर को अंतःकरण में स्थित बताया है।

मनुष्य दैवी और भौतिक तत्वों से मिल कर बना है। इसमें मन भौतिक और आत्मा दैवी तत्व हैं। आत्मा के तीन गुण हैं, सत चित् और आनन्द। वह सतोगुणी है श्रेष्ठ शुभ, दिव्य मार्ग की ओर प्रवृत्ति वाला एवं सतत हमेशा रहने वाला अविनाशी है। चित्-चैतन्य, जागृत, क्रियाशील, गतिवान है, किसी भी अवस्था में वह क्रिया रहित नहीं हो सकता। आनन्द प्रसन्नता, उल्लास, आशा तथा तृप्ति उसका गुण है। आनन्द की दिशा में उसकी अभिरुचि सदा ही बनी रहती है, आनन्द, अधिक आनन्द अति-आनंद उपलब्ध करना उसके लिए वैसा

ही प्रिय है जैसा मछली के लिए जल। मछली जलमग्न रहना चाहती है, सत्, चित, आनंद गुण वाली आत्मा हर एक के अंतःकरण में अधिष्ठित है। मन और आत्मा में जैसे जैसे निकटता होती जाती है वैसे ही वैसे मनुष्य अधिक सात्विक अधिक क्रियाशील और अधिक आनंदमग्न रहने लगता है योगी जन ब्रह्म की प्राप्ति के लिए साधना करते हैं, इस साधना का कार्यक्रम यह होता है कि आत्मा की प्रेरणा के अनुसार मन की सारी इच्छा और कार्य प्रणाली हो। भौतिक पदार्थों के नाशवान् अस्थिर और हानिकर आकर्षणों की ओर से मुँह मोड़ कर जब आत्मा की प्रेरणा के अनुसार जीवन चक्र चलने लगता है तो मनुष्य साधारण मनुष्य न रह कर महान् मनुष्य बन जाता है। ऐसे महापुरुषों के विचार और कार्य सात्विकता, चैतन्यता और आनंद दायक स्थिति से परिपूर्ण होते हैं। उन्हें, संत, महात्मा, योगी, तपस्वी, परमहंस, सिद्ध आत्मदर्शी या ब्रह्म परायण कहते हैं। जिनका ब्रह्म भाव, आत्म विकाश पूर्ण सात्विकता तक विकसित हो गया है समझना चाहिए कि उनने ब्रह्म को प्राप्त कर लिया, उन्हें आत्म दर्शन हो गया।

१—ईश्वर

इस समस्त विश्व के मूल में एक शासक, संचालक एवं प्रेरक शक्ति काम करती है। सूर्य्य, चंद्र, नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह निरंतर अपनी नियत चाल से अविश्रांत यात्रा जारी रखे हुए हैं। तत्वों के सम्मिश्रण से एक नियत व्यवस्था के अनुसार तीसरा पदार्थ बन जाता है, बीज अपनी ही जाति के पौदे उत्पन्न करता है, सूर्य एक पलका विलम्ब किये बिना ठीक समय पर उदय और अस्त होता है। समुद्र के ज्वार भाटा नियत समय पर आते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश सब की क्रियाऐं

अचूक हैं । नन्हें-नन्हें अदृश्य परमाणु अत्यन्त द्रुत गति से हरकत करते हैं पर उनकी इस गति में रंच मात्र भी अंतर नहीं आता । एक परमाणु को दूसरे परमाणु से लड़ाने के रहस्य को ढूंढ कर वैज्ञानिकों ने प्रलयकारी 'परमाणु बम' बनाये हैं। यदि एक सैकिण्ड में हजारों मील की गति से घूमने वाले यह परमाणु आपस में लड़ जाया करते तो आये दिन प्रलय उपस्थित हो जाया करती परन्तु हम देखते हैं कि प्रकृति का हर एक परमाणु अपने गुण, कर्म को ठीक प्रकार कर रहा है।

यदि सृष्टि में नियमितता न होती तो एक भी वैज्ञानिक आविष्कार सफल न होता । आग कभी गर्मी देती कभी ठंडक, तो भला उसके भरोसे कोई काम कैसे होता। नित्य अनेकों वैज्ञानिक आविष्कार होरहे हैं इनका आधार इसी पर निर्भर है कि प्रकृति की दृश्य एवं अदृश्य शक्तियां अपने नियत नियमों से रंच मात्र भी विचलित नहीं होती। यह सर्वमान्य और सर्व विदित तथ्य है कि प्रकृति की समस्त क्रिया प्रणाली नियमित है उसके मूल भूत नियमों में कभी अन्तर नहीं पड़ता।

इस नियमितता और गति शीलता के मूल में एक सत्ता अवश्य है। विचार और प्राण से रहित जड़ प्रकृति अपने आप इस क्रिया कलाप को नहीं चला सकती। रेल, मोटर, इंजन, हवाई जहाज, तलवार-कलम आदि जितने भी निर्जीव यंत्र हैं उनको चलाने वाला कोई न कोई सजीव प्राणी अवश्य होता है, इसी प्रकार प्रकृति की नियमितता और उद्गम केन्द्र भी कोई न कोई अवश्य है। इस केन्द्र को हम ईश्वर कहते हैं। ईश्वर का अर्थ है स्वामी। जड़ प्रकृति के निर्माण, व्यवस्था एवं संचालन में जो शक्ति काम करती है वह ईश्वर है।

केवल जड़ प्रकृति का ही नहीं, चेतन जगत का भी वह पूरी तरह नियमन करती है। इसने अपने नियमों के अंतर्गत प्राणिमात्र को बांध रक्खा है। जो उस ईश्वर के नियमों के अनुसार चलते हैं वे सुखी रहते हैं, विकसित होते हैं और जो उन नियमों को तोड़ते हैं वे दुख पाते और हानि उठाते हैं। स्वास्थ्य के नियमों पर चलने वाले, सदाचारी संयमी मिताहारी लोग स्वस्थ रहते हैं और चटोरे दुराचारी, स्वेच्छाचारी लोग बीमारी कमजोरी एवं अकाल मृत्यु के शिकार होते हैं। इसी प्रकार सामाजिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक, धार्मिक,आर्थिक राजनैतिक क्षेत्रों में काम करने वाले ईश्वरीय नियमों को ठीक प्रकार पालन करते हैं वे उन क्षेत्रों में स्वस्थता, समृद्धि, एवं उन्नति प्राप्त करते हैं, जो उन नियमों के प्रतिकूल कार्य करते हैं वे उन क्षेत्रों में दुष्परिणाम भुगतते हैं। पराक्रम, पुरुषार्थ,प्रयत्न लगन, साहस, उत्साह एवं धैर्य यह सब सफलता के मार्ग की ईश्वरीय पगडंडियां हैं। इन पर जो चलते हैं वे अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं। जो इस राजमार्ग पर नहीं चलते वे पिछड़ जाते हैं।

ईश्वर पूर्णतया निष्पक्ष, न्यायकारी नियम रूप है। वह किसी के साथ रत्ती भर भी रू रियायत नहीं करता। जो जैसा करता है वह वैसा भोगता है। अग्नि या बिजली के नियमों के अनुसार यदि उनसे काम लिया जाय तो वे हमारे लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध होती है पर यदि अग्नि का या बिजली का दुरुपयोग किया जाय तो वह भयंकर दुर्घटना उपस्थित कर देती है। इसी प्रकार जो लोग ईश्वरीय नियमों के अनुसार काम करते हैं उनके लिये ईश्वर वरदाता, त्राता, रक्षक सहायक, कृपा सिन्धु, भक्त वत्सल है, पर जो उसके नियमों में

गड़बड़ी करता है उसके लिये वह यम, काल, अग्नि, शंकर, बज्र एवं दुर्दैव बन जाता है। मनुष्य को स्वतन्त्र बुद्धि देकर ईश्वर ने उसे काम करने के लिये स्वच्छन्द अवश्य बना दिया है पर नियमन अपने ही हाथ में रखा है। वह जैसे को तैसा फल दिये बिना नहीं छोड़ता। आग और लकड़ी को इकट्ठा करना या न करना यह हमारी इच्छा पर निर्भर है, पर उन दोनों को इकटठा होने पर ईश्वरीय नियमों के अनुसार जो ज्वलन क्रिया होगी उसे रोकना अपने बस की बात नहीं है। इसी प्रकार शुभ अशुभ कर्म करना तो हमारे अपने हाथ में है पर उनसे जिन भले बुरे परिणामों की उत्पत्ति होगी वह ईश्वरीय नियामक शक्ति के हाथ में है।

जैन और बौद्ध कर्म के फल की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं अतएव वे ईश्वर को, ब्रह्म की द्वितीय सत्ता को मानते हैं। सत्कर्म करना प्रकृति के कठोर अपरिवर्तनशील नियमों का ध्यान रखना, अपने आचरणों और विचारों को ईश्वरीय नियमों की मर्यादा में रखना ईश्वर पूजा है। अपनी योग्यता और शक्तियों को समुन्नत करना, बाहुबल के आधार पर आगे बढ़ना अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करना ईश्वरवादियों का प्रधान स्वभाव होता है क्योंकि वे जानते हैं कि सबलों क्रियाशीलों और जागरूकों को बढ़ाना और कमजोरों अकर्मण्यों एवं असावधानों को नष्ट करना प्रकृति का नियम है। इस कठोर नियम में किसी के बूते कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। ईश्वरवादी इस नग्न सत्य को भली भांति जानते हैं कि—'ईश्वर उन्हीं की मदद करता है जो अपनी मदद आप करता है।' इसलिये वे ईश्वरीय कृपा प्राप्त करके उसके नियमों से लाभ उठाने के लिए सदा शक्ति सचय करने एवं आगे बढ़ने के लिये प्रयत्नशील रहते

हैं। आत्म निर्भर और आत्मावलम्बी होते हैं। अपने भाग्य का आप निर्माण करते हैं। ईश्वरीय नियमों को ध्यान पूर्वक देखते परखते और हृदयंगम करते हैं तथा उनकी वज्रोपम कठोरता एवं अपरिवर्तन शीलता का ध्यान रखते हुए अपने आचरणों को 'औचित्य' की, धर्म की, सीमा के अन्तर्गत रखते हैं।

३—विष्णु

विष्णु संसार में एक संतुलन शक्ति भी काम कर रही है जो किसी वस्तु की अतिवृद्धि को रोककर उसे यथास्थान ले आती है। संसार की सुन्दरता और वैभव शालीनता को वह कुरूपता और विनाश से बचाती है। प्रजनन शक्ति को ही लीजिये। एक-एक जोड़ा कई कई बच्चे पैदा करता है, यदि यह वृद्धि पीढ़ी दर पीढ़ी निर्बाध गति से चलती रहे तो थोड़े ही दिन में सारी पृथ्वी इतनी भर जाय कि संसार मे प्राणियों को खड़ा होने के लिये भी जगह न मिले। मछली एक वर्ष में करीब सत्रह हजार अण्डे देती है, मक्खी, मच्छड़, जैसे कीट पतंग एक हजार से लेकर साठ हजार तक अण्डे प्रति वर्ष देते हैं। वे अंडे एक दो सप्ताह में ही पककर बच्चे की शक्ल में आजाते हैं और फिर दो चार हफ्ते बाद ही वे भी अण्डे देने लगते हैं। इनकी एक ही साल में प्रायः आठ पीढ़ी होजाती हैं, यदि यह सब बच्चे जीवित रहें तो दस पाच साल मे ही सारा संसार उनमे से एक जाति के रहने के लिये भी पर्याप्त न रहेगा। चींटी दीमक, टिड्डी आदि कीड़े भी बड़ी तेजी से बढ़ते हैं। सुअर, बकरी आदि भी तेजी से प्रचुर संतान वृद्धि करते हैं। एक जोड़ा स्त्री-पुरुष भी औसतन आठ दस बच्चे पैदा करता है। यह अभिवृद्धि यदि न रुके तो संसार के सम्मुख दस-पांच वर्ष

में ही बड़ी विकट परिस्थिति उत्पन्न होकर खड़ी हो सकती है। परन्तु लाखों करोड़ों वर्ष प्राणियों को इस पृथ्वी पर हुए हो गए, ऐसी परिस्थिति कभी भी उत्पन्न नहीं हुई। सृष्टि की संतुलन शक्ति उस विषमता को उत्पन्न होने से रोके रहती है। दुर्भिक्ष, भूचाल, महामारी, युद्ध तथा किसी न किसी दैवी प्रकोप द्वारा प्रकृति प्राणियों की प्रजनन शक्ति से उत्पन्न होने वाले खतरे का निराकरण करती रहती है।

रात्रि का अंधकार एक सीमा तक बढ़ता है। उस बाद को प्रकृति रोकती है और पुनः दिन का प्रकाश लाती है। मध्यान्ह तक सूर्य की तेजी बढ़ती है फिर घटने लगती है। समुद्र में ज्वार आते हैं, फिर थोड़े समय बाद उसका प्रतिरोधी भाटा आता है। चन्द्रमा घटते घटते क्षीण होता है। फिर बढ़ने लगता है। गर्मी के बाद सर्दी और सर्दी के बाद गर्मी का मौसम आता है। मरने वाला जन्मता है और जन्मने वाला मृत्यु की तैयारी करता है। सृष्टि के सौन्दर्य का क्रम यथावत चला आता है, उसका बैलेंस बराबर कायम रहता है-संतुलन बिगड़ने नहीं पाता।

पुराणों में ऐसे वर्णन आते हैं कि देवताओं को जब असुर सताते हैं तो वे इकट्ठे होकर विष्णु भगवान् के पास जाते हैं और प्रार्थना करते हैं कि हमारी रक्षा कीजिए। कई पुराणों में ऐसी कथाऐं मिलती हैं कि पृथ्वी पर जब अधर्म बढा तो धरती माता गौ का रूप धारण कर विष्णु भगवान् के पास गई और प्रार्थना की कि अब मुझसे पाप का बोझ नहीं सहा जाता मेरा उद्धार कीजिये। देवताओं की रक्षा करने तथा पृथ्वी का भार उतारने के लिए विष्णु भगवान् अवतार धारण करते हैं। गीता में भी ऐसी ही प्रतिज्ञा है (यदा यदा हि धर्मस्य···

तदात्मानम् सृजाम्यहम) बुराइयों में यह गुण है कि वे आसानी से और तेजी के साथ बढती हैं। पानी ऊपर से नीचे की ओर बड़ी तेजी से स्वयमेव दौड़ता है पर यदि उसे नीचे से ऊपर चढ़ाना हो तो बड़ा प्रयत्न करना पड़ेगा। पत्थर को ऊपर से नीचे की ओर फेंके तो जरा से संकेत के साथ वह तेजी से नीचे गिरेगा और अगर बीच में कोई रोकने वाली चीज न आवे तो सैकड़ों मील नीचे गिरता चला जायगा। परन्तु यदि उस पत्थर को ऊपर फेंके तो बड़ा जोर लगा कर फेंकना पड़ेगा सो भी थोड़ी ऊँचाइ तक जायगा फिर गिर पड़ेगा इसी प्रकार बुराई के मार्ग पर पतन की ओर मन तेजी से गिरता है, पर अच्छाई की ओर कठिनाई से चढ़ता है। लोगों का झुकाव पाप की ओर अधिक होने के कारण थोड़े ही समय में पाप छा जाता है और फिर उसे दूर करने के लिये संतुलन ठीक करने के लिए इस विष्णु-शक्ति को किसी न किसी रूप में प्रकट होना पड़ता है, उस प्राकट्य को 'अवतार' कहते हैं।

शरीर में रोगों के विजातीय विषैले परमाणु इकट्ठे हो जानें पर रक्त की जीवनी शक्ति उत्तेजित होती है और उन विषैले परमाणुओं को मार भगाने के लिए युद्ध आरम्भ कर देती है। रक्त के श्वेत कणों और रोग कणों में भारी मारकाट मचती है, खून खच्चर होता है। इस संघर्ष को बीमारी कहते हैं बीमारी में पीड़ा, फोड़ा, पीव, पसीव, दस्त, उलटी जलन आदि के लक्षण होते है। युद्ध में चोट लगती है, दर्द होता है यही बीमारी की पीड़ा है, खून खच्चर होता है, यही पीव, यही दस्त आदि हैं। बीमारी का प्रयोजन शरीर को निर्दोष बनाना है। अवतार शक्ति का भी यही कार्य होता है। जब रावण, कंस, हिरण्यकश्यप सरीखे कुविचार के प्रतिनिधि अधिक बढ़ जाते

हैं तो पापों की प्रतिक्रिया स्वरूप अन्तरिक्ष लोकों में हलचल मचती है और उस विषमता को हटाने के लिए अवतार प्रकट होता है। जब ग्रीष्मऋतु का ताप असह्य हो जाता है तो उसे शांत करने के लिए मेघ मालाऐं गर्जती हुई चली आती हैं। पापों की अतिवृद्धि का नियमन करने के लिए वैष्णवीसत्ता अवतार धारण करके प्रकट होती है और भीषण संघर्ष उत्पन्न करके शांति स्थापित करती है। "परित्राणाय साधूनाम विनाशाय च दुष्कृताम्" अवतार का यही उद्देश्य होता है। धर्म की संस्थापना के लिए वह बार बार प्रकट होता है।

अवतार समिष्टि आत्मा का परमात्मा का प्रतीक है। सभी आत्माओं की एक सम्मिलित सत्ता है जिसे 'विश्वमानव' या समाज की सम्मिलित आत्मा कहते हैं। यही परमात्मा है। एक मनुष्य यह चाहता है कि मैं सुख पूर्वक रहूँ मेरे साथ में सब प्रेम, भलाई, एवं सहयोग का वर्ताव करें कोई यह नहीं चाहता कि मेरे साथ चोरी, हिंसा, ठगी, कठोरता, अन्याय का वर्ताव करें। यही इच्छा 'विश्वमानव' की समिति आत्मा—या परमात्मा की है। परमात्मा की—विश्वमानव की—इच्छा को ही धर्म कहते हैं। अवतार धर्म की रक्षा के लिये होता है। अधर्म अर्थात् विश्वमानव की इच्छाओं के प्रतिकूल कार्य जब संसार मे अधिक बढ़ जाते हैं तो उसे दूर करने के लिये विश्वमानव के अन्तस्तल में प्रतिक्रिया होती है और विरोध का उफान उबल पड़ता है। इस उफान को अवतार के नाम से पुकारा जाता है।

अवतार एक अदृश्य प्रेरणा है। सूक्ष्म वातावरण में परमात्मा की इच्छा का आवेश भर जाता है। जैसे आकाश में आंधी छायी हुई हो और उसी समय पानी बरसे तो वर्षा की

बूँदे उस आंधी की धूलि से मिश्रित होती हैं। बसन्त ऋतु में प्रकृति के सूक्ष्म अन्तराल में 'काम क्षोभ' का आवेश आता है उन दिनों सभी नर नारियों में जीव जन्तुओं में कामेच्छा फूट पड़ती है। भय, क्रोध, हिन्सा, साम्प्रदायिक राजनैतिक तनाव, घृणा, तथा सत्कर्मों की भी एक लहर आती है वातावरण जैसा बन जाता है वैसे ही काम बहुत बड़ी संख्या में होने लगते हैं। इसी प्रकार विश्वमानव-परमात्मा की इच्छा पूर्ण करने के लिए सूक्ष्मलोक में अदृश्य वातावरण में आवेश आता है। उस आवेश में प्रेरित होकर कुछ विशिष्ट पुण्यात्मा, जीवन युक्त महापुरुष संसार में आते हैं और परमात्मा की इच्छा को पूरा करते हैं। एक समय मे अनेकों अवतार होते हैं, किसी में न्यून किसी में अधिक शक्ति होती है। इस शक्ति का माप करने का पैमाना 'कला' है। बिजली को नापने के लिये 'यूनिट' गर्मी को नापने के लियें 'डिग्री' लम्बाई को नापने के लिये 'इञ्च' दूरी को नापने के लिये मील जैसे होते हैं वैसे ही किस व्यक्ति में कितना अवतारी अंश है इसका नाप 'कला' के पैमाने से होता है। त्रेता मे परशुरामजी और श्रीरामचन्द्रजी एक ही समय में दो अवतार थे परशुरामजी को तीन कला का रामचन्द्रजी को बारह कला का अवतार कहा जाता है। यह तो उस समय के विशिष्ट अवतार थे। वैसे अवतार का आवेश तो अनेकों मे था वानरों की महती सेना को तथा अनेकों अन्य व्यक्तियों को अवतार के समतुल्य कार्य करते हुए देखा जाता है।

इस प्रकार समय समय पर युग युग मे आवश्यकतानुसार अवतार होते हैं। बड़े कार्यों के लिये बड़े और छोटे कार्यों के लिये छोटे अवतार होते है। सृष्टि को सन्तुलन करने वाली विष्णुशक्ति वैसे तो सदा ही अपनी क्रिया जारी रखती

है। पर बड़ा रोग इकट्ठा हो जाने पर बड़ा डाक्टर भेजती है। उस बड़े डाक्टर को उनके महान कार्यों के अनुरूप यश एवं सम्मान प्राप्त होता है। अवतारी महापुरुषों की पूजा यथार्थ में विष्णुशक्ति की पूजा है जिसके कि वे प्रतीक होते हैं।

लक्ष्मीपति विष्णु सृष्टि की सुन्दरता की, सम्पन्नता की, सद्बुद्धि की और सात्विकता की रक्षा करते हैं। लक्ष्मीजी के चार हाथ, सुन्दरता, सम्पन्नता, सद्बुद्धि और सात्विकता के प्रतीक हैं। समस्त प्राणियों की समिष्ट-सम्मिलित-आत्मा लक्ष्मी है। यह लक्ष्मी विष्णु का अर्धाङ्ग है। परमात्मा की आत्मा में समाई हुई है, संसार का नियमन करती है साथ-साथ लक्ष्मी की-विश्वमानव की इच्छा की रक्षा भी करती है। लक्ष्मी विष्णु से अभिन्न है।

विष्णु के उपासक–वैष्णव वे हैं जो विश्व मानव की इच्छाओं के अनुकूल कार्य करने में अपनी शक्ति लगाते हैं। नरसिंह मेहता का प्रसिद्ध भजन है—"वैष्णव जनतो तेने कहिये जे पीर पराई जाने रे।" ;समाज का लाभ, संसार की सेवा, विश्व की श्री वृद्धि, विश्वमानव की सुख शान्ति के लिए सच्चे अन्तःकरण से हर घड़ी लगे रहने वाले मनुष्य असली वैष्णव हैं। विष्णु की इच्छा ही उन वैष्णवों की इच्छा और विष्णु की कार्य प्रणाली ही उनकी कार्य प्रणाली होती है। वे पाप को घटा कर धर्म की स्थापना के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। जनता जनार्दन को विष्णु रूप समझ कर लोक सेवा में, विष्णु पूजा में, प्रवृत रहते हैं।

४—भगवान—

ब्रह्म की चौथी शक्ति 'भगवान्' है। भगवान् भक्तों के वश में होते हैं। भक्त जैसे चाहते हैं उन्हें नचाते है। भक्त

जिस रूप में उनका दर्शन करना चाहते हैं उसी रूप में प्रकट होते हैं और उनसे जो याचना या कामना करते हैं उसे पूरा करते हैं। भगवान् की कृपा से भक्तो को बड़े-बड़े लाभ होते हैं। परन्तु यह भी स्मरण रखने की बात है कि वे केवल भक्तों को ही लाभ पहुँचाते हैं, जिनमें भक्ति नहीं है उनको भगवान् से भी कुछ लाभ नहीं हो सकता। अनेकों देवी देवता भगवान् के ही रूप हैं। जिस देवता के रूप में भगवान का भजन किया जाता है, उसी रूप में वैसे ही फल उपस्थित करते हुए भगवान प्रकट होते हैं।

भगवान की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। आत्मा के सशक्त क्रिया रूप को भगवान कहते हैं। आत्मा अनन्त शक्तियों का पुञ्ज है उसकी जिस शक्ति को प्रदीप्त, प्रचण्ड एवं प्रस्फुटित बनाया जाय वह शक्ति एक बलवान देवता के रूप में प्रकट होती और कार्य करती है। किसी पक्के गुम्बजदार मकान में आवाज करने से वह मकान गूंज उठता है। आवाज की प्रतिध्वनि चारों ओर बोलने लगती है, रबड़ की गेंद को किसी दीवार पर फेंक कर मारा जाय तो जितने जोर से उसे फेंका था टक्कर खाने के बाद वह उतने ही जोर से लौट आती है। इसी प्रकार अन्तरंग शक्तियों का विश्वासके आधारपर जब ऐकीकरण किया जाता है तो उससे आश्चर्य जनक परिणाम उत्पन्न होते हैं।

सूर्य की किरणों को आतिशी शीशे के द्वारा केन्द्र बिन्दु पर एकत्रित किया जाय तो इतनी गर्मी उत्पन्न हो जाती है कि उस केन्द्र में अग्नि जलने लगती है। मानसिक शक्तियों को किसी इष्टदेव को केन्द्र मान कर यदि एकत्रित किया जाय तो एक सूक्ष्म सजीव चेतना उत्पन्न हो जाती है। यह श्रद्धा निर्मित सजीव चेतना ही भगवान है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने

रामायण में 'भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ' श्लोक में यही भाव प्रकट किया है। उन्होंने भवानी तथा शंकर को श्रद्धा विश्वास बताता है। श्रद्धा साक्षात् भवानी है और विश्वास मनुष्य को मृत्यु के मुखमें से बचा सकता है और जीवित मनुष्य को क्षण भर में रोगी बना कर मृत्यु के मुख में ढकेल सकता है। 'शंका डायन—मनसा भूत' कहावत किसी वड़े अनुभवी ने प्रचलित की है। चित्त से उत्पन्न हुई शंका डायन बन जाती है और मन का भय भूत का रूप धारण करके सामने आ खड़ा होता है। रस्सी को सांप, झाड़ी को भूत, कड़ुए पानी को जहर बना देने की और मृत्यु का खतरा उत्पन्न करने की शक्ति विश्वास में मौजूद है। केवल घातक ही नहीं निर्माणात्मक शक्ति भी उसमें है। कहते हैं 'मानो तो देव नहीं तो पत्थर तो है ही।' पत्थर को देव बना देने वाला विश्वास है। विश्वास की शक्ति अपार है। शास्त्र कहता है 'विश्वासो फलदायकः।'

मंत्र शक्ति तथा देवशक्ति और कुछ नहीं आत्म शक्ति या इच्छा शक्ति का दूसरा नाम है। ध्यान, जप, अनुष्ठान आदि की योगमयी साधनाएं एक प्रकार का मानसिक व्यायाम है। जैसे शारीरिक व्यायाम करने से देह पुष्टि होती है और निरोगता, सुन्दरता, दीर्घायु, भोग, सुख, सहन शक्ति, धन उपार्जन तथा कठिन कष्ट साध्य कामों को पूरा करने की प्रत्यक्ष सिद्धियां प्राप्त होती हैं। वैसे ही मानसिक साधनाओं द्वारा आराधना उपासना द्वारा, मनोबल बढ़ता है और उससे नाना प्रकार की अलौकिक शक्तियां प्राप्त होती हैं। मंत्र शक्ति देवशक्ति से जो कार्य पूरे होते हैं वे किसी दूसरे के द्वारा प्राप्त नहीं होते वरन् अपने ही पुरुषार्थ द्वारा अपनी आत्म शक्तियों द्वारा उपलब्ध होते हैं। साधना एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसके

द्वारा आत्म शक्तियां बलवान होती हैं और मन चाहे परिणाम उपस्थित करती हैं।

भक्त; भगवान का पिता है। अपनी भक्ति द्वारा वह अपने भगवान को उत्पन्न करता और पुष्ट करता है। जो अपने भगवान् को जितना भक्ति का—साधना का—दूध पिलाता है उसका भगवान उतना ही बलवान हो जाता है और जितना उसमें बल होता है उतना ही महत्वपूर्ण परिणाम उपस्थित कर देता हैं। प्रहलाद का भगवान इतना बलवान था कि खंभ चीर कर नृसिंह रूप में निकल पड़ा और हिरण्यकश्यपु का पेट चीर डाला। नरसी भगत का भगवान हुण्डी बरसा सकता था। परन्तु हमारे भगवानों में वह बल नहीं है। किसी के भगवान स्वप्न में या जागृत अवस्था में दर्शन दे सकते हैं। किसी के भगवान भविष्य का कोई संकेत कर सकते हैं। किसी के भगवान विपत्ति मे सहाई हो सकते हैं। तात्पर्य यह कि जिसने अपने भगवान को जिस योग्य बनाया होगा वह वैसे वरदान देने के लिए, वैसी सहायता करने के लिए वह तैयार रहेगा।

वस्तुतः मनोबल ही भगवान है। मनोबल को बढ़ाने के तरीके अनेकों हैं। योग साधना का भारतीय तरीका ही एक मात्र उपाय नहीं है, संसार में अनेकों साधन और उपाय इसके हैं। विश्वास के आधार पर मनोबल बढ़ता है। कई व्यक्ति बिना योग साधना के भी अपने स्वाबलम्बन, आत्मविश्वास, अध्यवसाय, साहस, सत्सङ्ग एवं पराक्रम द्वारा अपना मनोबल बढ़ा लेते हैं और वही लाभ प्राप्त करते है जो भक्तों को भगवान प्रदान करते हैं। अनेक अनीश्वरवादी व्यक्ति भी बड़े बड़े सिद्ध हुए हैं, राक्षस लोग देवताओं से अधिक साधन सम्पन्न थे, असुरों को बड़े-बड़े अद्भुत वरदान प्राप्त थे, आज भी

वैज्ञानिक लोग बड़े बड़े अद्भुत आविष्कार कर रहे हैं। विद्वान विद्या के और धनी धन के चमत्कार दिखा रहे हैं। इस सब के मूल में उनकी मानसिक विलक्षण शक्तियाँ काम कर रहीं हैं। यह भगवान की ही कृपा है। भगवान को सुर और असुर सभी विना भेदभाव के प्रसन्न कर सकते हैं उनका अनुग्रह और वरदान प्राप्त कर सकते हैं।

ब्रह्म की मूल सत्ता निर्लिप्त है वह नियम रूप है, व्यक्ति गत रूप से किसी पर प्रसन्न अप्रसन्न नहीं होती। उस पर आराधना, पूजा या निन्दा से कोई प्रभाव नहीं होता। अग्नि देवता को गाली देने वाले या पूजने वाले में भेद की कोई आवश्यकता नहीं। जो भी उसके नियमों में अनुरूप चलेगा लाभ उठावेगा और जो अग्नि को अनियमित रूप से छुवेगा निश्चय पूर्वक जल जायगा। आत्मा का, ईश्वर का, विष्णु का यही नियम है। पर भगवान की लीला विचित्र है वे भक्त वत्सल हैं। उन्हें जो जिस भाव से भजता है कुए की आवाज की तरह से उसे वैसे ही भजने लगते हैं। कीर्तन, कथा, जप, तप, पूजा, पाठ, ध्यान, भजन यह भगवान की प्रसन्नता के लिये ही है। श्रद्धा और विश्वास भगवत् प्राप्ति का मूल साधन है। यदि श्रद्धा या विश्वास न हो तो सारे अनुष्ठान निष्फल हैं।

भगवान् से, आत्मबल से, आस्तिक नास्तिक सभी अपने अपने ढंग से लाभ उठाते हैं। संसार के महापुरुषों की जीवनियां पढ़ने का उनके अद्भुत आश्चर्यजनक कार्यों का जो विवरण मिलता है उससे हम आश्चर्यान्वित रह जाते हैं और सोचते हैं कि किसी देवता की कृपा से ही वे इतने बड़े कार्यों को पूरा कर सके होंगे। वह देवता भगवान है—जिसे मनोबल

भी कहते हैं। प्रयत्न से, साधना से, विश्वास से, श्रद्धा भक्ति से मनोबल बढ़ता है, और फिर उसकी सहायता से बड़े बड़े कठिन कार्य पूरे होजाते हैं। मैस्मरेजम विद्या जानने वाले अपने अकिंचन मनोबल से बड़े २ खेल दिखाते हैं। यह बल अधिक होजाता है तो जिस दिशा में भी चाहे मनुष्य मोर्चे पर मोर्चा फतह करता हुआ आगे बढ़ता जाता है। अनायास, अप्रयत्याशित सुअवसर भी उसे प्राप्त होते हैं। धन को देखकर धन, वैभव को देखकर वैभव और सौभाग्य को देखकर सौभाग्य अपने आप अनायास टपक पड़ते हैं। इन अनायास लाभों में भी 'सबल की सहायता' का ईश्वरीय नियम काम किया करता है।

भगवान् कल्पवृक्ष हैं। उन्हें जो जिस भाव से भजता है, उसकी इच्छा पूर्ण करते हैं। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि मन तत्व के जिस पहलू को बलवान बना लेता है उसे उस दिशा में पर्याप्त सफलताऐं मिलती हैं।

इस प्रकार चतुर्मुखी ब्रह्म (ब्रह्मा) की क्रिया पद्धति इस सृष्टि में दृष्टिगोचर होरही है। उपनिषदों में इसे चार वर्ण वाला ब्रह्म भी कहा है। सत् प्रधान आत्मा को ब्राह्मण, शासनकर्ता स्वामी, ईश्वर को क्षत्रिय, लक्ष्मीपति विष्णु को वैश्य एवं भक्त के वश में पड़े हुए, भक्त को इच्छानुसार कार्य करने वाले भगवान को शूद्र कहा है। यह विचार भेद उसकी शक्तियों का रूप समझने समझाने के लिए आचार्यों ने उपस्थित किया है। वस्तुतः ब्रह्म एक ही है उसकी चार शक्तियों के आधार पर चार वेद बने हैं। परन्तु वस्तुतः उसकी अनन्त शक्तियां हैं और वह मनुष्य की बुद्धि की पहुंच से बहुत अधिक आगे हैं।

ईश्वरवाद को व्याख्या और वास्तविकता—

यद्यपि ईश्वर संसार का मूल आधार है और सृष्टि के आदि से सभी मनुष्य किसी न किसी रूप में उसे मानते आये है. तो भी विद्वानों में इस सम्बन्ध में काफी मत-भेद है। खास कर दार्शनिक विद्वान तो केवल उसी बात को स्वीकार कर सकते हैं जो तर्क संगत हो। इस दृष्टि से ईश्वरवाद के सिद्धान्त की विस्तार पूर्वक व्याख्या की जानी आवश्यक है।

वैदिक ईश्वरवाद का विश्लेषण करने पर हम उसके अन्तर्गत निम्न तत्वों का समावेश पाते हैं। (१) 'ईश्वर हमारे गुप्त कार्यों और विचारों का भी जानता है, वह बहुत बल वाला है। (२) ईश्वर प्रसन्न होने पर भौतिक सुख सामिग्रियां और परलोक में स्वर्ग एवं मोक्ष देता है। (३) वह नाराज होने पर दैविक, दैहिक और भौतिक कष्ट देता है। (४) धर्माचरण और उपासना से वह प्रसन्न होता है, पापी और नास्तिक पर अप्रसन्न रहता है।' अनेकानेक मन्त्र, सूत्र, श्लोक इन्हीं चार धारणाओं के आस-पास चक्कर लगाते हैं अर्थात नाना प्रकार से इन्हीं चार बातों का प्रतिपादन उपदेश करते हैं। अब हमे विचार करना चाहिए कि कैसी बुद्धिमत्ता पूर्वक मानसिक शासन करने की यह व्यवस्था है। ईश्वर सर्व व्यापक होने से हमारे सब कामों को देखता है, यह शासन की अत्यन्त व्यापकता के लिये है। देखा गया है कि पुलिस थाने के पास तो चार लोग उपद्रव नहीं मचाते पर जहां पुलिस की पहुँच कम और देर में होती है, वहां चोरियां डकैतियां अधिक होती हैं। भरी हुई चलने वाली सड़कों पर तो लूट नहीं हो सकती, पर निर्जन स्थानों में लुटेरों की खूब घात लगती है। प्रकाश की अपेक्षा अन्धकार में अपराध अधिक होते हैं। इससे प्रतीत होता है कि

दुष्टता भरे काम की अधिकता एवं न्यूनता इस बात पर निर्भर है कि चोर को कोई देखता है या नहीं ? देखने वाला पहलवान है या नहीं ? बन्दर किसी छोटे बच्चे को कमजोर समझकर उसके हाथ से रोटी छीन ले जाता है, पर बड़े आदमी की ओर बढ़ने में उसकी हिम्मत नहीं पड़ती। क्योंकि बंदर जानता है कि बलवान आदमी सहज में रोटी न छीनने देगा और डंडे से हड्डी-पसली तोड़ कर रख देगा। ईश्वर अनन्त बल वाला है, सर्व व्यापक है और पाप से अप्रसन्न होता है इसका अर्थ दूसरे शब्दों में यह हो सकता है कि कोई हाथी जैसे बलवाला पुलिस का खुफिया सिपाही हाथ मे संगीन और हथकड़ी लिये अदृश्य रूप से हमारी निगरानी के लिये हर वक्त शिर के ऊपर रहता फिरता है। यह विश्वास जितना ही अधिक सच्चा, स्पष्ट और बलवान होता है उतना ही मनुष्य धर्म प्रिय बन जाता है, उपरोक्त विश्वास जितना ही संशयात्मक अस्पष्ट धुंधला और निर्बल होता है उतना ही स्वच्छन्दता एव दाम्भिकता बढ़ती जाती है। अपराधी मनोवृत्ति उसी मात्रा में बढ़ती जाती है। ईश्वरीय शासन नहीं है, संदेहात्मक है एवं निर्बल है ऐसी मान्यता बढ़ने से मानसिक अराजकता फैलती है। जब गदर होता है तब उपद्रवी लोग पूरी तरह स्वार्थ साधन करते है क्योंकि उनका विश्वास होता है कि राजसत्ता नष्ट या निर्बल हो गई है वह हमें दण्ड नहीं दे सकती। हम देखते हैं कि ईश्वर भक्त कहाने वाले लोग भी बड़े पाप करते हैं इसका मनोवैज्ञानिक हेतु यह है कि पाखण्ड की तरह लोगों को भुलावे में डालने के लिए सस्ती वाहवाही लूटने के निमित्त वे लम्बे चौड़े तिलक लगाते हैं, कंठी माला धारण करते हैं, रामधुन लगाते हैं, पर मानसिक भूमिका के अन्तर्गत ईश्वर की अत्यन्त ही धुंधली

सत्ता धारण किये रहते हैं। ऊपर की पंक्तियों में अदृश्य रूप से चौकीदारी करते हुए शिर पर उड़ने वाले पुलिसमैन के समतुल्य जिस कल्पना का उल्लेख किया गया है वह चित्र तो उनके मन में बहुत ही धुंधला होता है इसलिए मानसिक अराजकता के अंधेरे में उनकी पशुवृत्तियां मनमानी करती रहती हैं।

ईश्वरवाद का वह प्रथम सिद्धान्त ही आधारभूत है। ऐसी घड़ी किस काम की, जिसमें सुइयां न हों। वेपेंदों का लोटा भला किसी की प्यास बुझा सकता है। वेद के जितने मन्त्रों में ईश्वर सम्बन्धी वर्णन है उनका अधिक भाग ईश्वर के महानता सूचक गुणों का गान है। उन गुणों में भी सर्व व्यापकता और बल शालीनता का उल्लेख अधिक किया है। प्रयोजन यह है कि मनुष्यों के मस्तिष्क में यह चित्र बहुत ही साफ और सुदृढ़ बन जाय कि वह अनन्त बल वाला शंख, चक्र, गदा, जैसे कठोर दण्ड शस्त्रों से सुसज्जित ईश्वर, पाप से बहुत कुढ़ता है और हमारी चौकीदारी के लिए अदृश्य रूप से हर घड़ी साथ रहता है। जिसके मन में यह कल्पना चित्र जितना अधिक गहरा और श्रद्धा विश्वासमय है वह उतना ही बड़ा आस्तिक है। जिसके अन्तःकरण में यह विश्वास जितना निर्बल है वह उतने ही अंशों में नास्तिक है।

चार सिद्धान्तों में ऊपर कहा हुआ सर्व व्यापकता का सिद्धान्त प्रमुख है। शेष तीन उसकी पूर्ति के लिए हैं। 'प्रसन्न प्रलोभन का तत्व मोजूद है। जो पशु स्वभाव को ललचाने के लिए आवश्यक है। धर्म ग्रंथों का बहुत बड़ा अंश 'महात्म्य' के वर्णन में लिखा हुआ है। गंगा स्नान से पाप कट जाते हैं, सत्य नारायण की कथा सुनने से धन प्राप्त होता है, शंकर जी औघड़दानी हैं, वे खुश हो जांय तो मालामाल कर देते हैं,

हनुमान जो रोगों, भूत पिशाचों को मार भगाते हैं, तुलसी पूजन से लड़की को अच्छा दूल्हा एवं लड़का को गुड़िया सी बहू मिलती है। ब्रह्मकुण्ड में स्नान करने से सन्तान होती है। हर एक तीर्थ का, व्रत उपवास का, पुस्तक सुनने का, पढ़ने का, सत्संग का, निदान छोटे से बड़े तक सभी उत्तम कामोंके हिन्दू धर्म ग्रन्थों में बड़े बड़े महात्म्य लिखेमिलते हैं वह सब मनुष्य के पशु स्वभाव को ललचाने के लिये है। बैल को घास के तृण दिखाते ले जाइये वह आपके पीछे पीछे चला चलेगा। छोटी मानस चेतना वालों के लिये प्रलोभन आवश्यक समझ कर महात्म्यों का उल्लेख करना धर्माचार्यों के लिए अत्यन्त आवश्यक था, इसके बिना वह कार्य आगे न बढ़ता और गाड़ी रुक जाती। ईश्वर के सम्बन्ध में भी उन्हें इसी नीति का अवलम्बन करना पड़ा।

तार्किक लाग अक्सर यह कहते सुने जाते हैं कि—भजन का कुछ महात्म्य नहीं, भजन करने वाला को कोई ऐसी संपदा नहीं मिलती जो भजन न करने वालों को न मिलती हो। यदि मिलती है तो उसमें उनका कर्तव्य हेतु होता है भजन नहीं।" ऐसे महानुभावों से हमारा निवेदन है कि वे हर बात में तर्क न करें। "दूध पीने से चोटी बढ़ जायगी" ऐसे उपदेश माताऐं अपने बच्चों को अधिक दूध पिलाने के लिये करती हैं। "अमुक काम कर लावेगा तो तू राजा बेटा हो जायगा" ऐसे-ऐसे प्रलोभनों द्वारा माताऐं अपने बालकों को आज्ञानुवर्ती बनाती है यदि माताऐं इस मार्ग को छोड़ कर अधिक दूध पिलाने के लिए बच्चा को समझावें कि "दूध में अच्छे विटामिन कैल्शियम, फास्फोरेस, प्रोटीन आदि ऐसे तत्व हैं जो रक्त के श्वेत कीटाणुओं की वृद्धि करते है।" तो यह उपदेश सत्य होने पर

भी निरर्थक होगा। आज्ञानुवर्ती बनाने के लिये यदि वे राजा बेटा होने का प्रलोभन छोड़ दें और मनुस्मृति के श्लोक खोल कर धर्मोपदेश सुनावे एवं बच्चों को अल्पज्ञ होने के कारण माता की आज्ञा मानने से ही अधिक मानसिक विकास होता है, ऐसा उपदेश करें, तो वह निरर्थक होगा। तार्किक कह सकते हैं, कि माता झूंठ बोलती है चोटी बढ़ाने और राजा बेटा होने का प्रलोभन असत्य है। परन्तु इतना कहने से ही काम न चलेगा उन्हें वास्तविकता की पेचीदगी तक पहुंचना होगा। छोटे बच्चे का अविकसित मस्तिष्क लोभ के अतिरिक्त और किसी ढंग से प्रभावित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार धर्माचार्यों ने भी धर्म मार्ग में बाल-बुद्धि, स्वल्प ज्ञान रखने वालों के लिये नाना प्रलोभनों से युक्त महात्म्यों की रचना की। और कोई मार्ग भी तो उनके पास न था। इस प्रकार ईश्वर की कृपा से भौतिक सुख सम्पत्ति एवं स्वर्ग मोक्ष प्राप्त होने का प्रलोभन रक्खा गया है तो कुछ अनुचित नहीं। कर्म करने से ही सुख मिल सकता है। ऐसी मान्यता रखने वालों से हमारा कुछ विरोध नहीं है। शास्त्र में ईश्वर शब्द बहुअर्थ वाचक है, कहीं-कहीं इसका अर्थ कर्म भी होता है। कर्तव्यवादी इस स्थल पर ईश्वर शब्द का अर्थ कर्म करते हों तो कोई आपत्ति नहीं है।

इसके बाद भय का नम्बर आता है। अप्रसन्न होने पर ईश्वर नाना प्रकार के दंड देता है। यह प्रलोभन वाले उपरोक्त भाग का दूसरा पहलू है। किसी पदार्थ के दो पहलू होते हैं एक उजेला दूसरा अंधेरा। ब्रह्मचर्य रखने से बलवान बनोगे यह वीर्य रक्षा का उजेला पहलू है। वीर्य नाश करने से रोगों से ग्रसित हो जाओगे यह उसी एक सिद्धान्त का अंधेरा पहलू है।

विद्या पढ़ने से कितने सुख मिलेंगे जब यह बताया जाता है, तो यह भी कहा जाता है कि न पढ़ने से बहुत अभाव ग्रस्त एवं दुखी जीवन बिताना पड़ेगा। इसी प्रकार जहां ईश्वर की प्रसन्नता से सुख मिलना कहा गया है, वह उसका अंधेरा पहलू यह भी बताया गया है कि ईश्वर के नाराज होने से दुख और कष्ट मिलते हैं। लाभ को उजला पहलू कहा जाता है, भय इसका अंधेरा पहलू है। लोभ से भी आगे न चलने वाले पशु स्वभाव के लिए अन्तिम मार्ग भय ही बच रहता है। धर्म आज्ञाओं पर न चलोगे तो ईश्वर नाना प्रकार की आधिव्याधियों से व्यथित कर डालेगा। यह भावना अधर्म पर चलने से रोकती है। यदि गहरा विश्वास जम जाय तो निस्संदेह जीवन की सारी क्रियायें उसी के अनुकूल होने लगती हैं। पानी में डूबने से मृत्यु हो जाती है। यह विश्वास सदैव गहरे पानी में जाने से सावधान करता रहता है। प्रत्यक्ष रूप से डूब कर मरने का अनुभव अपने को चाहे जीवन भर न हुआ हो पर विश्वास अनुभव से भी अधिक प्रबल होता है। अनुभव को भूला जा सकता है पर विश्वास का विस्मरण नहीं होता। भूतों का विश्वास अधिकांश में कल्पित होता है। पर उस अन्ध विश्वास से ही अगणित व्यक्ति सुख दुख का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, कितने ही तो उसी में उलझ कर मर तक जाते हैं। निस्संदेह विश्वास बड़ी प्रबल शक्ति है। ईश्वर पाप का दंड देता है यदि इस बात का पूर्ण निश्चय होजाय तो संगीन के पहरे में हथकड़ी लगा हुआ कैदी जैसे भलमनसाहत के साथ चलता है वैसा ही आचरण ईश्वरवादी को करना पड़ेगा।

चौथा तत्व यह है कि धर्माचरण और उपासना से ईश्वर प्रसन्न होता है इसके विपरीत से अप्रसन्न।' धर्माचरण

की बात हम उपरोक्त पंक्तियों में विस्तार पूर्वक समझा चुके हैं कि तुच्छ स्वार्थ से, पशुवृत्ति से, सामाजिक जीवन की ओर बढ़ने के लिए धर्म का सारा विधान है और उस विधान की रक्षा के लिये ईश्वरीय शासन की स्थापना है। इसलिए यह बात तो समझ में आती है कि धर्माचरण से ईश्वर प्रसन्न होता है। पर उपासना से प्रसन्न और निन्दा से अप्रसन्न होने की बात सामने आने पर भारी संदेह उठ खड़ा होता है, क्योंकि इससे तो ईश्वर भी चापलूसी पसन्द पक्षपाती, नवाव प्रकृति का सिद्ध होता है। उसकी अलिप्तता समदर्शीपन, निस्पृहता पर स्पष्ट आक्षेप आता है और वह भी साधारण मनोविकारी मनुष्य की सीमा में आ जाता है। इस संदेह का समाधान करने के लिए केवल शुष्क वाद-विवाद से काम न चलेगा वरन् हमें गहराई में उतर कर उस निमित्त का पता लगाना होगा जिसके कारण ईश्वर को उपासना प्रिय स्वभाव वाला माना गया है। डाक्टर ने अपने अनुसंधानों के आधार पर यह प्रमाणित कर दिया है कि मूल वृत्तियों के विरुद्ध यदि कोई नवीन मार्ग निकालना हो तो उसके लिए बार-बार लगातार और कठोर प्रयत्न द्वारा नई आदत डालनी पड़ती है, इस पर भी वह आदत इतनी निर्बल होती है कि कुछ दिनों उसकी ओर से उदासीनता धारण करली जाय तो वह मिट जाती है। इसलिए ऐसी आदतों को सुरक्षित करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहना पड़ता है।' यह अनादि सत्य वैदिक ऋषियों को भी ज्ञात था। उन्होंने सोचा कि ईश्वरीय शासन की सर्वांगीण व्यवस्था बना देने पर भी यह पशुवृत्तियों के मुकाबले में हलकी रहेगी और जरा भी ढील देने पर कठिनाई बढ जायगी। इसलिए नित्य कई कई बार विशेष प्रेम एवं भक्ति के साथ मूर्ति पूजा के सहारे ध्यान में मग्न होकर नित्य

नैमित्तिक कर्मकाण्डों द्वारा ईश्वर की पूजा, उपासना करते रहने का आदेश किया। पतंग बनाई जाय, उसमें डोरी बांधी जाय, हवा में उड़ाई जाय फिर डोरी को हाथ में से छोड़ दिया जाय तो सारा प्रयत्न निरर्थक हो जाय। जब तक पतंग को हवा में उड़ाना है तब तक डोरी को हाथ में रखना चाहिए, उसकी गति विधि का संचालन करना चाहिए। फौजी सिपाहियों को नित्य परेड करनी पड़ती है ताकि वह उस शिक्षा को भूल न जावें वरन् अभ्यस्त बने रहें। धर्म की रक्षा के लिए ईश्वर का शासन बनाया गया, पर बिना नियमितता के वह शासन विधान कैसे चलेगा ? चूंकि ईश्वरवाद नया शिक्षण है, स्वार्थों को जीव जानता है, पर ईश्वर के बारे में उसको मनुष्य योनि में ही ज्ञान मिलता है। पुरानी आदत के मुकाबले में नयी, निश्चय ही कमजोर होती है। जंगली सुग्गा बेर जामुन खाया करता है, पर सोने के पिंजड़े में दाख, अंगूर खाने का नया सुख ग्रहण करने के लिए पकड़ा जाना पसंद नहीं करता। पिंजड़े में उत्तम रहन-सहन मिलने पर भी वह फिर से उड़ जाने का यत्न किया करता है, पिंजड़े की तीलियों से लड़ते हुए भागने का उसका यह यत्न नित्य ही देखा जा सकता है। यदि पिंजड़ा कमजोर हो तो संभव है कि नई सुव्यवस्था को ठुकराकर सुग्गा उड़ जाय, चाहे उसे जंगल में कष्ट ही क्यों न सहना पड़े। यही देवासुर संग्राम मनुष्य के मन में नित्य होता है। आगे बढ़ने और पीछे हटने की रस्साकसी ही खिंची रहती है। ढील पड़ते ही गुड़ गोबर हो सकती है। इसलिए ईश्वरवाद के आचार्यों ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि ईश्वर की नित्य उपासना करनी चाहिए इसके बिना ईश्वरीय शासन पर विश्वास करने का लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। यही लाभ प्राप्त करना ईश्वर की प्रसन्नता

एवं उसे न प्राप्त करना उसकी अप्रसन्नता के अर्थों में कहा गया है।

हम मानते हैं कि ईश्वर निस्पृह है उसे निन्दा स्तुति की आवश्यकता नहीं। परन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि नित्य की उपासना किये बिना ईश्वरीय शासन का विश्वास मन में दृढ़ बनाये रखना कठिन है। प्रसन्नता अप्रसन्नता को अलंकारिक शब्दों में यहां इसी प्रयोजन से प्रयोग किया गया है। प्रसन्न होना, सुख देना अप्रसन्न होना—दुख देना ईश्वर के इस कार्यक्रम पर हम मोटी दृष्टि से वाद विवाद करके किसी ठीक निश्चय पर नहीं पहुंच सकते। यदि हम आज इसका भावार्थ यों समझें कि ईश्वर उपासना में मनुष्य अपने पशु स्वभाव को दबाये रहकर सुख शान्तिमय जीवन बिताता रह सकता है, तो यह अर्थ ठीक शास्त्रकार की आन्तरिक इच्छा के ही अनुकूल होगा। महात्म्यों का वर्णन करते समय प्रलोभनों का समावेश जिस दृष्टि से हुआ है उसी दृष्टि से, उपासना से ईश्वर के प्रसन्न होने और सुख देने का वर्णन है। मूल तात्पर्य इतना ही है कि ईश्वरीय विश्वासों को दृढ़ रखने का निरन्तर अभ्यास रखना आवश्यक है जिससे धर्माचरण के लिए हमारे पूज्य पूर्वजों ने जो गूढ़ मानसिक रहस्यों के आधार पर ईश्वरवाद की महत्व पूर्ण व्यवस्था बनाई है वह सुदृढ़ और सुव्यवस्थित बनी रहे।

ईश्वर की अनुभूति कैसे हो ?

जो वस्तु जितनी सूक्ष्म होगी वह उतनी ही व्यापक होगी पच भूतों में पृथ्वी से जल, जल से वायु, वायु से अग्नि, और अग्नि से आकाश सूक्ष्म है, इसलिए एक दूसरे से अधिक व्यापक है। आकाश—ईथर तत्व हर जगह व्याप्त है। पर ईश्वर की सूक्ष्मता सर्वोपरि है इसलिये इसकी व्यापकता भी अधिक है।

विश्व में रंच मात्र भी स्थान ऐसा नहीं है जहां ईश्वर न हो। अणु अणु में उसकी सत्ता व्याप्त हो रही है। स्थान विशेष में ईश्वर तत्व की न्यूनाधिकता हो सकती है। जैसे कि चूल्हे के स्थान पास गर्मी अधिक होती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि उस स्थान पर अग्नि तत्व की विशेषता है, इसी प्रकार जलाशयों के समीप शीतल स्थान में अग्नि तत्व की न्यूनता कही जायगी। जहां सत्य का, विवेक का, आचरण अधिक है वहां ईश्वर की विशेष कलाएं विद्यमान हैं। जहां आलस्य, प्रमाद, पशुता अज्ञान है वहां उसकी न्यूनता कही जायगी। सम्पूर्ण शरीर में जीव व्याप्त है, जीव के कारण ही शरीर की स्थिति और वृद्धि होती है परन्तु उसमें भी स्थान विशेष पर जीव की न्यूनाधिकता देखी जाती है हृदय मस्तिष्क पेट और मर्म स्थानों पर तीव्र आघात लगने से मृत्यु हो जाती है परन्तु हाथ, पांव, कान, नाक, नितंब आदि स्थानों पर उससे भी अधिक आघात सहन हो जाता है। बाल और पके हुए नाखून जीव की सत्ता से ही बढ़ते हैं पर उन्हें काट देने से जीव की कुछ हानि नहीं होती। संसार में सर्वत्र ईश्वर व्याप्त है ईश्वर की शक्ति से ही सब कार्य होते हैं परन्तु सत्य और धर्म के कामों में ईश्वरत्व की अधिकता है इसी प्रकार पाप प्रवृत्तियों में ईश्वरी तत्व की न्यूनता समझना चाहिए। धर्मात्मा, मनस्वी, उपकारी, विवेकवान् और तेजस्वी महापुरुषों को 'अवतार' कहा जाता है क्योंकि उनकी सत्य निष्ठा के आकर्षण से ईश्वर की मात्रा उनके अन्तर्गत अधिक होती है। अन्य पशुओं की अपेक्षा गौ में तथा अन्य जातियों की अपेक्षा ब्राह्मण में ईश्वर अंश अधिक माना गया है क्योंकि उनका सत्य निष्ठा उपकारी स्वभाव ईश्वर शक्ति को बल पूर्वक अपने अन्दर अधिक मात्रा में खींच कर धारण कर लेता है।

उपरोक्त पंक्तियों में वताया जा चुका है कि सम्पूर्ण जड़ चेतन सृष्टि का निर्माण नियंत्रण संचालन और व्यवस्था करने वाली आद्य बीज शक्ति को ईश्वर कहते हैं। यह सम्पूर्ण विश्व के तिल तिल स्थान में व्याप्त है और सत्य की विवेक की कर्तव्य की जहां अधिकता है वहां ईश्वरीय अंश अधिक है। जिन स्थानों में अधर्म का जितने अंशों में समावेश है वहां उतने ही अंश में ईश्वरीय दिव्य सत्ता की न्यूनता है।

सृष्टि के निर्माण में ईश्वर का क्या उद्देश्य है? इसका ठीक २ कारण जान लेना मानव बुद्धि के लिए अभी तक शक्य नहीं हुआ। शास्त्रकारों ने अनेक अटकलें इस सम्बन्ध में लगाई हैं। पर उनमें से एक भी ऐसी नहीं है जिससे पूरा संतोष हो सके सृष्टि रचना में ईश्वर का उद्देश्य अभी तक अज्ञेय बना हुआ है। भारतीय आध्यात्म वेत्ता इसे ईश्वर की 'लीला' कहते हैं। अतः ईश्वरवाद का सिद्धान्त सर्वथा स्वाभाविक और मनुष्य के हित के अनुकूल है। आज तक मानव समाज ने जो कुछ उन्नति की है उसका सब से बड़ा आधार ईश्वरीय विश्वास ही रहा है। बिना परमात्मा का आश्रय लिये मनुष्य की स्थिति बड़ी निराधार हो जाती है, जिससे वह अपना कोई भी लक्ष्य स्थिर नहीं कर सकता और बिना लक्ष्य के संसार में कोई महान कार्य संभव नहीं हो सकता। इसलिये परमात्मा के विराट स्वरूप के रहस्य को समझ कर ही हमको संसार में अपनी जीवन यात्रा संचालित करनी चाहिये।

मुद्रक—श्री दाऊदयाल गुप्त, सस्ता साहित्य प्रेस, मथुरा।

जीवन को सुख-शान्तिमय बनाने वाला साहित्य

(मूल्य प्रत्येक पुस्तक का छः-छः आना है)

१-सूर्यचिकित्सा विज्ञान २-प्राणचिकित्सा विज्ञान ३-स्वस्थ बनने की विद्या ४-भोग में योग ५-बुद्धि बढ़ाने के उपाय ६-आसन और प्राणायाम ७-तुलसी के अमृतोपम गुण ८-महान जागरण ९-तुम महान हो १०-घरेलू चिकित्सा ११-दीर्घ जीवनके रहस्य १२-नेत्रों की प्राकृतिक चिकित्सा १३-स्वप्न दोष की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा १४-दूधकी आश्चर्यजनक शक्ति १५-उन्नति का मूलमन्त्र ब्रह्मचर्य १६-उपवासके चमत्कार १७-स्त्री रोग चिकित्सा १८-बालरोग चिकित्सा २०-कब्ज की चिकित्सा २१-निरोग जीवन का राजमार्ग २२-चिरस्थाई यौवन २३-सौन्दर्य बढ़ाने के ठोस उपाय २४-मनुष्य शरीर की बिजली के चमत्कार २५-पुत्र-पुत्री उत्पन्न करने की विधि २५-हमारी पारिवारिक समस्याएँ २६-मन चाही सन्तान २७-दाम्पत्ति जीवन का सुख २८-हमारी आन्तरिक शत्रु २९-क्याखायें ? क्योंखायें ? कैसेखायें ? ३०-हमारे सभ्यताके कलङ्क ३१-धनवान बनने के गुप्त रहस्य ३२-मरने के बाद हमारा क्या होता है ? ३३-मित्रभाव बढ़ानेकी कला ३४-आकृति देखकर मनुष्य की पहिचान ३५-हमें स्वप्न क्यों दीखते हैं ? ३६-विचार करने की कला ३७-हम वक्ता कैसे बन सकते हैं ? ३८-सफलताके तीन साधन ३९-जिंदगी कैसे जिएँ ४०-प्रसिद्धि और समृद्धि ४१-ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ? ४२-क्या धर्म ? क्या अधर्म ? ४३-ईश्वर और स्वर्ग प्राप्ति का सच्चा मार्ग ४४-भारतीय संस्कृति का बीज मंत्र यज्ञोपवीत ४५-यज्ञोपवीत द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति ४६-मैं क्या हूँ ? ४७-वशीकरण की सच्ची सिद्धि ४८-ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग ।

'अखण्ड-ज्योति' प्रेस, मथुरा ।

ब्रह्मज्ञान का प्रकाश
-श्रीराम शर्मा आचार्य
सम्पादक:- "अखण्ड ज्योति" मथुरा

लेखक—
श्रीराम शर्मा आचार्य
गायत्री तपोभूमि, मथुरा ।

ॐ भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि
धियो योनः प्रचोदयात् ।

प्रकाशक—
"अखण्ड ज्योति" प्रेस, मथुरा ।

प्रथम बार] सन् १९५८ [मूल्य ।)

ब्रह्मज्ञान का प्रकाश

गायत्री का दूसरा अक्षर 'तत्' ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति और उसके प्रचार की शिक्षा देता है—

तत्वज्ञान्तु विद्वान्सो ब्राह्मणः स्व तपश्चर्यैः।
अन्धकारमया कुर्युर्लोकादज्ञान संभवम् ॥

अर्थात्—"तत्वदर्शी, विद्वान ब्राह्मण अपने तप द्वारा संसार के अज्ञानजन्य अन्धकार को दूर करे।"

अन्धकार में अनेक प्रकार के भय, त्रास एवं विघ्न छिपे रहते हैं। दुष्ट तत्वों की घात अन्धकार मे ही लगती है। अविद्या को अन्धकार कहा गया है। अविद्या का अर्थ "अक्षर-ज्ञान की जानकारी का अभाव" नहीं है, वरन् 'जीवन की लक्ष-भ्रष्टता" है। इसी को नास्तिकता, अनीति, माया, भ्रान्ति, पशुता आदि नामों से पुकारते हैं। इस बौद्धिक अन्धकार में, आध्यात्मिक निशा में विचरण करने वाला जीव भ्रम-पतित होकर ईश्वर द्वारा निर्धारित धर्म, नीति, लक्ष्य, आचरण और कर्तव्य से विमुख होकर ऐसी गति विधि अपनाता है जो उसके लिये नाना प्रकार के दुख उत्पन्न करती है।

उपर्युक्त श्लोक में 'ज्ञानी ब्राह्मण' को यह आदेश दिया गया है कि वह तपश्चर्या द्वारा संसार के समस्त दुःखों के मूल कारण अज्ञानान्धकार को दूर करे। यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द किसी वर्ग विशेष के लिये प्रयुक्त नहीं हुआ है। आत्मा का सर्व प्रधान गुण ब्रह्म-निष्ठा और आध्यात्मिकता है। यह गुण जिसमें जितना न्यूनाधिक है वह उतने ही न्यूनाधिक अंश में ब्राह्मण

है । जिसकी आत्मा में जितना ब्राह्मणत्व है वह उतना ही तपस्वी, दूरदर्शी और तत्वज्ञानी होता है । इसी ब्राह्मणत्व को गायत्री ने सब से पहली दो चुनौती है, ललकारा है कि अपने व दूसरों के कल्याण के लिये ब्रह्म-ज्ञान का प्रकाश फैलाकर व्यापक अन्धकार को हटाना तेरा परम पवित्र कर्तव्य है ।

दीपक जब स्वय जलता है तो उसका प्रकाश चारों ओर फैलता है और उससे बहुत दूर तक का अन्धकार नष्ट होता है । तप, दूर्दर्शिता और तत्वज्ञान का दृष्टिकोण अपनाने से जो अन्तर्ज्योति उत्पन्न होती है उसीसे जनता के अन्तःकरणों में सत्य का प्रकाश प्रज्ज्वलित होता है । लोक-कल्याण और आत्मोद्धार का इससे अच्छा मार्ग और कोई हो नहीं सकता । ब्रह्मज्ञान ही संसार का सबसे बड़ा दान है ।

ब्रह्मज्ञान और आस्तिकता

ब्रह्मज्ञान का पहला लक्षण सच्ची आस्तिकता है । परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, इस सत्य को जानते तो अनेक लोग हैं पर उसे मानते नहीं । व्यवहार में नहीं लाते । जो परमात्मा को सर्वव्यापी, घट-घट वासी मानेगा, उसका जीवन उसी क्षण पूर्ण पवित्र, निष्पाप और कषाय कल्मषों स रहित हो जायगा । गीता में भगवान ने कहा है कि जो मेरी शरण में आता है, जो मुझे अनन्य भाव से भजता है वह तुरन्त ही पापों से छूट जाता है । निस्संदेह बात ऐसी ही है । भगवान की शरण में जाने वाला, उस पर सच्चा विश्वास करने वाला, उस पर पूर्ण आस्था रखने वाला, एक प्रकार से जीवनमुक्त ही हो जाता है ।

ईश्वर का विश्वास और सच्चा जीवन एक ही वस्तु के दो नाम है । जो भगवान् का भक्त है, जिसने सब छोड़ कर प्रभु के

चरणों में आत्म समर्पण कर दिया है, जो परमात्मा की उपासना करता है उसे जगत्पिता की सर्व व्यापकता पर आस्था जरूर होनी चाहिये। यदि यह विश्वास दृढ़ हो जाय कि भगवान जर्रे-जर्रे में समाया हुआ है, हर जगह मौजूद है तो पाप कर्म करने का साहस ही नहीं हो सकता। ऐसा कौन-सा चोर है जो सावधान खड़ी हुई शस्त्र पुलिस के सामने चोरी करने का साहस करे, चोरी, व्यभिचार, ठगी, धूर्तता, दंभ, असत्य, हिंसा आदि के लिये आड़ की, पर्दे की, दुराव की जरूरत पड़ती है। जहाँ मौका होता है, इन बुरे कामों को पकड़ने वाला नहीं होता, वहीं इनका किया जाना संभव है। जहाँ धूर्तता को भली प्रकार समझने वालों, देखने वालों और पकड़ने वाले लोगों की मजबूत ताकत सामने खड़ी होती है वहाँ पाप कर्मों का हो सकना सम्भव नहीं। इसी प्रकार जो इस बात पर सच्चे मन से विश्वास करता है कि परमात्मा सब जगह मौजूद है वह किसी भी दुष्कर्म के करने का साहस नहीं कर सकता।

बुरा काम करने वाला पहले यह भली प्रकार देखता है कि मुझे देखने वाला या पकड़ने वाला तो कोई यहाँ नहीं है। जब वह भली भांति विश्वास कर लेता है कि उसका पाप कर्म किसी की दृष्टि या पकड़ में नहीं आ रहा है तभी वह अपने काम में हाथ डालता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने को परमात्मा की दृष्टि या पकड़ से बाहर मानते हैं, वे ही दुष्कर्म करने को उद्यत हो सकते हैं। पाप कर्म करने का स्पष्ट अर्थ यह है कि वह व्यक्ति ईश्वर का मानने का दंभ भले ही करता हो पर वास्तव में वह परमात्मा के अस्तित्व से इनकार करता है। उसके मन को इस बात पर भरोसा नहीं है कि परमात्मा यहाँ मौजूद है। यदि विश्वास होता तो इतने बड़े हाकिम के सामने किस प्रकार उसके कानूनों को तोड़ने का साहस करता है। जो व्यक्ति एक पुलिस

के चपरासी को देखकर भय से थर-थर कांपा करते हैं वे लोग इतने दुस्साहसी नहीं हो सकते कि परमात्मा जैसे सृष्टि के सर्वोच्च अफसर की आंखों के आगे, न करने योग्य काम करे, उसके कानून को तोड़ें, उसको क्रुद्ध बनावें, उसका अपमान करे। ऐसा दुःसाहस तो सिर्फ वही कर सकता है जो यह समझता हो कि 'परमात्मा' कहने-सुनने भर की चीज है। वह पोथी पत्रों में, मन्दिर-मठों में, नदी-तलावों में या कहीं स्वर्ग-नरक में भले ही रहता होगा, पर हर जगह वह नहीं है। उसकी दृष्टि और पकड़ से मैं वाहर हूं।

जो लोग परमात्मा की सर्व व्यापकता पर विश्वास नहीं करते, वे ही नास्तिक हैं। जो प्रकट या अप्रकट रूप से दुष्कर्म करने का साहस कर सकते हैं वे ही नास्तिक हैं। इन नास्तिकों में कुछ तो भजन-पूजा बिलकुल नहीं करते, कुछ करते हैं। जो नहीं करते वे सोचते हैं व्यर्थ का झंझट मोल लेकर उसमें समय गँवाने से क्या फायदा? जो पूजन-भजन करते हैं वे भीतर से तो न करने वालों के समान ही होते हैं, पर व्यापार बुद्धि से रोजगार के रूप में ईश्वर की खाल ओढ़ लेते हैं। कितने ही लोग ईश्वर के नाम के बहाने ही अपनी जीविका चलाते हैं। हमारे देश में करीब ५६ लाख आदमी ऐसे हैं जिनकी कमाई पेशा, रोजगार ईश्वर के नाम पर है। यदि वे यह प्रकट करें कि हम ईश्वर को नही मानते तो उसी दिन उनकी ऐश आराम देने वाली, विना परिश्रम की कमाई हाथ से चली जायगी। इसलिए उन्हें ईश्वर को उसी प्रकार ओढ़े रहना पड़ता, जैसे जाड़े से वचने के लिए, गर्मी देने वाले कम्बल को ओढ़े रहते हैं, जैसे ही यह जरूरत पूरी हुई वैसे ही कम्बल को एक कोने में पटक देते हैं। यह तिजारती लोग जनता के समक्ष अपनी ईश्वर भक्ति का बड़ा भारी घटाटोप बाँधते

हैं क्योंकि जितना बड़ा घटाटोप बांध सकेंगे उतनी ही अधिक कमाई होगी। तिजारती उद्देश्य पूरा होते ही वे अपने असली रूप में आ जाते हैं। पापों से खुलकर खेलते हुए एकान्त में उन्हें जरा भी झिझक नहीं होती।

एक तीसरी किस्म के नास्तिक और हैं। वे प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर के नाम पर रोजी नहीं चलाते, बल्कि उलटा उसके नाम पर कुछ खर्च करते हैं। ईश्वर का आडम्बर उनके द्वारा आये दिन रचा जाता रहता है। शरीर पर ईश्वर भक्ति के चिन्ह धारण किये रहते हैं, घर में ईश्वर के प्रतीक मौजूद होते हैं, ईश्वर के निमित्त कहे जाने वाले कर्मकाण्डों का आयोजन होता रहता है। ईश्वर भक्त कहलाने वालों का स्वागत सत्कार, भेंट पूजा होती रहती है। यह सब इसलिए होता है कि लोग उनके संबंध में अच्छे ख्याल रखें, उनका आदर करें, उन्हें धर्मात्मा समझें, उनके जीवन भर के कुकर्मों की कलई न खोलें और आज भी जो उनके दुष्कर्म चल रहे हैं, वे छिपे रहें।

चौथे प्रकार के नास्तिक वे हैं जो पाप छिपाने या धन कमाने के लिए नहीं किन्तु अपने को पुजवाने के लिए, यश और श्रद्धा प्राप्त करने के लिए ईश्वर भक्त बनते हैं, इसके लिए कुछ त्याग और कष्ट भी उठाते हैं पर भीतर से उन्हें प्रभु की सर्व व्यापकता पर आस्था नहीं होती। कुछ लोग रिश्वत के रूप में ईश्वर भक्ति को साधते हैं, अमुक भोग ऐश्वर्य की लालसा उन्हें उसी मार्ग पर ले जाती है, जिस प्रकार आज कल घूंसखोर हाकिमों को एक मोटी रकम भुका कर लोग मनमाना काम करवा लेते हैं और थैली खर्च करके थैला भरने में सफल हो जाते हैं। कुछ लोग तथाकथित ऋद्धि-सिद्धियों और न जाने किन-किन अप्रत्यक्ष वैभवों के मनसूबे बांध कर उसे प्राप्त करने की फिकर में ईश्वर के दरवाजे खटखटाते रहते हैं।

इस प्रकार प्रत्यक्षतः ईश्वर भक्त दिखाई देने वालों में भी असंख्यों मनुष्य ऐसे हैं जिनकी भीतरी मनोभूमि परमात्मा से कोसों दूर है। उनका निजी जीवन, घरेलू आचरण, व्यक्तिगत व्यवहार ऐसा नहीं होता, जिससे यह प्रतीत हो कि यह ईश्वर को हाजिर-नाजिर समझ कर अपने को बुराइयों से बच ते हैं। ऐसे लोगों को किस प्रकार आस्तिक कहा जाय ? जो पापों में जितना ही अधिक लिप्त है, जिसका व्यक्तिगत जीवन जितना ही दूषित है, वह उतना ही बड़ा नास्तिक है। लोगों को धोखा देकर अपना स्वार्थ साधना, छल, प्रपंच, माया, दंभ, भय, अत्याचार, कपट और धूर्तता से दूसरों के अधिकारों को अपहरण कर स्वय सम्पन्न बनना नास्तिकता का स्पष्ट प्रमाण है। जो पाप करने का दुस्सा-हस करता है वह आस्तिक नहीं हो सकता, भले ही वह आ स्ति-कता का कितना ही बड़ा प्रदर्शन क्यों न करता हो।

ईश्वर भक्ति का जितना ही अंश जिसमें होगा वह उतने ही दृढ़ विश्वास के साथ ईश्वर की सर्वव्यापकता पर विश्वास करेगा, सबमें प्रभु को समाया हुआ देखेगा। आस्तिकता का दृष्टिकोण बनते ही मनुष्य भीतर और बाहर से निष्पाप होने लगता है। अपने प्रियतम को घट-घट में बैठा देख कर वह सब से नम्रता का, मधुरता का, स्नेह का, आदर का, सेवा का, सरलता, शुद्धता और निष्कपटता से भरा हुआ व्यवहार करता है। भक्त अपने भगवान् के लिए व्रत, उपवास, तप, तीर्थ यात्रा आदि द्वारा स्वयं कष्ट उठाता है और अपने प्राणवल्लभ के लिए नैवेद्य, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, भोग प्रसाद आदि कुछ न कुछ अर्पित किया ही करता है। "स्वयं कष्ट सहकर भगवान को कुछ समर्पण करना" पूजा की सम्पूर्ण विधि व्यवस्थाओं का यही तथ्य है। भगवान को घट-घट वासी मानने वाले भक्त अपनी पूजा विधि को इसी आधार पर अपने व्यवहारिक जीवन में

तारते हैं। वे अपने स्वार्थों की उतनी परवा नहीं करते, यदि कुछ कष्ट भी उठाना पड़े तो उठाते हैं पर जनता जनार्दन को, नरनारायण को अधिक सुखी बनाने में वे दत्तचित्त रहते हैं, लोक सेवा का, व्रत लेकर वे घटघट वासी परमात्मा की व्यावहारिक रूप से पूजा करते हैं। ऐसे भक्तों का जीवन-व्यवहार बड़ा निर्मल, पवित्र, मधुर और उदार होता है। आस्तिकता का यही तो प्रत्यक्ष लक्षण है।

पूजा के समस्त कर्मकाण्ड इसलिए हैं कि मनुष्य परमात्मा को स्मरण रखे, उसके अस्तित्व को अपने चारों ओर देखे और मनुष्योचित कर्म करे। पूजा, अर्चना, वन्दना, कथा, कीर्तन, व्रत, उपवास, तीर्थ आदि सबका प्रयोजन मनुष्य की इस चेतना को जाग्रत करना है कि परमात्मा की निकटता का स्मरण रहे, और ईश्वर के प्रेम एवं श्रद्धा द्वारा लोक सेवा का व्रत रखे और ईश्वर के क्रोध से डर कर पापों से बचे। जिस पूजा उपासना से यह उद्देश्य सिद्ध न होता हो, वह व्यर्थ है। जिस उपाय से भी "पाप से बचने और पुण्य में प्रवृत्त होने" का भाव जाग उठे वह उपाय ईश्वर भक्ति की साधना ही है।

ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति का मार्ग

संसार के अधिकांश दुःखों का कारण सांसारिक विषयों की कामनाएं और भोग लिप्सा ही होती है। इससे पीड़ित व्यक्ति के लिए वास्तव में यह संसार दुःख-कानन है। दुःख से घिरे हुए व्यक्ति के अन्दर केवल एक ही विचार कार्य करता है कि वह निरीह और घृणास्पद है। अन्य व्यक्ति न उसके प्रति आकृष्ट होते हैं और न हार्दिक सम्वेदना ही प्रकट करते हैं। और तो और, उसका स्वयं अपने ही ऊपरसे विश्वास हट जाता है। बात यही है कि दूसरों से न उसे सहायता मिलती है और न सान्त्वना

ही, पर उसके मन से यह बात अलग नहीं होती कि शायद किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उसे दुःख से छुट्टी मिल जाय।

दुःख के अवसर पर मन से किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती, क्योंकि उसकी अनर्गल इच्छाऐं ही दुःख उत्पन्न करती हैं। इच्छाओं से उत्पन्न सुख का तो वह आलिंगन करता है पर दुःख के उपस्थित होने पर उसको कुछ सुने बिना ही वह उसे भगा देना चाहता है। परिस्थितियों के अनुकूल होने पर यदा-कदा उसे अपनी चाल में सफलता मिल जाती है और बुद्धि निस्सहाय होकर सुषुप्ति-अवस्था में चली जाती है और दुःख के विषय पर गम्भीर विचार करने में असमर्थ हो जाती है। मन के चक्र में फँसा हुआ प्राणी इस प्रकार अधिक काल तक दुःख भोगता रहता है। एक के बाद दूसरा—इस प्रकार कितने ही जीवन ऐसे ही नष्ट हो जाते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो दुःख की घड़ी उपस्थित होने पर उस पर विचार करते हैं और सत्सङ्ग का आश्रय लेते हैं। लेकिन अधूरे विचार और बाहरी सत्सङ्ग से उन्हे लाभ नहीं होता, क्योंकि उसमें भी दुःख से भोगने के अतिरिक्त उनका कोई दूसरा अभिप्राय नहीं होता। दुःख पर विचार करते समय या सत्सङ्ग के अवसर पर उनका पूरा मन वहाँ नहीं रहता। उनका मन सदा इधर-उधर भटकता रहता है और दूसरों की बातों में दुःख से छुटकारा पाने के लिये समाधान ढूँढ़ता है, जो उसे कभी नहीं मिलता है। कारण वह अपने इन्द्रिय-सुखों को छोड़ना नहीं चाहता। दुःख के अवसर जीवन में बार-बार आते हैं और जब-जब आते हैं तब-तब मनुष्य को गहरी चोट पहुँचाते हैं। मनुष्य उससे तिलमिला उठता है, रोता और चिल्लाता है, पश्चाताप करता है और उसके मन मे भोगों से मुँह मोड़ने की भी इच्छा होती है, लेकिन पुरानी आदत अवसर आने र उसे भोग

भोगने के प्रति पुनः प्रवृत्त कर देती है और उसका पूर्व का प्रत्यय मन्द पड़ जाता है । वास्तव में उसका यह दुःख भी प्रतारणा ही है । किसी कार्य के प्रति सच्चे दुख से सजगता उत्पन्न होती है । यदि ऐसा न हो, तो समझो कि दुःख का उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है । दुख से यदि मनुष्य नहीं सँभला तो संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो उसे सत्-पथ पर ले जा सके ।

जिस मनुष्य ने जिन्दगी की बातों को अर्थात् उसके सुख-दुःख को भली भांति समझ लिया है और जिसके मनमें दुःखों से छुटकारा पाने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हो गयी है, उसे जीवन-पर्यन्त सत्संग करते रहने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती । सत्संग से बहुत कम लाभ उठाने वाले वे ही व्यक्ति होते हैं जो सदा सत्संग करते रहते हैं, लेकिन अपने को समझने की कभी कोशिश नहीं करते । अन्य सोसाइटियों की भांति सत्संग भी उनके लिए वार्तालाप करने का एक स्थान हो जाता है । वहीं दो घड़ी बैठ कर वहाँ भी वे अपना मन बहला लिया करते हैं । ऐसे लोगों के अज्ञान का जल्दी अन्त नहीं होता । जीवन की किसी बात को सम्मुख रखकर, जिसको कि समझने की उसे अतिशय आवश्यकता है, यदि वह किसी सन्त के पास जाता है तो संभव है कि उसे अल्पकाल के सत्संग से ही बहुत बड़ा लाभ हो जाय । लेकिन जो केवल बात सुनने और समय बिताने की गरज से सत्संग करता है उसे बहुत कम और देरी से लाभ होता है । सत्संग का अभिप्राय है— मार्ग में किसी के आ जाने पर उसका समाधान कर लेना । हर बात को समझते और साधते हुए आवश्यकता उपस्थित होने पर सत्संग से लाभ उठाते हुए जीवन को ले चलने पर मार्ग सुगम हो जाता है ।

मनुष्य का जीवन एक वाटिका है। वाटिका को अच्छी

दशा में रखने के लिये उस पर सब ओर से निगाह रखनी आवश्यक है। उद्यान के सौन्दर्य को नष्ट कर देने वाली कोई चीज यदि बीच मे उग आती है तो चतुर माली उसे तुरन्त उखाड़ फेंकता है। बाग देखने में यदि अच्छा न हुआ तो माली का सारा परिश्रम व्यर्थ समझा जाता है। माली जमीन को खूब कमाता है और उसे मुलायम बना देता है। जमीन के सब प्रकार से अच्छी हो जाने पर वह भांति-भांति के पुष्प और फल के वृक्षों को यथास्थान उसमे बैठाता है। प्रवीण माली द्वारा इस प्रकार सजाया हुआ बाग देखने मे सुन्दर मालूम होता है। बाग के मालिक की भी वहाँ बैठने की इच्छा होती है और आगन्तुकों की भी। यह जीवन भी एक उद्यान के समान है। इसे सब प्रकार सँभाल कर रखना चाहिये, ताकि इसकी स्वाभाविक प्रगति मे किसी प्रकार का विघ्न न उपस्थित हो। बहुत प्रकार की इच्छाओं से घिर जाने पर मनुष्य का जीवन बिना सँभाली हुई वाटिका के समान हो जाता है। इच्छाओं की पूर्ति करने मे वह परिश्रम करता है और उसमें संलग्न रहता है। सफलता होती है पर प्रायः वह विफल ही रहता है। बहुत समय तक इस सुख-प्राप्ति की धुन में लगे रहने के कारण उसे अनेकों प्रकार के अनुभवों से होकर गुजरना पड़ता है। सुख के बीच उसकी प्रतिक्रिया से उसे प्रत्यह आघात पहुँचता रहता है। फिर भी वह उसी को सही जीवन समझता है। दुःख के बहुत बढ़ जाने पर जीवन कभी-कभी उसे भार मालूम होता है। इस घबराहट के बीच उसके मन में एक ही धुन रहती है कि विपरीत स्थिति और दुःख से कैसे छुटकारा मिले। इसके लिये वह न करने योग्य भी कार्य कर डालता है। दुःख के बहुत बढ़ जाने पर मन और बुद्धि पर उसका काबू नहीं रह जाता। मनकी अतिशय खिन्न दशामें तो प्राणी शरीरान्तक चाहने लगता है। अशान्त चित्त की यह बहुत ही मलिन दशा है। इसलिये

दुःख की साधारण दशा मे होश के रहते हुए जब चित्त में सजगता उत्पन्न हो तो इस अवसर को हाथ से न जाने देना चाहिये। दुःख के समय उत्पन्न हुई सजगता को चिरस्थायी बनाये रखने के लिये उचित प्रतिविधान करना चाहिये।

चूंकि हमें अपने सुख का आवश्यकता से अधिक ध्यान रहता है, इसलिये जीवन में यह सारी गड़बड़ी और मुसीबतें हैं। इन्द्रिय-सुख के सम्बन्ध में प्रत्येक का यही अनुभव है कि वह ऐसा सुख नहीं है, जो मनुष्य को निश्चिन्त करदे। प्रत्युत वह दिनों दिन कष्ट उत्पन्न कर बन्धन को बढ़ाता ही रहता है। इस सुख मे तृप्ति नहीं है। किसी भोग को कुछ समय तक स्थायी रखने से मनुष्य को उसकी आदत पड़ जाती है। फिर तो अनायास ही अचेतन मन उस काम को कर बैठता है। इन्द्रिय सुखों में यदि कोई विघ्न और निर्बन्ध न होता तो कदाचित इसको भी स्वाभाविक कहा जा सकता और फिर उससे छुटकारा पाने की कोई बात न सोची जाती। संसार मे दिखलाई यही देता है कि विघ्नबाधाओंमे विमुक्त होकर कोई भी व्यक्ति इन्द्रिय सुखोंको नहीं भोग सकता है। किसी भी सुख के भोग मे सबमे बड़ा विघ्न तो अपना शरीर ही है। इसके अतिरिक्त परिस्थिति की विभिन्नता अनुसार अनेकों प्रकार की दिक्कतें हैं जो मनुष्य के सामने रोज आया करती हैं और मनुष्य उनका नित्य प्रति अनुभव करता है। देखने और विचार करने पर यह भी मालूम पड़ता है कि सुख ऐसा कोई कार्य नहीं है जिसके लिये हमें बाह्य किसी भी वस्तु पर निर्भर करना पड़ता हो या हम पर उसकी प्रतिक्रिया न होती हो। ऐसी दशा मे कौन प्राणी यह कह सकता है कि उसका सुख विघ्न-बाधाओं से रहित है! जब यह दशा है तो मनुष्य के लिये आवश्यक हो जाता है कि वह अपने सुख-दुख के प्रति सजग होकर जीवन की बातों को समझने की कोशिश करे और अपनी

किसी इच्छा का जबरदस्ती दमन न करके उसके रहस्य को समझे इच्छा का रहस्य जब भली प्रकार अवगत हो जाता है, तब उसे त्याग करने में दुःख नहीं होता। उचित प्रयास द्वारा मनुष्य उसे छोड़ने मे समर्थ होता है। यह काम भी आसान नहीं है। यदि मनुष्य सदा सजग रहे तो सम्भव अवश्य है। सजग होकर भी यदि मनुष्य अपने चिरकाल के अभ्यास को नहीं छोड़ पाता तो उसे कोई दूसरी सज्ञान युक्ति बतलायी भी नहीं जा सकती। ऐसे असमर्थ प्राणी सदा दुःख में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

मनुष्य को सच्चे मार्ग पर लाने के लिये दुःख से बढ़ कर कोई वस्तु नहीं है। दुःख ही मनुष्य को सजग होने का अवसर प्रदान करता है। सजगता द्वारा जीवन का बोध हो जाने पर उसकी गति स्वाभाविक हो जाती है। आरम्भ मे चित्त पहले से भी अधिक अशान्त हो जाता है, लेकिन यह अशांति सजगता के प्रकाश में धीरे-धीरे कम होने लगती है। आरम्भ की यह वह परेशानी है जो जीवन को समझ की राह पर ले जाती है। शनैः-शनैः मनुष्य उसके बीच में रह कर उसको देखता हुआ और उसके रहस्य को समझता हुआ उससे मुक्ति हो जाता है। जीवन की त्याज्य बातों को समझकर ज्यों-ज्यों मनुष्य उन्हे आसानी से छोड़ सकने में समर्थ होता जाता है, त्यों-त्यों उसका जीवन अधिकाधिक स्वाभाविक और गम्भीर बनता जाता है। त्याग की हुई वस्तु में फिर उसका राग नहीं रह जाता। छोड़ने पर मन मे उसके प्रति न कोई क्षोभ होता है और न उस पर विजय प्राप्त करने का गर्व ही। वह प्राणी अपनी किसी दशा में प्रतिहत नहीं होता। जीवन उसे अधिक रुचिकर और अपना मालूम होता है, क्योंकि उसने उसे पास से देखा है और उसके अलग-अलग पहलुओं पर गौर करना सीखा है। जीवन के साथ समवर्ती होने पर कष्ट कम

होने लगता है। उसके सामने जो बात आयेगी, उसे समझने के लिए वह अपना हृदय, मन और बुद्धि अर्पित कर देगा। उसके विचार और कार्य में कोई अन्तर न होगा। अपने को समझने के लिये मनुष्य को अन्य किसी व्यक्ति के उपदेश और आलोचना की आवश्यकता नहीं होती। राग-द्वेष से प्रेरित होकर वह न किसी के प्रति प्रेम प्रदर्शित करेगा और न किसी से घृणा करेगा, न किसी को अपना मित्र समझेगा और न शत्रु ही। वह मनुष्य अपने को समझने में इतना संलग्न हो जायगा कि बाह्य समस्त वस्तुएँ उसके लिए उपेक्षणीय हो जायगी। दूसरों की बातों पर ध्यान देने के लिये उसके पास समय न रहेगा और न वह दूसरों के प्रति कोई विरुद्ध बात ही सोचेगा। किसी को अपने से श्रेष्ठ समझ कर न वह उसका प्रभुत्व स्वीकार करेगा और न किसी को अपने से न्यून समझ कर उसकी उपेक्षा करेगा या उस पर प्रभुत्व दिखलायेगा। दोनों ही दशाओं में भीतर भय और भेद रहता है, इसलिये ऐसे जीवन में न समत्व होता है और न स्वाभाविकता ही। इसका परिणाम संकीर्णता और अवनति है।

जीवन में जब दूसरों का प्रभाव अधिक पड़ने लगता है, तब वह मनुष्य अपना नहीं रह जाता। उसके अन्दर विचार और स्वतन्त्र कार्य करने की क्षमता का अभाव हो जाता है। जीवन की ऐसी परिस्थिति में सत्य का प्रदर्शन नहीं होता। सत्य का अनुभव करने के लिये प्रत्येक प्राणी को अपना बन जाने की आवश्यकता है। सत्य की खोज करने वाले को हर्ष, शोक, मोह, अनुराग और प्रभुत्व की भावना को अपने पास नहीं आने देना चाहिये। ये दशाएँ मन को उत्तेजित करने वाली होती हैं। चित्त को ऐसी स्थिति में रखा जाय कि उस पर बाहरी कोई बात अपना प्रभाव न डाल सके। चित्त में जब आनंद और निरालम्ब प्रेम स्थान पा लेता है तब अपने-पराये का भेद मिट जाता है। ऐसा

पुरुष न कभी उदास रहता है और न मन लगाने के लिए किसी अवलम्ब की आवश्यकता अनुभव करता है। जीव-जन्तु और लता-वल्लियों के साथ उनका सौहार्द हो जाता है। कष्टदायक अवसरों का भी जीवन में अभाव होना आरम्भ हो जाता है। मन सदा प्रसन्न और एकाग्र रहने लगता है। संसार के साथ उसका अम्ज्ञान प्रेम का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। संसार की प्रत्येक वस्तु में वह अपना रूप देखता है। उसको सर्वत्र सत्य का दर्शन होता है और प्रत्येक अवस्था उसके आनन्द की अवस्था हो जाती है। वायु के रूप में वह संसार की सैर करेगा। फूल-पत्तियों और घास के साथ वह नृत्य करेगा, आकाश उसका रूप होगा, जल, पृथ्वी और अग्नि उसके बाह्य प्रतीक होंगे। संसार की प्रत्येक वस्तु के साथ जब एकता और मैत्री स्थापित हो जायगी, तब वह खिन्न और भयातुर क्यों रहेगा। शुद्ध और पवित्र मनके अन्दर उच्च और वाञ्छित भावना उदय होती है ऐसे उद्बोधित पुरुष संसार मे आनन्द-प्रसार करने के केन्द्र बन जाते हैं। व्यक्त और अव्यक्त दोनों दशाओं मे उनके द्वारा कार्य-सम्पादन होता रहता है। आनन्द-उपलब्धि की यह एषणा स्वार्थ की भावना नहीं है। इसमें निवास करने से मन के सङ्कल्प-विकल्पों का तिरोभाव हो जाता है। जीवन की इस स्थिति मे प्रयास नहीं रह जाता। यह जीवन, की शुद्ध और सात्विक सहज दशा है। ऐसे व्यक्ति को देखकर दूसरे प्राणी भी इस शुद्ध भावना को ग्रहण करने की इच्छा करने लगते हैं और इस ओर अपना प्रयास आरम्भ कर देते हैं। इस शुद्ध अवस्था की प्राप्ति एक ही क्षण में नहीं हो जाती, पर इसमें हताश होने की कोई बात नहीं है। सत्य सबके लिये एक और अनिवार्य है। सभी एक-न-एक दिन इसे प्राप्त करेंगे—प्रश्न केवल समय का हो सकता है। इसके लिये सबसे आवश्यक बात है—तीव्र वेग का होना। तीव्र वेग

वाले प्राणी इसे शीघ्र प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता। देर तो उनको लगती है, जो मन्द वेग के कारण रास्ते में रुक कर इधर-उधर की सैर करने लगते हैं।

भिन्न-भिन्न उपायों द्वारा लोगों ने इसकी खोज की और उनका कहना है कि सत्य की प्राप्ति के लिए मार्ग अनेक है, किन्तु सत्य की प्राप्ति का मार्ग केवल एक है और वह है—"सृष्टि और जीवन के रहस्य को समझना।" इसे लोग जब तक भली प्रकार नहीं समझ लेते, तब तक वे अनेकों मार्ग और अनेकों उपायों द्वारा अनुभव प्राप्त करने की चेष्टा करते रहते हैं। लोग कहते हैं कि ईश्वर घट-घट में व्याप रहा है, लेकिन वह भी केवल मुँह से ही कहते हैं। इस सत्य को समझ लेने पर प्राणी अपने प्रत्येक कार्य का जिम्मेदार हो जाता है। वह अपने अन्तरात्मा की ध्वनि को सुनता है और उसके अनुसार आचरण करता है। अर्थात् वह प्रत्येक कार्य में अपने हृदय और मन को एक करके कार्य करने की चेष्टा करता है। हृदय और मन में ऐक्य के ही बुद्धि का विकास है। अन्तःकरण में ईश्वर, सत्य अथवा जीवन की अनुभूति हो जाने पर प्राणी अपने समस्त कार्यों के प्रति सावधान हो जाता है। उसका यह पथ जीवन की वास्तविकता को सामने रखता है। इससे जीवन स्वाभाविक और सरल बनता है। फिर उसके अन्दर ईश्वर प्राप्ति-और सत्य को जानने की भी कोई इच्छा नहीं रह जाती, प्रत्युत उसका जीवन ही सत्य हो जाता है। उसका प्रत्येक आचरण, व्यवहार और कार्य इस प्रकार का होता है कि उससे कोई कर्म बन्धन नहीं स्थापित होता। इस प्रकार का समत्वमय जीवन ही सत्य है और इसमें ईश्वर का दर्शन है।

सत्य की अनुभूति के बाद सब बातों और सब दशाओं में मनुष्य अपनी सत्ता का अनुभव करता है। संदेह उसके मन

से हट जाता है । प्रत्येक स्थिति में वह सत्य के अन्दर निवास करता है। अकेलेपन की भयावह दशा का अन्त हो जाता है। प्रतिक्षण सत्य के सम्मुख होने से वह सदा आनन्द में निवास करता है ।

सत्य विहीन मनुष्य की दशा जल से बिछुड़ी हुई मछली की-सी होती है। कुछ क्षण तक जीवित तो रहते हैं,लेकिन उनके जीवन में आनन्द उत्साह और सार नहीं रहता। उनकी दशा उस मीन की सी होती है, जो किसी मछुए के जाल में फँस कर अतिशय दुःख से प्राण त्याग करती है। अपने किसी क्षणिक सुख के कारण यदि किसी मनुष्य ने अपनी दशा को इससे कुछ अतिरिक्त समझा है तो वास्तव में वह भ्रान्त है और अपने जीवन को भली प्रकार नहीं समझ रहा है। संसार एक बहुत ही बड़ा जाल है, उसके असंख्य छिद्रों में मनुष्य अपनी इच्छाओं की तृप्ति देखता है और लोभ-मोह के कारण उसमें फँसने की चेष्टा करता है । एक बार फँस जाने पर उससे निकलना कठिन है, अतः मनुष्य को श्वास-प्रश्वास में सचेत रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है।

पूर्ण सचेत हो जाने पर कर्तापन का भाव भी जाता रहता है और उसे कोई वस्तु अपने में फँसा नहीं पाती। आनन्द की सत्ता से अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु जब दूसरी नहीं है, तब संसार का क्षणिक सुख-दुःख पश्चिम में डूबते हुए सूर्य की भाँति मन के दूर देश में कहीं अस्त हो जाता है। यह जीवन में तटस्थता की दशा है, जहाँ संसार के वैभव आकाश में स्थिति प्रातःकालीन नक्षत्रों की भाँति फीके होकर आनन्द के परम प्रकाश में विलीन हो जाते हैं। आनन्द की प्राप्ति के पश्चात् संसार की बातों का चित्त पर असर ही नहीं होता। फिर कोई भी पदार्थ अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते। सारे प्रपञ्च मिट जाते हैं।

जब यही एक वस्तु जीवन में प्राप्त करने योग्य है, बल्कि यही जीवन है, तब मनुष्य यहाँ के सुख–दुःख के पचड़े में पड़कर व्यर्थ अपना समय क्यों नष्ट करता है । मार्ग में यदि कोई प्रति-रोध आ जाय तो उस पर विचार करना चाहिए और उसे समझने की कोशिश करनी चाहिए। आनन्द को सम्पूर्ण रूप में प्राप्त कर लेने की प्रत्येक मनुष्य के अन्दर अभिलाषा होनी चाहिये। इस पथ पर चलते हुए भी ऐसा नहीं है कि दुःख न पावे। दु.ख के आने पर इसे टालने की व्याकुलता न हो । ऐसा करने से लगन के होते हुए भी लक्ष्य तक पहुँचने में विलम्ब होगा।

आनंद की अनुभूति कोई किसी को करादे, यह सम्भव नहीं है। अपने ही प्रयास से जीवन की यह स्थिति प्राप्त की जाती है। यह कोरी कल्पना नहीं है । बोधपूर्वक प्रयास करने पर इसमें सफलता मिलती है यह ध्रुव सत्य है। प्रत्येक मनुष्य अपने पुरुषार्थ और प्रयास के द्वारा इसे प्राप्त कर सकता है । लोगों के जीवन मे विभिन्नता अवश्य दृष्टिगोचर होती है, लेकिन यह कोई रुकावट नहीं है । सत्य वस्तु में कल्पना के लिये कोई स्थान नहीं है।

चूंकि बहुतों के मन में सत्य को जान लेने की इच्छा और लगन है और किसी सरल मार्ग की खोज है,इसलिए उनको इस पथ पर चलने के लिये प्रस्तुत हो जाना चाहिये । एक बार सजग होकर पैर आगे बढ़ा देने पर फिर निराश नहीं होना पड़ता और मनुष्य पीछे कदम हटाना पसन्द नहीं करता। समझ बूझकर जब हम इस पथ पर पैर रखेंगे, तब हमारे अन्दर सुख-दुःख के रहस्य को समझने की क्षमता आ जायगी। सुख का प्रसंग आने पर हमें फूलना नहीं चाहिये और दुःख के प्रसंगों से घबराना नहीं चाहिये । बल्कि उनके बीच में रहते हुए उनके रहस्य को समझकर उनसे मुक्त हो जाना चाहिये।

आनन्द ही एक मात्र सत्य है। यही एक स्वाभाविक मन्दिर है, जहाँ सबको आना है। यहाँ बैठकर आप सच्चे ध्यान में निमग्न हो सकते हैं। इसको एक बार दृढ़तापूर्वक अपना लेने से सारा सन्देह दूर हो जाता है। ऐसी स्थिति मे मनुष्य संसार का हो जाता है और संसार उसका हो जाता है। 'अह' की पृथक भावना मिटकर विराट में लीन हो जाती है। रागद्वेष की अग्नि सदा के लिए बुझ जाती है।

इस आत्यन्तिक आनन्द के प्राप्त कर लेने पर मनुष्य स्वतन्त्रतापूर्वक संसार में विचरण करता है। जो मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र हैं और आनन्द में स्थित हैं, वे ही संसार के सामने कुछ सही बात रख सकते हैं। आनन्द में प्रतिष्ठित हो जाने पर पुरुष प्राणीमात्र का मित्र हो जाता है और प्रेम ही उसका मुख्य अचरण रहता है;—प्रेम के अतिरिक्त उसके पास और कोई वस्तु नहीं रहती। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर एक को अनेक में देखने क्षमता स्वाभाविक ही रहती है। यही मोक्ष की स्थिति है।

ब्रह्मज्ञान का मार्ग कठिन नहीं

यद्यपि सांसारिक लोग ब्रह्मज्ञान को बड़ा कठिन—प्रायः असम्भव मानते हैं, पर यह एक बड़ी भूल है। ब्रह्मज्ञान अथवा अध्यात्मिकता मनुष्य के जीवन मे आदि काल से ओत-प्रोत है, इस लिये उसे समझ सकना और पालन कर सकना कुछ भी कठिन नहीं है। वर्तमान समय मे इसमें जो कुछ कठिनाई जान पड़ती है उसका कारण यही है कि इन दिनों संसार वास्तविकता को छोड़कर कृत्रिमता में बहुत अधिक लिप्त हो गया है। इसलिये जो मार्ग मनुष्य के वास्ते सीधा, सरल और हितकारी था वही उसे कठिन और असम्भव जान पड़ता है। पर यदि विचार पूर्वक देखा जाय--तो भलाई एवं पवित्रता का मार्ग

पाप और नीचता की अपेक्षा कहीं सरल है। भलाई में जो स्वाद है, पवित्रता में जो आनन्द है वह पाप और नीचता के सरूर से अधिक मजेदार है। भलाई करना पाप करने से ज्यादा आसान है क्योंकि परमात्मस्वरूप मनुष्य की प्रवृत्ति स्वभावतः पवित्रता की ओर है। पाप और नीचता उसे अप्राकृतिक है। मनुष्य नहीं चाहता कि वह निकृष्टता के फंदे में फँस जाय। उस मार्ग पर चलने में उसे पग पग पर अपनी आत्मा का संहार करना पड़ता है, मन की रुचि पर बलात्कार करना होता है तब कहीं वह पाप कर पाता है।

जो व्यक्ति धूम्रपान का प्रारम्भ करते हैं उन्हें भयङ्कर खाँसी उठती है, नेत्रों में आंसू आ जाते हैं, शरीर में पीड़ा होती है, सर में चक्कर आते हैं, मुंह में से दुर्गन्ध उठती है। यह सब इसी कारण होता है क्योंकि तम्बाकू अप्राकृतिक है। परमेश्वर नहीं चाहता कि हम वह कार्य करें। प्रकृति का सहयोग उसमें नहीं है। केवल हमारी अनधिकार चेष्टा ही उन दिव्य शक्तियों के विरुद्ध युद्ध करती है।

इसी प्रकार पाप एवं नीचता का प्रारम्भ करने में हमारे अन्तकरण में भयङ्कर विक्षोभ होता है, आत्म-ग्लानि तथा क्लेश उत्पन्न होता है, मन किसी अज्ञात भय से थर-थर कांपता है, हमारे दुष्कृत्य में साथ नहीं देना चाहता, हमारा शरीर स्वाभाविक गति से उस ओर नहीं चलता। अड़ियल घोड़े की तरह वह स्थान-स्थान पर अटकता है और उस मार्ग पर नहीं चलना चाहता। हमारे सङ्कल्प, हमारी धारणाएँ, हमारी वृत्तियें सब ही जवाब दे देते हैं। अपने मन पर अत्याचार करते हुए हम पाप में प्रवृत्त होते हैं। बार-बार उसी की आवृत्ति करते रहने से हमारी पवित्र आकांक्षाएँ मृतप्रायः हो जाती हैं। जिस प्रकार जानते बूझते हम अफीम, शराब, तम्बाकू तथा अनेकों विषैले पदार्थों के

अभ्यस्त हो जाते हैं तथा हमें उनकी कड़ुवाहट भी प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार अभ्यस्त हो जाने पर हमें पाप और नीचता करते हुए ग्लानि का अनुभव नहीं होता। कालान्तर में हम पक्के पापी हो जाते हैं।

परमात्मा को अपने अन्दर से कार्य करने दीजिये। आदि-प्रभु की जो इच्छा है उसी के अनुसार चलने के लिये अपने आप को विवश कीजिये। परमात्मा को स्वयं अपनी मर्जी के अनुसार चलने को मजबूर न कीजिये। तुम्हारी इच्छा एक होनी चाहिये। तुम वही सर्व शक्तिमान परमात्मा हो जिसने तमाम जगत् को अपनी पवित्रता प्रदान की है और अणु-अणु में वही उत्कृष्ट तत्त्व ओत-प्रोत कर दिया है, जो सत्य है, सुन्दर है तथा सर्वत्र शिव है।

आत्म निरीक्षण द्वारा मालूम कीजिये कि कितने अंशों में तुम ईश्वरेच्छा के अनुगामी बने हो? तुम्हारे कितने कार्य परमात्मा के लिये होते हैं? कितनी देर तुम "स्व" की पूर्ति में व्यतीत करते हो? कितनी देर तुम पूजा आराधना में लगाते हो?

तुम्हारे विभिन्न अङ्गों का क्या अभिप्राय है? वे किस आशय से बनाये गये हैं? तुम्हारे नेत्रों का कार्य पवित्र से पवित्र वस्तुओं का दर्शन होना चाहिये तुम कुरूपता में भी भव्यता ढूंढ़ निकलो। प्रतिकूलता में भी सहायक तत्त्वों के दर्शन करते रहो। कठिन से कठिन और विषम से विषम परिस्थिति में भी विचलित न हो। तुम्हारे पांव तीव्र आँधी, पानी मे भी स्थिर रहे। तुम्हारे हृदय में पवित्रता की गर्मी हो। शरीर में उत्साह हो। परमेश्वर का तेज अंग-प्रत्यग से झलकता रहे।

आत्म बंधुओं! हमारा इस संसार से कोई संबन्ध नहीं है। हम सत् चित् आनन्द विशुद्ध परम पदार्थ—आत्मा हैं। संसार और सांसारिक संबंध खिलौने मात्र हैं। अक्सर हम कहा करते

हैं कि अमुक व्यक्ति हमारा शत्रु है, अमुक हमारा मित्र है, अमुक हमारा पिता है, अमुक पुत्र है, किन्तु वास्तव में न कोई शत्रु है न मित्र, न पिता न पुत्र। हम सब साधारण परमात्म पदार्थ हैं। हमारा संसार के क्षुद्र झगड़ों से कोई संबन्ध नहीं है। सुख-दुःख छाया तथा उजेला है जो आता जाता रहता है हमारी आन्तरिक शांति भंग नहीं होनी चाहिये। हम संसार से बहुत ऊंचे हैं।

जैसे वायुयान में बैठकर आकाश में विहार करने से संसार की प्रत्येक वस्तु घरबार, मनुष्य, पशु, वृक्षादि छोटे-छोटे प्रतीत होते हैं। उसी प्रकार आत्म-स्वरूप का प्रकाश करने वाले साधक को सांसारिक पदार्थ मिथ्या प्रतीत होते हैं। वह उनसे बहुत ऊँचा उठ जाता है। माया मोह के चक्र में नहीं फँसता। उसे दिव्य ज्ञान का प्रकाश प्रदान करता है जिसकी रोशनी में उसे भव्यता पवित्रता तथा वास्तविक सत्यता के दर्शन होते हैं।

आप संसार के साथ जुदा ही रह कर आत्म ज्योति का प्रकाश कर सकें—ऐसी बात नहीं है। संसार के थपेड़े सह कर भी आप भली भांति दिव्यता प्राप्त कर सकते हैं। घर गृहस्थ के अनेक उत्तरदायित्वों का पालन करते हुये भी आप सहर्ष अपने भीतर से परमात्म तत्व को प्रकाशित कर सकते हैं।

आप यह मान कर प्रत्येक कार्य कीजिये कि आप परमात्मा हैं। उसी के एक अंग हैं। आप में ज्ञान, सत्य, प्रेम भरा पड़ा है और आप नित्य प्रति के जीवन में उन्हीं तत्वों का प्रकाश कर रहे हैं। आप सर्वत्र प्रेम, दिव्यता, एवं शान्ति का ही दर्शन करते हैं। आपकी दृष्टि केवल भव्य तत्वों के चिंतन में ही लगती है। आप पवित्र शब्दों का ही उच्चारण करते हैं और मनोमंदिर में सदा सर्वदा पवित्र सङ्कल्पों को ही स्थान देते हैं।

आप का लक्ष्य एवं आदर्श जितना दिव्य होगा, उतनी

ही आपको ईश्वरीय प्रेरणा प्राप्त होगी । जो गुण आप में नहीं है उन्हे अपने अन्दर मान लीजिए। फिर उन्हीं के अनुरूप आचरण कीजिए। कालान्तर मे वे ही शुभ तत्त्व आप में प्रकट होंगे। आप अपने को दीन-हीन पापी नहीं, परम पवित्र निर्विकार आत्मा मानिये ।

ब्रह्मज्ञान के लिये ध्यान की आवश्यकता

ब्रह्मज्ञान अथवा ईश्वर के स्वरूप को समझने और उसके अनुसार चलने के अनेक मार्ग है, पर भक्ति पूर्वक ईश्वर का ध्यान और भजन करना उन सब में प्रधान है। यह एक ऐसा साधन है जो प्रत्येक ईश्वरीय-मार्ग की सफलता के लिये आवश्यक है। 'गरुण पुराण' में कहा गया है—

भज इत्येव वै धातुः सेवायां परिकीर्तिता ।
तस्मात्सेवाबुधैः प्रोक्ता भक्तिः साधन भूयसी ॥

श्लोक का तात्पर्य है कि—'भज' धातु का अर्थ सेवा है। (भज्-सेवायां) इस लिए बुध जनों ने भक्ति का साधन सेवा कहा है। 'भजन' शब्द भज् धातु से बना है जिसका स्पष्ट अर्थ सेवा है। "ईश्वर का भजन करना चाहिए" जिन शास्त्रों ने इस महा मंत्र का मनुष्य को उपदेश दिया है उनका तात्पर्य ईश्वर की सेवा में मनुष्य को प्रवृत्त करा देना था। जिस विधि व्यवस्था से मनुष्य प्राणी ईश्वर की सेवा मे तल्लीन होजाय वही भजन है इस भजन के अनेक मार्ग हैं । अध्यात्म मार्ग के आचार्यों ने देश काल और पात्र के भेद को ध्यान में रख कर भजन के अनेकों कार्यक्रम बनाये और बताये हैं। विश्व के इतिहास में जो-जो अमर विभूतियां, महान आत्माएं, सन्त, सिद्ध, जीवनमुक्त, ऋषि एवं अवतार हुए हैं उन सभी ने भजन किये हैं और कराये हैं पर उन सबके भजनों की प्रणाली एक दूसरे के समान

नहीं है। देश काल और परिस्थिति के अनुसार उन्हें भेद करना पड़ा है, यह भेद होते हुए भी मूलतः भजन के आदि मूल तथ्य में किसी ने अन्तर नहीं आने दिया है।

भजन (ईश्वर की सेवा) करने का तरीका ईश्वर की इच्छा और आज्ञा का पालन करना है। सेवक लोग अपने मालिकों की सेवा इसी प्रकार किया भी करते हैं। एक राजा के शासन तंत्र में हजारों कर्मचारी काम करते हैं। इन सबके जिम्मे काम बँटे होते हैं। हर एक कर्मचारी अपना-अपना नियत काम करता है। अपने नियत कार्य को उचित रीति से करने वाला राजा का कृपा पात्र होता है, उसके वेतन तथा पद में वृद्धि होती है, पुरस्कार मिलता है, खिताब आदि दिये जाते हैं। जो कर्मचारी अपने नियत कार्य में प्रमाद करता है वह राजा का कोप भाजन बनता है, जुर्माना, मौत्तिली, तनख्वा में तनज्जुली, बर्खास्तगी या अन्य प्रकार की सजाएं पाता है। इन नियुक्त कर्मचारियों की सेवा का उचित स्थान उन्हीं कार्यों में है जो उनके लिए नियत हैं। रसोइये, मेहतर, पंखा झलने वाले कहार, धोबी चौकीदार, चारण, नाई आदि सेवक भी राजा के यहां रहते हैं ये भी अपना नियत काम करते हैं। परन्तु इन छोटे कर्मचारियों में से कोई ऐसा नहीं सोचता कि राजा की सर्वोपरि कृपा हमारे ही ऊपर है। बात ठीक भी है। राजा के अभीष्ट उद्देश्य को सुव्यवस्थित रखने वाले राज मंत्री सेनापति, अर्थमंत्री, व्यवस्थापक न्यायाध्यक्ष आदि उच्च कर्मचारी जितना आदर, वेतन, और आत्मभाव प्राप्त करते हैं, बेचारे मेहतर, रसोइये आदि को वह जीवन भर स्वप्न में भी प्राप्त नहीं होता।

राज्य के समस्त कर्मचारी यदि अपने नियत कार्यों में अरुचि प्रकट करते हुए राजा के रसोइये, मेहतर, कहार, धोबी चारण आदि बनने के लिए दौड़ पड़ें तो राजा को इससे तनिक

भी प्रसन्नता और सुविधा न होगी । हजारों लाखों रसोईयों द्वारा पकाया और परोसा हुआ भोजन अपने सामने देखकर राजा को भला क्या प्रसन्नता हो सकती है ? यद्यपि इन सभी कर्मचारियों का राजा के प्रति अगाध प्रेम है और प्रेम से प्रेरित होकर ही उन्होंने व्यक्ति गत शरीर सेवा की ओर दौड़ लगाई है, पर ऐसा विवेक रहित प्रेम करीब २ द्वेष जैसा ही हानिकर सिद्ध होता है। इससे राज्य के आवश्यक कार्य में हर्ज और अनावश्यक कार्यकी वृद्धि होगी यह कार्य प्रणाली किसी बुद्धिमान राजा को प्रिय नहीं हो सकती ।

ईश्वर राजाओं का महाराज है । हम सब उसके राज्य-कर्मचारी हैं, सबके लिए नियत कर्म उपस्थित हैं। अपने-अपने उत्तरदायित्व की उचित रीति से पालन करते हुए हम ईश्वर की इच्छा और आज्ञा को पूरा करते है और इस प्रकार सच्ची सेवा करते हुए स्वभावतः उसके प्रिय पात्र बन जाते हैं। राजाओं को व्यक्तिगत सेवा की आवश्यकता भी है परन्तु परमात्मा को रसोईये, मेहतर, कहार, चारण, चौकीदार आदि की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। वह सर्वव्यापक है, वासना और विकारों, से रहित है, ऐसी दशा में उसके लिए भोजन, कपड़ा, पंखा, रोशनी आदि का कुछ उपयोग भी नहीं है।

ध्यान जप, स्मरण-कीर्तन व्रत पूजन अर्चन, वन्दन, यह सब आध्यात्मिक व्यायाम हैं । इनके करने से आत्मा का बल और सतोगुण बढ़ता है । आत्मोन्नति के लिए इन सबका करना आवश्यक और उपयोगी भी है । परन्तु इतना मात्र ही ईश्वर भजन या ईश्वर भक्ति नहीं । यह भजन का एक बहुत छोटा अंश मात्र है । सच्ची ईश्वर सेवा उसकी इच्छा और आज्ञाओं को पूरा करने मे है, उसकी फुलवारी को अधिक हरा-भरा फला फूला बनने मे है । अपने नियत कर्तव्य करते हुए

अपनी और दूसरों की सात्विक उन्नति तथा सेवा में लगे रहना प्रभु को प्रसन्न करने का सर्वोत्तम उपाय हो सकता है।

ईश्वर का भजन कैसे किया जाय ?

साधारण रीति से सभी भगवान का नाम लेते हैं, पर जब तक उसके साथ भगवान के आदेशों के पालन का ध्यान न रखा जाय, तब तक विशेष फल प्राप्त नहीं हो सकता। भगवान का नाम जप करने के साथ दशों इन्द्रियों की कुवासनाओं को त्याग कर चित्त को सदाचारी और सात्विक बनाकर जब परमात्मा का स्मरण किया जाता है तभी उससे सच्चा लाभ प्राप्त होता है। नाम जप करने वालों के लिये शास्त्रकारों ने दश नामापराध बताये हैं और उनसे बचे रहने का कठोर आदेश किया है। जैसे औषधि सेवन के साथ-साथ परहेज से रहना भी आवश्यक है, उसी प्रकार नाम जप करने वालों को दस नामापराधों से बचना भी आवश्यक है। परहेज बिगाड़ने से, कुपथ्य करने से, अच्छी औषधि का सेवन भी निष्फल हो जाता है, उसी प्रकार नामापराध करने से नाम जप भी निष्फल चला जाता है। दशापराधों से—दश नामापराधों से—बचकर राम नाम जपने से कोटि यज्ञों का फल प्राप्त होता है। वे दश अपराध यह हैं :—

सन्निन्दाऽसति नामवैभव कथा श्रीशेशयोर्भेदधीर-
श्रद्धा गुरु शास्त्र वेद वचने नाम्न्यर्थवादभ्रमः।
नामास्तीतिनिषिद्ध वृत्ति विहित त्यागोहि धर्मान्तरैः
साम्यं नाम जपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश।

(१) सन्निन्दा (२) असति नाम वैभव कथा (३) श्रीशेशयोर्भेदधीः (४) अश्रद्धा गुरु वचने (५) शास्त्र वचने (६) वेद वचने [७] नाम्न्यर्थवाद भ्रमः [८] नामास्तीति निषिद्ध वृत्ति [९] विहित त्याग [१०] धर्मांतरे साम्यम—यह दश नामापराध

या ऋत हैं, इनको त्यागने से नाम जप का कोटि यज्ञ फल प्राप्त होता है। इन दशों का खुलासा नीचे किया जाता है—

(१) सत् निन्दा—सत् पुरुषों की, सज्जनों की, सत्य की, सच्चे कार्यों की, सत् सिद्धांतों की किसी स्वार्थ भाव से प्रेरित होकर निन्दा करना। सत्य पर चलने की, सत् सिद्धांतों को अपनाने का किसी लोभ या भय से साहस न होता हो तो लोग अपनी कमजोरी छिपाने के लिए सत्य बातों का या सत् पुरुषों का ही किसी मिथ्या आधार पर विरोध करने लगते हैं, यह 'सन्निन्दा' है। शत्रु में भी सत्यता हो तो उस सत्यता की तो प्रशसा ही करनी चाहिए।

(२) असति नाम वैभव कथा—असत्य के आधार पर बढ़े हुए व्यक्तियों या सिद्धांतों के नाम या वैभव की प्रशंसा करना। कितने ही झूठे,पाखण्डी अत्याचारी व्यक्ति अपनी धूर्तता के आधार पर बड़े कहलाने लगते हैं। उनकी चमक-दमक से आकर्षित होकर उनकी प्रशंसा करना या उनके वैभव का लुभावना वर्णन करना त्याज्य है। असत्य की सदा निन्दा ही की जानी चाहिये, झूठे आधार पर मिली हुई सफलताओं को इस प्रकार समझना या समझाना कि उसका अनुकरण करने का लोभ पैदा है, नामापराध है।

(३) श्रीशेशयोर्भेदधीः-विष्णु महादेव आदि देवताओं में भेद बुद्धि रखना,उन्हें अलग-अलग मानना। एक ही सर्वव्यापक सत्ता की विभिन्न शक्तियों के नाम ही देवता कहलाते हैं। वस्तुतः परमात्मा ही एक देव है। अनेक देवों के आस्तित्व के भ्रम में पड़ना—नाम जप करने वाले के लिए उचित नहीं।

(४) अश्रद्धा गुरु वचने—सद् गुरु, धर्मविद् तत्वदर्शी, निस्पृह, आप्तपुरुषों के सद् वचनों में अश्रद्धा रखना। विरोध न करते हुए भी उदासीन रहना अश्रद्धा कहलाती है। सद्गुरुओं

ये लोक हितकारी सद् वचनों में श्रद्धा रखनी चाहिये।

(५) अश्रद्धा शास्त्र वचने—शास्त्र के वचनों में अश्रद्धा रखना। यों तो कितनी ही पुस्तकें साम्प्रदायिक परस्पर विरोधी और असङ्गत बातों से भरी रहने पर भी शास्त्र कहलाती हैं, पर वास्तविक शास्त्र वह है जो सत्यता, लोकहित, कर्तव्य परायणता और सदाचार का समर्थन करता हो। इस कसौटी पर जो ज्ञान रूपी सोने के समान ठीक उतरता हो वह शास्त्र है। ऐसे शास्त्रों के वचनों पर अश्रद्धा नहीं करनी चाहिये।

(६) अश्रद्धा वेद वचने—अर्थात वेद वाक्य में अश्रद्धा रखना। वेद ज्ञान को कहते हैं। ज्ञान-पूर्ण, सद्बुद्धि सम्मत वचनों में अश्रद्धा नहीं करनी चाहिये। वेद,सत्य ज्ञान के आधार होने के कारण श्रद्धा करने योग्य हैं।

(७) नाम्न्यर्थवाद भ्रमः—नाम के अर्थवाद में भ्रम करना। ईश्वर के अनेक नामों के अर्थ में जो भिन्नता है उसके कारण भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। गोपाल, मुरलीधर, यशोदा-नन्दन, राम रघुनाथ, दीनबन्धु, अल्लाह, गॉड आदि नामों के शब्दार्थ पृथक-पृथक हैं। इन अर्थों से तत्व के अलग-अलग होने का भ्रम होता है, यह ठीक नहीं। सब नाम उस एक परमात्मा के हैं। इसलिये परमात्मा के सम्बन्ध में किसी पृथकता के भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये।

(८) नामास्तीति निषिद्धवृत्ति—नाम तो है ही फिर अन्य बातों की क्या जरूरत, ऐसी निषिद्ध वृत्ति। ईश्वर का नाम उच्चारण करने मात्र से सब पाप कट जावेंगे, इसलिये पाप करने में कुछ हर्ज नहीं ऐसा कितने ही लोग सोचते हैं। दिन-रात कुविचारों में और कुकर्मों में लगे रहते हैं, उनके फल से बचने का सहज नुसखा ढूँढ़ते हैं कि दो चार बार रामनाम जबान से कह दिया बस बेड़ा पार हो गया। सारे पाप नष्ट हो गये। यह

भारी अज्ञान है। परमात्मा निष्पक्ष, सच्चा न्यायाधीश है। वह खुशामद करने वाले के न तो पाप माफ करता है और न बिना खुशामद करने वाले के पुण्यों को रद्द करता है। कर्मों का यथा-योग्य फल देना उसका सुदृढ़ नियम है। इसलिये आत्म बल वृद्धि के लिए नाम स्मरण करते हुये भी यही आशा करनी चाहिए कि परमात्मा हमारे भले बुरे कर्मों का यथायोग्य फल अवश्य देगा। जो पाप-नाश की आशा लगाये बैठे रहते हैं और कुमार्ग को छोड़कर सन्मार्ग पर चलने का प्रयत्न नहीं करते वे नामा-पराध करते हैं।

(६) विहित त्याग—विहित कर्मों का त्याग, उत्तरदा-यित्व का छोडना, कर्तव्य धर्म से मुँह मोड़ना नामापराध है। कितने ही मनुष्य "संसार मिथ्या है, दुनियां झूठी है।" आदि महावाक्यों का सच्चा रहस्यमय अर्थ न समझकर अपने कर्तव्य, धर्म एवं उत्तरदायित्व को छोडकर घर से भाग जाते है, इधर-उधर आवारागिर्दी में, दुर्व्यसनियों के कुसंग में मारे-मारे फिरते हैं। यह अनुचित है, ईश्वर प्रदत्त उत्तरदायित्वों और कर्तव्य धर्मों को पूरी सावधानी और ईमानदारी से पूरा करते हुये भगवान का नाम स्मरण करना चाहिये।

(१०) धर्मान्तरैः साम्यम्—धर्म से इतर, धर्म विरुद्ध बातों को भी धर्म की समता मे रखना। अनेक सामाजिक कुरी-तियाँ ऐसी हैं जो धर्म विरुद्ध होते हुये भी धर्म में स्थान पाती हैं जैसे पशु वलि, एवं स्त्री और शूद्रों के साथ होने वाले असमा-नता तथा अन्याय के व्यवहार धर्म के नाम पर प्रचलित है, पर वास्तव में वे अधर्म हैं। ऐसे अधर्मों का धर्म में जोड़ना, धर्म की समता में रखना। नामापराध है। कर्तव्य कर्म ही धर्म कहलाते हैं। अकर्तव्यों को रूढिवाद के कारण धर्म-साम्य नहीं बनाना चाहिये।

इन दशव्रतों से युक्त होकर, इन्हें त्याग कर, दसों इन्द्रियों को संयम में रखकर, सत्य और धर्म से जीवन को ओत-प्रोत बनाते हुए जो लोग नाम जप करते हैं, भगवान का नामोच्चार करते हैं उन्हीं की आत्मा पवित्र होती है और वे ही कोटि यज्ञ फल के भागी होते हैं। वैसे तो तोते भी राम-राम रटते रहते हैं, पर इनके कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। पाठकों को दशव्रत होकर ही नाम जप करना चाहिए। और याद रखना चाहिए कि—

राम नाम सब कोई कहे, दशव्रत कहे न कोय,
एक बार दशव्रत कहे, कोटि यज्ञ फल होय।

अपनी प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाइये

समस्त आध्यात्मिक उपदेशों का सारांश यही निकलता है कि हमारी प्रवृत्ति बहिर्मुखी होने के बजाय अन्तर्मुखी होनी चाहिये। चेतना का प्रकाश जिस ओर जाता है उसी ओर आलोक हो जाता है और जिस ओर उसका प्रकाश नहीं जाता उस ओर अन्धकार हो जाता है। चेतना के प्रकाश में दो विशेषताएं हैं—एक, वह पदार्थ का ज्ञान कराता है और दूसरे, वह उसे प्रिय बनाता है। उससे जिस ओर हमारी चेतना जाती है अर्थात् जिन वस्तुओं की ओर हम ध्यान देते हैं वे न केवल हमें ज्ञात हो जाती हैं वरन वे हमें प्रिय हो जाती हैं। जिन बातों के बारे में हम कुछ जानते नहीं वे हमें प्रिय भी नहीं होतीं। मनुष्य को जो वस्तु प्यारी लगती है वह उसकी वृद्धि करने की भी चेष्टा करता है। इस प्रकार चेतना से प्रकाशित वस्तुओं की वृद्धि होने लगती है। मनुष्य के सांसारिक धन वैभव की वृद्धि इसी प्रकार होती है। शरीर की उन्नति भी शरीर के विषय में सोचने से होती है।

जब मनुष्य बहिर्मुखी रहता है तो वह सांसारिक उन्नति करता है। उसके धन, यश और मान-प्रतिष्ठा बढ़ते हैं। पर उस

का स्वत्व अन्धकार में रह जाता है। अन्धकार में रहने के कारण न तो मनुष्य को अपने-आपका कुछ ज्ञान होता है और न उसे अपने आप प्रिय ही लगता है। इतना ही नहीं, बहिर्मुखी व्यक्ति को यदि अकेला छोड़ दिया जाय तो वह अपने आपसे इतना विकल हो जायगा कि आत्म हत्या करने की इच्छा होने लगेगी। यदि किसी कारण से वहिर्मुखी व्यक्ति को कभी अकेले रह जाना पड़ता है तो वे जीवन से निराश हो जाते हैं उनके विचार उनके नियंत्रण में नहीं रहते। उनकी मानसिक ग्रन्थियां उन्हे भारी त्रास देने लगती हैं। और उन्हे जीवन भार रूप हो जाता है।

चेतना का प्रकाश बाहर जाने से मनुष्य के मन में अनेकों प्रकार के संस्कार पड़ते हैं। ये सभी संस्कार मानसिक क्लेश के कारण बन जाते हैं। इनसे आत्मा की प्रियता कम हो जाती है और बाहरी पदार्थों की ओर आकर्षण बढ़ता जाता है। इस प्रकार मनुष्य की चेतना के पीछे सांसारिक पदार्थों की इच्छाओं के रूप में एक अचेतन मन की सृष्टि होती है। जो व्यक्ति जितना ही बहिर्मुखी है उसकी सासारिक पदार्थों की इच्छाएें उतनी ही प्रबल होती हैं। इन ग्रन्थियों के कारण मनुष्य का आन्तरिक स्वत्व दुखी हो जाता है। वह फिर चेतना के प्रकाश को अपने आपके पास बुलाने का उपाय रचता है। रोग की उत्पत्ति अपने आपकी ओर चेतना के प्रकाश के बुलाने का उपाय है।

मनुष्य का वैयक्तिक अचेतन मन उसकी मानसिक ग्रंथियों और दलित इच्छाओं का बना हुआ है। दबी हुई इच्छाओं का चेतना पर प्रकाशित होने से रेचन हो जाता है और बहुत सी मानसिक ग्रन्थियां इस प्रकार खुल जाती हैं पर इससे मानसिक ग्रन्थियों का बनना रुकता तक नहीं। नयी मानसिक ग्रन्थियां बनती ही जाती हैं। इस प्रकार अचेतन मन का नया भार तैयार होता जाता है। मनोविश्लेषण चिकित्सा से मनुष्य की व्याधि

विक्षेप का उपचार हो जाता है पर उससे मूल रोग नष्ट नहीं होता।

जब मनुष्य अन्तर्मुखी हो जाता है तो बाह्य पदार्थों की प्रियता चली जाती है। इसके कारण वे मनुष्य के मन पर अपने दृढ़ संस्कार नहीं छोड़ते। इस प्रकार नया कर्म विपाक बनना बन्द हो जाता है। सदा आध्यात्मिक चिन्तन करने से मनुष्य की पुरानी मानसिक ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। अब उसे अपने सुख के लिए इधर उधर दौड़ना नहीं पड़ता। उसे अपने विचारों में असीम आनन्द मिलने लगता है। अब अनेक प्रकार की सांसारिक चिन्ताएँ किसी प्रकार की मानसिक अशान्ति उत्पन्न नहीं करतीं। मनुष्य निजानन्द में निमग्न रहता है। ऐसा व्यक्ति सदा स्वास्थ्यावस्था में रहता है।

चेतना का प्रकाश धीरे-धीरे भीतर की ओर मोड़ा जाता है। इसके लिये नित्य अभ्यास और विचार की आवश्यकता है। जब मनुष्य को बाह्य विषयों में विरक्ति हो जाती है अर्थात् जब वे उसे दुखस्वरूप प्रतीत होने लगते हैं, तभी वह सुख को अपने भीतर खोजने की चेष्टा करता है। मन के हताश होने की अवस्था में मनुष्य के विचार स्थिर नहीं रहते, वह सभी प्रकार के प्रयत्नों को सन्देह की दृष्टि से देखने लगता है। अतएव एकाएक मन को अन्तर्मुखी नहीं बनाया जा सकता पर धीरे-धीरे उसे अभ्यास के द्वारा अन्तर्मुखी बनाया जा सकता है।

जब मनुष्य अन्तर्मुखी होता है तो उसे ज्ञान होता है कि मनुष्य का मानसिक संसार उसके बाह्य संसार के फैलाव से कम नहीं है। जितना बाह्य संसार का विस्तार है, उससे कहीं अधिक आन्तरिक संसार का है। अर्थात् मनुष्य को आत्म-स्थिति प्राप्त करने के लिये उतना ही अधिक अध्ययन, विचार और अन्वेषण करना पड़ता है जितना कोई भौतिक विज्ञान में रुचि रखने वाला अन्वेषक करता है।

संसार की सभी वस्तुऐं आत्म-सन्तोष के लिये हैं। यदि मनुष्य को आत्म-सन्तोष का सरल मार्ग ज्ञात हो जाय तो वह सांसारिक पदार्थों के पीछे क्यों दौड़े ? पर यह आत्म सन्तोष प्राप्त करना सरल काम नहीं। जितनी कठिनाई किसी इच्छित वाह्य पदार्थ के प्राप्त करने मे होती है, उससे कहीं अधिक कठिनाई आत्म-ज्ञान प्राप्त करने में होती है। आत्मज्ञान मन की साधना से उत्पन्न होता है। जब तक मन निरवलम्ब नहीं हो जाता, तब तक निज स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। पर मन का सहज स्वभाव आत्मा से इतर वस्तु पर अवलम्बित होकर रहना है। उसे अपनी इस आदत से मुक्त करने मे जितना प्रयास करना पड़ता है वह कल्पनातीत है।

ईश्वरवाद में विश्वास रखने और उसके ध्यान में तल्लीन होने का मुख्य उद्देश्य यही है कि आत्मा अपने वास्तविक सर्वोत्कृष्ट स्वरूप को समझकर स्वावलम्बी बन सके। ईश्वर की उपासना के द्वारा हम 'दिव्य सत् तत्व' की आराधना करते हैं जिससे हमारी आत्मा तमोगुण और रजोगुण से छूट कर सत्-तत्व सराबोर हो जाय। नाना विधि विधानों से, अनेकानेक कर्मकाण्डों से संसार भर मे ईश्वर की जो पूजा-उपासना होती हुई दिखलाई पड़ती है उस सब का मर्म यही है कि जीव ईश्वरीय सत्-तत्व के अधिकाधिक समीप पहुँचता जाय और अन्त में स्वयं भी वैसा ही बन जाय। उस अवस्था को प्राप्त हो जाने से आनन्द की सीमा नहीं रहती। अनन्त आनन्द में उसकी चेतना तल्लीन हो जाती है। सत्वगुण की इसी परिपूर्णता को ब्रह्म की प्राप्ति कहते हैं।

—❀—

मुद्रक—हरीहर इलैक्ट्रिक मशीन प्रेस, मथुरा।

जीवन को सुख-शान्तिमय बनाने वाला साहित्य

(मूल्य प्रत्येक पुस्तक का छः-छः आना है)

१-सूर्यचिकित्सा विज्ञान २-प्राणचिकित्सा विज्ञान ३-स्वस्थ बनने की विद्या ४-भोग में योग ५-बुद्धि बढ़ाने के उपाय ६-आसन और प्राणायाम ७-तुलसी के अमृतोपम गुण ८-महान जागरण ९-तुम महान हो। १०-घरेलू चिकित्सा ११-दीर्घ जीवनके रहस्य १२-नेत्रों की प्राकृतिक चिकित्सा १३-स्वप्न दोष की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा १४-तुम्हारी आकर्षणजनक शक्ति १५-उन्नति का मूलमन्त्र ब्रह्मचर्य १६-उपवासके चमत्कार १७-स्त्री रोग चिकित्सा १९-बालरोग चिकित्सा २०-[illegible] की चिकित्सा २१-निरोग जीवन का राजमार्ग २२-चिरस्थाई यौवन २३-सौन्दर्य बढ़ाने के ठोस उपाय २४-मनुष्य शरीर की बिजली के चमत्कार २५-पुत्र-पुत्री उत्पन्न करने की विधि २५-हमारी पारिवारिक समस्याएँ २६-मन चाही सन्तान २७-दाम्पत्ति जीवन का सुख २८-हमारी आन्तरिक शत्रु २९-क्या खायें? क्यों खायें? कैसे खायें? ३०-हमारे सभ्यताके कलङ्क, ३१-धनवान बनने के गुप्त रहस्य ३२-मरने के बाद हमारा क्या होता है? ३३-मित्रभाव बढ़ानेकी कला ३४-आकृति देखकर मनुष्य की पहिचान ३५-हमें स्वप्न क्यों दीखते हैं? ३६-विचार करने की कला ३७-हम बड़ा कैसे बन सकते हैं? ३८-सफलताके तीन साधन ३९-जिंदगी कैसे जिएँ ४०-प्रसिद्धि और समृद्धि ४१-ईश्वर कौन है? कहाँ है? कैसा है? ४२-क्या धर्म? क्या अधर्म? ४३-ईश्वर और स्वर्ग प्राप्ति का सच्चा मार्ग ४४-भारतीय संस्कृति का बीज मंत्र यज्ञोपवीत ४५-यज्ञोपवीत द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति ४६-मैं क्या हूँ? ४७-वशीकरण की सच्ची सिद्धि ४८-ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग।

शक्ति का सदुपयोग
श्री राम शर्मा आचार्य
सम्पादकः- "अखण्ड ज्योति" मथुरा

लेखक—
श्रीराम शर्मा आचार्य
गायत्री तपोभूमि, मथुरा ।

ॐ भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि
धियो योनः प्रचोदयात् ।

प्रकाशक—
"अखण्ड ज्योति" प्रेस, मथुरा ।

प्रथम बार] सन् १९५८ [मूल्य ।)

शक्ति का सदुपयोग

गायत्री का तीसरा अक्षर 'स' शक्ति की प्राप्ति और इसके सदुपयोग की शिक्षा देता है.—

सत्तावन्तस्तथा शूराः क्षत्रिया लोकरक्षकाः ।

अन्यायाशक्ति संभूतान ध्वंसयेयुर्हि व्यापदाः ॥

अर्थात्—"सत्ताधारी, शूरवीर तथा संसार के रक्षक क्षत्रिय अन्याय और अशक्ति से उत्पन्न होने वाली आपत्तियों को नष्ट करें ।"

क्षत्रियत्व एक गुण है । वह किसी वंश विशेष में न्यूनाधिक भले ही मिलता हो, पर किसी एक वंश या जाति तक ही सीमित नहीं हो सकता । क्षत्रियत्व के प्रधान लक्षण हैं-शूरता अर्थात् धैर्य, साहस, निर्भयता, पुरुषार्थ, दृढ़ता, पराक्रम आदि। ये गुण जिसमें जितने न्यूनाधिक हैं वह उतने ही अंश में क्षत्रिय है ।

शारीरिक प्रतिभा, तेज, सामर्थ्य, शौर्य, पुरुषार्थ और सत्ता का क्षात्रबल जिनके पास है, उनका पवित्र कर्तव्य है कि वे अपनी इस शक्ति द्वारा निर्बलों की रक्षा करें, ऊपर उठावें तथा अन्याय, अत्याचार करने वाले दुष्ट प्रकृति के लोगों से संघर्ष करने में अपने प्राणों का भी मोह न करें ।

शक्ति और सत्ता ईश्वर की कृपा से प्राप्त होने वाली एक पवित्र धरोहर है, जो मनुष्य को इसलिये दी जाती है कि वह उसके द्वारा निर्बलों के हित की रक्षा करे। जो उसके द्वारा दुर्बलों को सहायता पहुँचाने के बजाय उलटा उनका शोषण,

दमन, त्रास, उत्पीड़न करता है वह क्षत्रिय नहीं असुर है। सामर्थ्य का आसुरी उपयोग करना उस महाशक्ति का प्रत्यक्ष अपमान है और इस अपमान का फल वैसा ही भयंकर होता है जैसा महाकाली से लड़ने वाले महिषासुर आदि का हुआ था। वर्तमान युग में यह शक्ति का दुरुपयोग बहुत बढ़ गया था, जिसके फल से पिछले कुछ वर्षों मे अनेक सत्ताधारियों का पतन हो चुका है।

शक्ति की आवश्यकता

जीवन एक प्रकार का संग्राम है। इसमें घड़ी-घड़ी में विपरीत परिस्थितियों से, कठिनाइयों से, लड़ना पड़ता है। मनुष्य को अपरमित विरोधी तत्वों को पार करते हुए अपनी यात्रा जारी रखनी होती है। दृष्टि उठाकर जिधर भी देखिये उधर ही शत्रुओं से जीवन घिरा हुआ प्रतीत होगा। "दुर्बल, सबलों का आहार है।" यह एक ऐसा कड़ुआ सत्य है जिसे लाचार होकर स्वीकार करना ही पड़ता है। छोटी मछली को बड़ी मछली खाती है। बड़े वृक्ष अपना पेट भरने के लिये आस-पास के असंख्य छोटे-छोटे पौदों की खुराक झपट लेते हैं और वे बेचारे छोटे पौदे मृत्यु के मुख में चले जाते हैं। छोटे कीड़ों को चिड़ियाँ खा जाती हैं और उन चिड़ियों को बाज आदि बड़ी चिड़ियाँ मार खाती हैं। गरीब लोग अमीरों द्वारा, दुर्बल बलवानों द्वारा सताये जाते हैं। इन सब बातों पर विचार करते हुए हमें इस निर्णय पर पहुँचना होता है कि यदि सबलों का शिकार होने से, उनके द्वारा नष्ट किये जाने से, अपने को बचाना है तो अपनी दुर्बलता को हटा-कर इतनी शक्ति तो कम से कम अवश्य ही संचय करनी चाहिये कि चाहे कोई यों ही चट न कर जावे।

रोगों के कीटाणु जो इतने छोटे हैं कि आँखों से दिखाई भी नहीं पड़ते, हमारे स्वास्थ्य को नष्ट कर डालने और मार डालने के लिये चुपके-चुपके प्रयत्न करते रहते हैं। हमारे शरीर में इन्हें थोड़ी भी जगह मिल जाय तो बड़ी तीव्र गति से वे हमें बीमारी और मृत्यु की ओर खींच ले जाते हैं। जरा सा मच्छड़, मलेरिया का उपहार लिये हुए पीछे फिरा करता है, मक्खियाँ हैजा की भेंट लिये तैयार खड़ी हैं। बिल्ली घर में से खाने पीने की चीजें चट करने के लिए, चूहा कपड़े काट डालने के लिये, बन्दर बर्तन उठा ले जाने के लिये तैयार बैठा है। बाजार में निकलिये-दुकानदार खराब माल देने, कम तौलने, दूने पैसे वसूल करने, की घात लगाये बैठा है, गठकटे, ठग चोर, उचक्के, अपना-अपना दाव देख रहे हैं. ढोंगी, मुफ्तखोरे अपना जाल अलग ही बिछा रहे हैं। चोर, गुण्डे, दुष्ट, अकारण ही जलते, दुश्मनी बाँधते और नुकसान पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। हितू सम्बन्धी भी अपने-अपने स्वार्थ-साधन की प्रधानता से ही आप से हित या अनहित बढ़ाते घटाते रहते हैं।

चारों ओर मोर्चे बन्दियाँ बँधी हुई हैं, यदि आप साव-धान न रहें, जागरूकता से काम न लें, अपने को बलवान् साबित न करें तो निस्सन्देह इतने प्रहार चारों ओर से होने लगेंगे कि इनकी चोटों से अपने को बचाना कठिन हो जायगा। ऐसी दशा में उन्नति करना, आनन्द प्राप्त करना तो दूर, शोषण, अपहरण, चोट और मृत्यु से बचना मुश्किल होगा। अतएव सांसारिक जीवन में प्रवेश करते हुए इस बात को भली प्रकार समझ लेना चाहिए और समझ कर गाँठ बाँध लेनी चाहिये कि केवल जाग-रूक और बलवान व्यक्ति ही इस दुनियाँ में आनन्दमय जीवन के अधिकारी हैं। जो निर्बल, अकर्मण्य और लापरवाह स्वभाव

के हैं वे किसी न किसी प्रकार दूसरों द्वारा चूसे जायँगे और आनन्द से वंचित कर दिये जायँगे। जिन्हे अपने स्वाभाविक अधिकारों की रक्षा करते हुए प्रतिष्ठा के साथ जीने की इच्छा है उन्हे अपने दुश्मनों से सजग रहना होगा, उनसे बचने के लिये बल एकत्रित करना होगा।

जब तक आप अपनी योग्यता नहीं प्रकट करते तब तक लोग अकारण ही आपके रास्ते में रोड़े अटकावेंगे किन्तु जब उन्हें यह मालूम हो जायगा कि आप शक्ति सम्पन्न हैं तो वे जैसे अकारण दुश्मनी ठानते थे वैसे ही अकारण मित्रता भी करेंगे। बीमार के लिये पौष्टिक भोजन विष तुल्य हो जाता है किंतु स्वस्थ मनुष्य को बल प्रदान करता है। जो सिंह रास्ता चलते सीधे-साधे आदमियों को मारकर खा जाता है वहीं सिंह सरकस मास्टर के आगे दुम हिलाता है और उसकी आज्ञा का पालन करता हुआ, बहुत बड़ी आमदनी कराने का साधन बन जाता है।

अच्छे स्वास्थ्य वाले को बलवान कहते हैं,परन्तु आज के युग में यह परिभाषा अधूरी है। इस समय शरीर बल, पैसे का बल, बुद्धि का बल, प्रतिष्ठा का बल, साथियों का बल, साहस का बल यह सब मिलकर एक पूर्ण बल बनता है। आज के युग में बलवान वह है जिसके पास उपरोक्त छै बलों में से कई बल हों। आप अपने शरीर को बलवान बनाइये परन्तु साथ-साथ अन्य पाँच बलों को भी एकत्रित कीजिए। किसी के साथ बेइंसाफी करने में इन बलों का उपयोग करें ऐसा हमारा कथन नहीं है परन्तु जब आपको अकारण सताया जा रहा हो तो आत्म-रक्षा के लिए यथोचित रीति से इनका प्रयोग भी कीजिए जिससे पशुओं को दुस्साहस न करने की शिक्षा मिले। बलवान बनना पुण्य है क्योंकि इससे दुष्ट लोगों की कुवृत्तियों पर अंकुश लगता है और दूसरे कई दुर्बलों की रक्षा हो जाती है।

शक्ति बिना मुक्ति नहीं

एक महात्मा का कथन है—'सत्य ही शक्ति है, इसलिए शक्ति ही सत्य है।' अविद्या, अन्धकार और अनाचार का नाश सत्य के प्रकाश द्वारा ही हो सकता है। शक्ति की विद्युत धारा में ही यह शक्ति है कि वह मृतक व्यक्ति या समाज की नसों में प्राण-सञ्चार करे और उसे सशक्त एवं सतेज बनाये। शक्ति एक तत्व है, जिसको आह्वान करके जीवन के विभिन्न विभागों में भरा जा सकता है और उसी अङ्ग में तेज एवं सौन्दर्य का दर्शन किया जा सकता है, शरीर में शक्ति का आविर्भाव होने पर देह कुन्दन जैसी चमकदार, [illegible] जैसी गर्मी हुई, चन्दन जैसी सुगन्धित एवं अष्टधातु सी निरोग बन जाती है, बलवान शरीर का सौन्दर्य देखने ही बनता है। मन में शक्ति का उदय होने पर साधारण से मनुष्य कोलम्बस, लेनिन, गांधी, सनयातसेन जैसी हस्ती बन जाते हैं और ईसा, बुद्ध, राम, कृष्ण, मुहम्मद के समान असाधारण कार्य अपने मामूली शरीरों के द्वारा ही करके दिखा देते हैं। बौद्धिक बल की जरा-सी चिनगारियाँ बड़े-बड़े तत्व ज्ञानों की रचना करती हैं और वर्तमान युग के वैज्ञानिक आविष्कारों की भाँति चमत्कारिक वस्तुओं के अनेकानेक निर्माण कर डालती हैं, अधिक बल का थोड़ा सा प्रसाद हमारे आस-पास चकाचौंध उत्पन्न कर देता है, जिन सुख-साधनों के स्वर्गलोक में होने की कल्पना की गई है, पैसे के बल से वे इस लोक में भी प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं और सङ्गठन-बल, अहा! वह तो गजब की चीज है। "एक और एक मिलकर ग्यारह" हो जाने की कहावत पूरी सचाई से भरी हुई है। दो व्यक्ति यदि सच्चे दिल से मिल जावें, तो उनकी शक्ति ग्यारह गुनी हो जाती है।

सच्चे कर्मवीर थोड़ी संख्या मे भी आपस में मिलकर काम करें, तो वे आश्चर्यजनक कार्य कर सकते हैं। कलियुग मे तो सङ्घ को ही शक्ति कहा गया है। निस्सन्देह गुटवन्दी, गिरोहवन्दी, एका, मेल, सङ्गठन एक जादू है, जिसके द्वारा सम्वन्धित सभी व्यक्ति एक दूसरे को कुछ देते हैं और उस आदान-प्रदान से उनमें से हर एक को वल मिलता है।

आत्मा की मुक्ति भी ज्ञान-शक्ति एवं साधना-शक्तियों से ही होती है। अकर्मण्यता और निर्वल मन वाला व्यक्ति आत्मो-द्धार नहीं कर सकता और न ईश्वर को ही प्राप्त कर सकता है। लौकिक और पारलौकिन सव प्रकार के दुख-द्वन्दों से छुटकारा पाने के लिए शक्ति की ही उपासना करनी पड़ेगी। निस्सन्देह शक्ति के विना मुक्ति नहीं मिल सकती, अशक्त मनुष्य तो दुख-द्वन्दों में ही पड़े-पड़े विलविलाते रहेंगे और कभी भाग्य को, कभी ईश्वर को, कभी दुनियाँ को दोष देते हुए झूठी विडम्वना करते रहेंगे। जो व्यक्ति किसी भी दशा मे महत्व प्राप्त करना चाहते हैं उन्हे चाहिये कि अपने इच्छित मार्ग के लिये शक्ति सम्पादन करें।

(१) सच्ची लगन और (२) निरन्तर प्रयत्न यही दो महान साधनाऐं हैं, जिनसे भगवती शक्ति को प्रसन्न करके उनसे इच्छित वरदान प्राप्त किया जा सकता है। आपने जो भी अपना कार्य-क्रम वनाया हो, जो भी जीवनोद्देश्य वनाया हो, उसे पूरा करने में जी जान से जुट जाइए! सोते-जागते उसी के सम्वन्ध मे सोच-विचार करते रहिये और आगे का रास्ता तलाश करते रहिये। परिश्रम! परिश्रम!! घोर परिश्रम!!! आपको आदत में शामिल होना चाहिये। मत सोचिये कि अधिक काम करने से आप थक जाँयगे, वास्तव में परिश्रम एक स्वयं चालक शक्ति है,

अपनी बढ़ती हुई गति के अनुसार कार्य क्षमता उत्पन्न कर लेती है। उदासीन, आलसी और निकम्मे व्यक्ति दो घण्टा काम करके एक पर्वत पार कर लेने की थकान अनुभव करता है, किन्तु उत्साही, उद्यमी और अपने कार्य में दिलचस्पी लेने वाले व्यक्ति सोने के समय को छोड़कर अन्य सारे समय लगे रहते हैं और ज़रा भी नहीं थकते। सच्ची लगन, दिलचस्पी, रुचि और झुकाव एक प्रकार का डायनुमा है, जो काम करने के लिए क्षमता की विद्युत शक्ति हर घड़ी उत्पन्न करता रहता है।

स्मरण रखिये कि आपका कोई भी मनोरथ क्यों न हो, शक्ति द्वारा ही पूरा हो सकता है। इधर-उधर वगलें झांकने से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, दूसरों के भरोसे सिर भिगोने पर तो निराशा ही हाथ लगती है। अपने प्रिय विषय में सफल होने के लिए अपने पांवों पर उठ खड़े हूजिये, उसमें सच्ची लगन और दिलचस्पी पैदा कीजिए, एवं मशीन की तरह जी तोड़ परिश्रम के साथ काम में जुट जाइये, अधीर मत हूजिए, शक्ति की देवी आपके साहस की वार-वार परीक्षा लेगी, वार-वार असफलता और निराशा की अग्नि में तपावेगी तथा असली नकली की जाँच करेगी। यदि आप कष्ट, कठिनाई, असफलता, निराशा, विलम्ब आदि की परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए, तो वह प्रसन्न होकर प्रकट होगी और इच्छित वरदान वरन् उससे भी कई गुना अधिक फल प्रदान करेगी।

एक वार, दो वार नहीं, हजार वार इस वात को गिरह वोध लीजिये कि 'शक्ति के विना मुक्ति नहीं।' दुख-दरिद्र की गुलामी से छुटकारा शक्ति उपार्जन किये विना कदापि नहीं हो सकता। आप अपने लिए कल्याण चाहते हैं तो उठिए, शक्ति को वढ़ाइये, वलवान वनिये, अपने अन्दर लगन, कर्म ता और

आत्म-विश्वास पैदा कीजिये, जब आप अपनी सहायता खुद करेंगे, तो ईश्वर भी आपकी सहायता करने के लिये दौड़ा-दौड़ा आवेगा।

शक्ति का अपव्यय मत करो

ऐसे बहुत ही कम सौभाग्यशाली व्यक्ति निकलेंगे जिन्हें शक्ति जन्मजात मिली हो। अधिकांश मनुष्यों को धीरे-धीरे शक्ति अभ्यास द्वारा ही प्राप्त होती है और उसका सञ्चय करने से ही वे शक्तिशाली बन सकते हैं।

हमारी शक्ति के विकास के तीन द्वार हैं—मन, वचन और काया। इन्हीं के द्वारा हम कोई कार्य करने में समर्थ होते हैं, पर हमने अपनी शक्ति को अनेक कामों में बिखेर रखा है, इसी से हम अपने आपको कमजोर समझते हैं। यह तो मानी हुई बात है कि कोई भी वस्तु चाहे कितनी ही ताकतवर क्यों न हो, टुकड़े कर देने पर जितने टुकड़ों में वह विभक्त हुई है शक्ति का बल भी उतने ही अंशों में कम हो जायगा। इसी प्रकार हम अपने मन को अनेक सङ्कल्प-विकल्पों में बाँटे रखेंगे तो एक निश्चय पर पहुँचने में कठिनता होगी, किसी भी विषय को गम्भीरता से नहीं सोच सकेंगे उसकी तह तक नहीं पहुँच सकेंगे।

इसी प्रकार वचनशक्ति को व्यर्थ की बकवास या वाचालता में लगाए रखेंगे तो उसका कोई असर नहीं होगा। शक्ति इतनी कमजोर पड़ जायगी कि वह शक्ति के रूप में अनुभव भी नहीं की जाने लगेगी।

इसी प्रकार कायिक शक्ति को भी समझें। कहने का आशय है कि हर समय इन विविध शक्तियों का जो अपव्यय हो रहा है उसकी ओर ध्यान देकर उसे रोका जाय, उनको लक्ष्य में केन्द्रित किया जाय इससे जो कार्य वर्षों में नहीं होता वह महीनों,

दिनों, घंटों एवं मिनटों में होने लगेगा, क्योंकि जहाँ कहीं उसका प्रयोग होगा पूरे रूप से होगा। अतः उस कार्य की शीघ्र सफलता अवश्यम्भावी है।

मनः शक्ति के विकास के लिये मन की दृढ़ता जरूरी है। पचास बातों पर विचार न करके एक ही बात पर विचार किया जाय। व्यर्थ के संकल्प-विकल्पों को रोका जाय। वचन शक्ति को प्रबल करने के लिए परिमित बोला जाय, मौन रहने के लिये इधर-उधर व्यर्थ न घूमा फिरा जाय, इन्द्रियों को चंचल न बनाया जाय।

इस तरह तीनों शक्तियों को प्रबल बनाकर और निश्चित कर उन्हें लक्ष्य की ओर करने से जीवन में अद्‌भुत सफलता मिल सकेगी। लक्ष्य की प्राप्ति ही जीवन की सफलता है।

जड़ पदार्थों के अधिक समय के संसर्ग से हमारी वृत्ति बहिर्मुखी हो गई है। अतः प्रत्येक कार्य एवं कारण का मूल हम बाहर ही खोजते रहते हैं। हम यह कभी अनुभव ही नहीं करते कि आखिर कोई चीज आयेगी कहाँ से ? और देगा कौन ? यदि उसमें वह शक्ति है ही नहीं तो हम लाख उपाय करें, पर जड़ तो जड़ ही रहेगा, चेतन से सम्बन्धित होकर वह चेतना भास हो सकता है पर चेतन नहीं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का स्वभाव भिन्न है जिसका जो स्वभाव है वह उसी रूप में ही रहते हैं स्वभाव छोड़ते नहीं। उपादान नहीं है तो निमित्तादि कारण करेंगे क्या ? अतः कार्य कारण का सम्बन्ध हमें जरा अन्तर्मुखी होकर सोचना चाहिये। जो अच्छा बुरा करते हैं वह हमी करते हैं अन्य नहीं, और जब कोई विकास होता है वह अन्दर से ही होता है बाहर से नहीं। निमित्त तभी कार्यकर होते हैं, जब उपादान के साथ ही सम्बन्धित हों।

हमारी शक्ति का स्रोत हमारे अन्दर ही है । अतः उसे बाहर ढूँढ़ते फिरने से सिद्धि नहीं होगी । मृग की नाभि में कस्तूरी होती है, उसकी सुगन्ध से वह मतवाला है, पर वह उसे बाहर कहीं से आती हुई मानकर चारों ओर भटकता फिरता है, फिर भी उसे कुछ हाथ नहीं आता। इसी प्रकार हम अपने स्वरूप, स्वभाव, गुणों को भूलकर पराई आशा में भौतिक पदार्थों को जुटाकर उनके द्वारा ज्ञान,सुख,आनन्द प्राप्त करने को प्रयत्नशील हैं। यह भ्रम है। इसी भ्रम के कारण अनेकों अनन्त काल से सुख प्राप्ति के लिये भौतिक साधनों की ओर आशा लगाये बैठे रहे, पर सुख नहीं मिला । बाह्य जगत् से हम इतने अधिक घुल मिल गये हैं कि इससे अन्य एवं भिन्न भी कुछ है, इसकी कल्पना तक हमें नहीं हो पाती । जिन महा पुरुषों ने अपनी अनन्त आत्म-शक्ति को पहिचान कर उसे प्रकट की है, पूर्ण ज्ञान एवं आनन्द के भागी बने हैं उनकी सारी चिन्ताएँ विलीन हो गई हैं, आकुलता-व्याकुलता नष्ट होकर पूर्ण शान्ति प्रकट हो गई है । उनको इच्छा नहीं, आकांक्षा नहीं, अभिलाषा नहीं, आशा नहीं, चाह नहीं। अतः अन्तर्मुखी बनकर अपनी शक्ति को पहचानना और उसका विकास करना ही हम सबके लिए नितान्त आवश्यक है।

शक्ति-संचय की प्रणाली

संसार में शक्ति की आवश्यकता और महत्व को समझ कर बुद्धिमान व्यक्ति सदैव उसका संचय करने में तत्पर रहते हैं। कोई जप-तप करके आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न करते हैं, कोई व्यायाम द्वारा शारीरिक शक्ति को बढ़ाते हैं, कोई तरह-तरह की विद्याओं और कलाओं का अभ्यास करके बौद्धिक शक्ति को तीक्ष्ण करते हैं। सारांश यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को संसार में

सफलता प्राप्त करने के लिये शक्ति-सञ्चय की आवश्यकता पड़ती है। निर्बलता एक बहुत बड़ा पातक है। [illegible] व्यक्ति अपना बुरा प्रभाव जिन निकटवर्ती एवं कुटुम्बी जनों पर डालते हैं उनकी मनोवृत्ति भी उसी ढाँचे में ढलने लगती है। इस प्रकार यह छूत की बीमारी एक से दो में, दो से दस में और दस से सैकड़ों में फैलती चली जाती है। कायर, आलसी, निकम्मे निर्बल, भिखारी, दीन, दास वृत्ति के लोग अपने समान औरों को भी बना लेते हैं।

[illegible] व्यक्ति जीवन भर दुख भोगते हैं, जिसका शरीर निर्बल, है उसे बीमारियाँ सताती रहेंगी। सांसारिक सुखों से उसे वञ्चित रहना पड़ेगा। इन्द्रियाँ साथ न देंगी तो सुखदायक वस्तुऐं पास होते हुए भी उनके सुख को प्राप्त न किया जा सकेगा। जो आर्थिक दृष्टि से निर्बल है वह जीवनोपयोगी वस्तुऐं तक जुटाने में सफल न हो सकेगा, सुखी और सफल मनुष्यों के समाज में उसे दीन, हीन, गरीब समझकर तिरष्कृत किया जायगा। अनेक स्वाभाविक आकांक्षाओं को उसे मन मार कर मसलना पड़ेगा।

संसार में पाप, अनीति एवं अत्याचार की वृद्धि का अधिकांश दोष निर्बलता पर है। कमजोर भेड़ और बकरियों को माँसाहारी मनुष्य और पशु उदरस्थ कर जाते है पर भेड़िये का माँस पकाने की किसी की इच्छा नहीं होती। कमजोरी मे एक ऐसा आकर्षण है कि उससे अनुचित लाभ उठाने की हर एक को इच्छा हो आती है। नन्हे-नन्हे अदृश्य रोग कीटाणु जो हवा में उड़ते फिरते हैं उन्हीं पर आक्रमण करते है जिन्हें कमजोर देखते हैं। हम अपने चारों ओर आँख फैलाकर देख सकते हैं कि कमजोर पर हर कोई हमला करने की सोचता है। जैसे गन्दगी

इकट्ठी कर लेने से मक्खियाँ अपने आप पैदा हो जाती हैं या दूर-दूर से इकट्ठी होकर वहीं आ जाती हैं, इसी प्रकार कमजोरों से अनुचित लाभ उठाने के लिये घर के पास-पड़ौस के तथा दूर देश के व्यक्ति एकत्रित हो जाते हैं या वैसे लोग पैदा हो जाते हैं। यदि कमजोरी का अन्त हो जाय तो अत्याचार या अन्याय का भी अन्त निश्चित है।

दुर्बल मनुष्य स्वयं अपने आप में स्वस्थ विचारधारा धारण नहीं कर सकता। कारण कितने ही हैं जैसे (१) शारीरिक दृष्टि से कमजोर व्यक्ति के मस्तिष्क को पर्याप्त खून नहीं पहुँचता इसलिए वह जरा-सी बात में उत्तेजित, चिन्तित, भयभीत, कातर एवं किंकर्तव्य - विमूढ़ हो जाता है। ऐसी अस्थिर अवस्थाओं में मस्तिष्क सही निर्णय नहीं कर सकता, वह अन्धकार-पूर्ण पथ की ओर अग्रसर हो जाता है। (२) पुरुषार्थ शक्ति के अभाव में वह अभीष्ट वस्तुओं को बाहु बल से प्राप्त नहीं कर सकता, पर इच्छा उसे सताती है। इस इच्छा की पूर्ति के लिए वह अधर्म पूर्वक भोग वस्तुओं, सम्पदाओं को प्राप्त करने के लिये प्रवृत्त होता है। (३) अपनी हीन दशा और दूसरों की अच्छी दशा देखकर उसके मन में एक कसक, आत्मग्लानि, कुढ़न एवं ईर्ष्या उत्पन्न होती है, ऐसी स्थिति में दुर्भाग्य के निराशाजनक भाव या जलन की प्रतिहिंसा के घातक भाव मस्तिष्क में उठते रहते हैं। (४) अभावों के कारण जो कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं उनसे विचलित होकर मनुष्य अधर्म पर उतारू हो जाता है। (५) निर्बलता एक प्रकार का रोग है। उस रुग्ण अवस्था में विचार भी रोगी हो जाते हैं। उच्चकोटि के आध्यात्मिक विचार उस अवस्था में नहीं रह पाते। शास्त्रकार कहते हैं —"क्षीणानरा: निष्करुणा भवन्ति" अर्थात् दुर्बल मनुष्य निर्दय हो जाते हैं।

इन कारणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक उन्नति ही नहीं आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी बलवान बनना आवश्यक है। एक प्रसिद्ध कहावत है कि—"शक्ति का प्रयोग करने के लिए शक्ति का प्रदर्शन जरूरी है।" प्रकृति का, मनुष्यों का, रोगों का, शैतान का आक्रमण अपने ऊपर न हो, इसको रोकने का एक मात्र तरीका यह है कि हम अपने शारीरिक, बौद्धिक, आत्मिक बल को इतना बढ़ालें कि उसे देखते ही आक्रमणकारी पस्त हो जाँय। बल का सञ्चय अनेक आने वाली विपत्तियों से अनायास ही बचा देता है। सबलता एक मजबूत किला है जिसे देख कर शत्रुओ के मनसुवे धूलि में मिल जाते हैं।

शाक्त लोग अष्टभुजी दुर्गा की पूजा करते हैं। भवानी शक्ति की मूर्त्तियां मे हम उनकी आठ भुजाऐं देखते है। इनका तात्पर्य है कि आठ साधन हैं—(१) स्वास्थ्य, (२) विद्या, (३) धन, (४) व्यवस्था, (५) सङ्गठन, (६) यश, (७) शौर्य, (८) सत्य। हर आठों के सम्मिलिन से एक पूर्ण शक्ति बनती है, इन शक्तियो में से जिसके पास जितना भाग होगा वह उतना ही शक्तिवान समझा जायगा।

१—स्वास्थ्य की महत्ता हम सब जानते हैं कि वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल है। अस्वस्थ मनुष्य तो इस पृथ्वी का एक भार है जो दूसरो के कष्ट का कारण बनकर अपनी साँस पूरी करता है। सच्चे जीवन का स्वाद लेने से और मनुष्यता के उत्तरदायित्वों को पूरा करने से वह सर्वथा वञ्चित रह जाता है। किसी मार्ग में उन्नति करना तो दूर, उसे प्राण धारण किये रहना भी बड़ा कठिन हो जाता है। स्वास्थ्य सर्व प्रथम और सर्वोपरि बल है। इस बल के बिना अन्य सब बल निरर्थक हैं।

इसलिए स्वस्थता की ओर सबसे अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

अस्वस्थ होने के थोड़े से कारण हैं। यदि हम उनकी ओर सतर्क रहें तो बीमारी और कमजोरी से बचकर स्वाभाविक स्वस्थता प्राप्त कर सकते है। स्वास्थ्य की ओर पर्याप्त ध्यान न देना, निरोगता में पूरी दिलचस्पी न लेना, तन्दुरुस्ती के खराब होने का सब से बड़ा कारण है। रुपया कमाने मेंं, कारोबार व्यापार मे, या अन्यान्य अनेकों कामों में जितनी पैनी दृष्टि से होशियारी और दिलचस्पी से काम करते हैं यदि उसका दसवॉ भाग भी तन्दुरुस्ती की ओर ध्यान दिया जाय तो दुर्बल होने की नौबत न आवे। आमतौर से लोग शरीर को आराम देने और सजाने की तो फिक्र करते हैं, इन्द्रिय भोगों के साधन जुटाते हैं, पर यह नहीं सोचते कि चिरस्थायी स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन किस प्रकार प्राप्त हो सकता है। यदि हम धनी बनने की इच्छा की भॉति स्वस्थ एवं दीर्घजीवी बनने की भी इच्छा करे तो अवश्य ही सफल मनोरथ हो सकते हैं। धनी बनने से स्वस्थ बनना सुगम है।

स्वाद, फैशन या आराम की ओर ध्यान न देकर आरोग्य की दृष्टि से हमें अपना जीवन-क्रम बनाना चाहिए। प्रातःकाल जल्दी उठना, रात को जल्दी सोना, नियमित व्यायाम, त्वचा को खूब रगड़-रगड़ कर पूरा स्नान, मालिश, मलों की भली प्रकार सफाई, चटोरेपन को बिलकुल तिलाञ्जलि देकर सात्विक मन से कम, खूब चबाकर, प्रसन्नतापूर्वक भोजन करना, सामर्थ्य के अनुसार श्रम, चिन्ता से बचाव, वीर्य-रक्षा आदि बातों में सावधानी बरती जाय तो स्वस्थता परछाईं की भॉति साथ रहेगी। तन्दुरुस्ती हकीम-डाक्टरों की दूकानों मे या रङ्ग-बिरङ्गी शीशियों

में नहीं है वरन् आहार-विहार की सात्विकता एवं सावधानी मे है। आडम्बरी, कृत्रिम, चटोरे, प्रकृति विरुद्ध, आलसी, रहन-सहन से हम रोगी बनते हैं, उसे परित्याग करके यदि सादा, सीधी, सरल और प्रकृति अनुकूल जीवन-क्रम बनाया जाय तो स्वस्थता निश्चित रूप से हमारे साथ रहेगी।

(२) विद्या के दो विभाग है एक शिक्षा, दूसरी विद्या। सांसारिक जानकारी को शिक्षा कहते हैं जैसे भाषा, भूगोल, गणित, इतिहास, चिकित्सा, व्यापार, शिल्प, साहित्य, सङ्गीत, कला, विज्ञान, नीति, न्याय-व्यवस्था आदि। विद्या मनुष्यता के कर्तव्य और उत्तरदायित्व को हृदयङ्गम करने को कहते है। धर्म, आध्यात्म, शिष्टाचार, सेवा, पुण्य, परमार्थ, दया, त्याग, सरलता, सदाचार, संयम, प्रेम, न्याय, ईमानदारी, ईश्वर-परायणता, कर्तव्य भावना, प्रभृति वृत्तियों का जीवन मे घुल-मिल जाना विद्या है। शिक्षा और विद्या दोनों को ही प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। शिक्षा से सांसरिक जीवन की श्रीवृद्धि होती है और विद्या से, आत्मिक जीवन से सुसम्पन्नता आती है।

बौद्धिक विकाश के लिए जिज्ञासा की सबसे अधिक आवश्यकता है। जिसके मन में जानने की इच्छा उत्पन्न होती है अनेकों तर्क वितर्क उठते हैं, चिन्तन, मनन और विवाद करने में जिसे रस आता है, जो अपनी जानकारी बढ़ाने के लिए प्रयत्न शील रहता है, जिसे ज्ञान सग्रह का शौक है, जो ज्ञानवान बनने के महत्व और आनन्द से परिचित है वह नित्य प्रति अधिक ज्ञानवान होता जायगा। ज्ञानवान् बनने के अनेकों साधन उसे पग-पग पर प्राप्त होते रहेंगे। मूढ़मति के मनुष्यों को जहाँ कोई "खास बात" नहीं दिखाई पड़ती, जिज्ञासु व्यक्ति की सूक्ष्म दृष्टि वहाँ भी बहुत सी जानने योग्य बातें ढूंढ़ निकालती है। ज्ञान-

वान बनने की तीव्र आकांक्षा हुए बिना मस्तिष्क की वे सूक्ष्म शक्तियाँ संचित नहीं हो सकतीं जिनके आधार पर शिक्षा और विद्या की प्राप्ति हुआ करती है। "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" के सूत्रकार ने ज्ञान साधना का प्रथम उपाय जिज्ञासा को बताया है। जिज्ञासु होना विद्वान होने का पूर्व रूप है।

पर्यटन, यात्रा, समाचार-पत्रों को पढ़ना, विचारपूर्ण पुस्तकों का अध्ययन, सतसंग, आम लोगों की मनोवृत्तियों का अध्ययन, घटनाओं पर विचार और उनका निरूपण एवं अनुभव संपादन में रुचि लेने वाले मनुष्य बुद्धिमान हो जाते हैं। जो अपनी भूलों को ढूँढने और सही निष्कर्ष तक पहुँचने के लिये हठधर्मी से बचा कर अपने मस्तिष्क को खुला रखते हैं वे आवश्यक एवं उपयोगी ज्ञान को पर्याप्त मात्रा में एकत्रित कर लेते हैं। समर्थक और विरोधी दोनों तथ्यों को समझने और उनकी विवेचना करने के लिए जो लोग प्रस्तुत रहते हैं वे भ्रम से, अज्ञान से बचकर वास्तविकता तक पहुँच जाते हैं। अपनी जानकारी की अल्पता को समझना और अधिक मात्रा में एवं अधिक वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करने की निरंतर चाह रखना, मनुष्य को क्रमशः ज्ञानवान बनाती जाती है। ज्ञान-वृद्धि को प्राप्त करने के अवसरों को जो लोग तलाशते रहते हैं और वैसे अवसर मिलने पर उनका समुचित लाभ उठाते हैं, उनकी विद्या दिन-दिन बढ़ती जाती है।

(२) धन—समय के प्रभाव से आज पैसे का मनुष्य जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य की लघुता महानता अब पैसे के पैमाने से नापी जाने लगी है। पैसे के द्वारा सब सुख-सामग्रियाँ, सब प्रकार की योग्यता और शक्तियाँ खरीद ली जाती हैं। आज जो अनुचित, अत्यधिक महत्व पैसे को प्राप्त है, उसकी

ओर ध्यान न दिया जाय तो भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि पैसे की आवश्यकता हर एक को है। भोजन, वस्त्र एवं मकान की जरूरत पड़ती है। अतिथि सत्कार, परिवार का भरण पोषण, बच्चों की शिक्षा, विवाह, चिकित्सा, दुर्घटना, अकाल, आपत्ति, यात्रा आदि के लिये थोड़ा बहुत पैसा हर सद्‌ग्रहस्थ के पास रहना आवश्यक है।

धन उपार्जन की अनेकों प्रणाली संसार में प्रचलित हैं। उनमें से व्यापार, उत्पादन एवं निर्माण की प्रणाली सबसे उत्तम है। शिल्प, वाणिज्य, कलाकौशल, कृषि, गोपालन, दलाली आदि के द्वारा आसानी से पैसा पैदा किया जा सकता है। नौकरी—बिना पूंजी वाले और ढीले स्वभाव वालों का सहारा है। ऐसे ही किसी उत्तम कार्य से जीविका उपार्जित करनी चाहिये। न्यायोचित आधार पर समुचित जीविका प्राप्त कर लेना कुछ कठिन नहीं है।

थोड़े प्रयत्न में अधिक धन कमाने के लिये लोग चोरी, डकैती, लूट, रिश्वत, ठगी, उठाईगीरी, बेईमानी, धोखा, मिलावट, विश्वासघात, जुआ, सट्टा, लाटरी, अन्याय, शोषण, अपहरण आदि नीच निन्दित मार्गों का आश्रय ग्रहण करते हैं। इस प्रकार का धन कमाने में लोक निन्दा, राजदण्ड, शत्रुता, घृणा, प्रतिहिंसा का भय तो प्रत्यक्ष ही है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार झटके का पैसा बुरी तरह अपव्यय होता है। जो पैसा पसीना बहा कर, किफायतशारी से नहीं जमा किया गया है, उसके खर्च होने में कुछ दर्द नहीं होता। चोर, ज्वारी, ठग इस हाथ, विपुल धन कमाते हैं और उस हाथ होली में जला कर स्वाहा कर देते हैं। इस प्रकार के अपव्यय से अनेक पाप, दुर्गुण एवं बुरे उदाहरण उत्पन्न होते हैं।

इन सब बातों पर ध्यान रखते हुए परिश्रम पूर्वक ईमानदारी के साथ उचित मार्गों से धन कमाना चाहिये और किफायतशारी से कुछ बचाने का प्रयत्न करना चाहिये । सही मार्ग से धनी बनना प्रशंसनीय है। धन को जोड़ जोड़ कर विशाल राशि जमा करने में नहीं वरन् उसका ठीक समय पर आवश्यक एवं उचित उपयोग कर लेने में बुद्धिमानी है। धन को विवेक पूर्वक कमाना चाहिये और विचार पूर्वक खर्च करना चाहिये। तभी धन की शक्ति का वास्तविक लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

(४) व्यवस्था—बहुत बड़ी शक्ति है । बड़ी बड़ी सफलताऐं प्राप्त करने के लिये मनुष्य को अच्छा व्यवस्थापक होना चाहिए। जो व्यक्ति कार्य को पूरा करने का समुचित प्रबन्ध कर सकता है वह बहुत बड़ा जानकार है। धनी, विद्वान और स्वस्थ पुरुप अनेक स्थानो पर असफल रहते देखे गये हैं पर चतुर प्रबन्धक स्वल्प साधनों से बड़े बड़े कार्यों के लिए सरंजाम जुटा डालते हैं और अपनी हिम्मत, चतुरता, बुद्धिमत्ता एवं व्यवस्था के बल पर उन्हे पूरा कर लेते हैं।

(अ) दूसरों पर प्रभाव डालना, (र) उपयोगी मनुष्यों का सहयोग एकत्रित करना, (स) काम की ठीक योजना बनाना, (द) नियमित कार्य-प्रणाली का सञ्चालन करना, (ह) रास्ते मे आने वाली कठिनाइयों का निराकरण करना। यह पॉच गुण व्यवस्थापकों में देखे जाते है। वे मधुर भापण, शिष्टाचार, सद्व्यवहार, लोभ, भय आदि से दूसरों को प्रभावित करना जानते हैं। अनुपयोगी अयोग्य लोगो की उपेक्षा करके काम के आदमियों को सहयोग मे लेते हैं। लाभ और हानि के हर एक पहलू को वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अनुभव और आँकड़ों के

आधार पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने के पश्चात् वे अपने काम की योजना बनाते हैं। समय की पाबन्दी, नियमितता, ठीक समय पर ठीक कार्य करना, स्वच्छता, निरालस्यता एवं जागरूकता उनके स्वभाव का एक अङ्ग बन जाती है। दोषों को वे बारीकी से ढूँढ़ लेते हैं और उन्हे दूर हटाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं। बदलती हुई परिस्थितियों के कारण जो खतरे आते हैं उन्हें रोकने एवं शमन करने पर उनका पूरा ध्यान रखते हैं। सफल व्यवस्थापक में इस प्रकार के गुण होते हैं उनकी सूझ-बूझ व्यवहारिक होती है।

निरालस्यता, जागरूकता, स्वच्छता, नियमितता, पाबन्दी, मर्यादा का ध्यान रखने से मनुष्य के विचार और कार्य व्यवस्थित होने लगते हैं और वह धीरे-धीरे अपने क्षेत्र में एक कुशल व्यवस्थापक बन जाता है। ऐसे आदमी का दुनियाँ लोहा मानती है, सफलता उसका पानी भरती है।

(५) सङ्गठन—शास्त्रकारों ने "सङ्घशक्ति कलौयुगे" सूत्र में वर्तमान समय मे सङ्घ-शक्ति; सङ्गठन, एकता को प्रधान शक्ति माना है। जिस घर में, कुटुम्ब मे, जाति मे, देश में एकता है वह शत्रुओं के आक्रमण से बचा रहता है, एवं दिन-दिन समुन्नत होता है। फूट के कारण जो बर्बादी होती है वह जग जाहिर है। अच्छे मित्रों का, सच्चे मित्रों का समूह एक दूसरे की सहायता करता हुआ आश्चर्यजनक उन्नति कर जाता है। तन-बल, धन-बल, भुज-बल की भाँति जन-बल भी महत्वपूर्ण है। जिसके साथ दस आदमी है वह शक्तिशाली है। जन-शक्ति द्वारा बड़े दुस्तर कार्यों को आसान बना लिया जाता है।

घर मे और बाहर हर जगह मित्रता बढ़ानी चाहिए। समानता के आधार पर परस्पर सहायता करने वाला गुट बनाना

चाहिये, उसे बढ़ाना और मजबूत करना चाहिए। सङ्घ-शक्ति से, जन-बल से, जीवन विकास में असाधारण सहायता मिलती है। सङ्गठित गौओं का झुण्ड सामूहिक हमला करके बलवान बाघ को मार भगाता है।

आप सामूहिक प्रयत्नों में अधिक दिलचस्पी लीजिए। अकेले माला जपने की अपेक्षा सन्ध्या, भजन, कीर्तनों में सामूहिक रूप में सम्मिलित होना पसन्द कीजिये। अकेले कसरत करने की अपेक्षा सामूहिक खेलों में भाग लेना और अखाड़ों में जाना ठीक समझिये। सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, बौद्धिक एवं मनोरञ्जन संस्थाओं में भाग लीजिए। यदि आपके यहाँ वे न हों तो स्थापित कीजिए, अपने जैसे समान विचार के लोगों की एक मित्र-मण्डली बना लीजिये और आपस में खूब प्रेम-भाव बढ़ाइये। घर में और बाहर सच्ची मैत्री का, एकता का बढ़ाना एक महत्वपूर्ण वास्तविक लाभ है।

(६) यश—नीतिकारों का कहना है कि जिसका यश है उसी का जीवन—जीवन है। प्रतिष्ठा का, आदर का, विश्वास का, श्रद्धा का सम्पादन करना सचमुच एक बहुत बड़ी कमाई है देह मर जाती है पर यश नहीं मरता। ऐतिहासिक सत्पुरुषों को स्वर्ग सिधारे हजारों वर्ष बीत गये परन्तु उनके पुनीत चरित्रों का गायन कर असंख्यों मनुष्य अब भी प्रकाश प्राप्त करते हैं।

जो व्यक्ति अपने अच्छे आचरण और अच्छे विचारों के कारण, सेवा, साहस, सचाई एवं त्याग के कारण लोगों की श्रद्धा प्राप्त कर लेता है उसे बिना माँगे अनेक प्रकार से प्रकट और अप्रकट सहायताऐं प्राप्त होती रहती हैं। यशस्वी व्यक्ति पर कोई सङ्कट आता है तो उसका निवारण करने के लिए अनेकों व्यक्ति आश्चर्यजनक सहायता करते हैं, इस प्रकार उन्नति के लिए

आयोचित सहयोग प्राप्त करते हैं। सुख्याति द्वारा जिनने दूसरों के हृदयों को जीत लिया है, इस संसार में यथार्थ मे वे ही विजयी हैं।

प्रतिष्ठा आत्मा को तृप्त करने वाली दैवी सम्पत्ति है। बाजार में ईमानदारी एवं सचाई के लिए जिसकी ख्याति है वही व्यापारी स्थायी लाभ कमाता है। यशस्वी पर हमला करके अपने आपको सबकी निगाह मे गिरा लेने के लिए कोई बिरले ही दुस्साहस करते हैं। यह यश सद्‌गुणों से, सत्कार्यों से, सद्‌-विचारों से एवं भीतर-बाहर से विश्वस्त रहने वालों को ही प्राप्त होता है।

(७) शौर्य—साहस बाजी मारता है। हिम्मत वालों की खुदा मदद करता है। आपत्ति में विचलित न होना, सङ्कट के समय धैर्य रखना, विपत्ति के समय विवेक को कायम रखना मनुष्य की बहुत बड़ी विशेषता है। बुराइयों के विरुद्ध लड़ना, संघर्ष करना और उन्हें परास्त करके दम लेना शौर्य है। शांति अच्छी है परन्तु अशांति का अन्त करने वाली अशान्ति भी शांति के समान ही अच्छी है। कायरता की जिन्दगी से मर्दानगी की मौत अच्छी। स्वाभिमान, धर्म और मर्यादा की रक्षा के लिए मनुष्य को बहादुर होना चाहिये।

खतरे में पड़ने का चाव निर्भीकता, बहादुरी, जोश, यह सब आन्तरिक प्रेरक शक्ति के, गरम खून के, चिह्न हैं। जो फूँक फूँक कर पॉव धरते है वे सोचते और मौका ढूँढ़ते रह जाते है पर साहसी पुरुष कूद पड़ते हैं और तैर कर पार हो जाते हैं। दब्बू डरपोक, कायर, कमजोर, शङ्काशील मनुष्य सोचते और डरते रहते हैं उनसे कोई असाधारण काम नहीं हो पाता। यह पृथ्वी वीर भोग्या है। वीर पुरुषों के गले में ही यह जयमाला

पहनाई जाती है। उद्योगी सिंह पुरुष ही लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं।

मनुष्य को साहसी होना चाहिए। विपत्ति आने पर शोक, चिन्ता, भय, घबराहट को हटाकर विवेकपूर्वक उस सङ्कट के समाधान करने के लिए ठीक-ठीक सोच सकने का साहस होना मनुष्यता का लक्षण है। आततायियों से मुठभेड़ करने की बहादुरी होनी चाहिए। आगे बढ़ने के मार्ग में जो खतरे हैं उनसे उलझने में जिसे रस आता है वह शूरवीर है। जो साहसी, पराक्रमी, कर्मठ और निर्भीक है वह शक्तिवान है क्योंकि साहस रूपी प्रचण्ड शक्ति उसके हृदय मे विद्यमान है।

(८) सत्यता मे अकूत बल भरा हुआ है, साँच को कहीं आँच नहीं। सत्य इतना मजबूत है कि उसे किसी भी हथियार से नष्ट नहीं किया जा सकता। जिसके विचार और कार्य सच्चे हैं वह इस संसार का सबसे बड़ा बलवान है। उसे कोई नहीं हरा सकता, सत्यतापूर्ण हर एक कार्य के पीछे दैवी शक्ति होती है। असत्य के पैर जरा सी बात में लड़खड़ा जाते हैं और उसका भेद खुल जाता है किन्तु सत्य अडिक चट्टान की तरह सुस्थिर खड़ा रहता है। उस पर चोट करने वालों को स्वयं ही परास्त होना पड़ता है।

सदुद्देश्य, सद्भाव, सद्विचार, सत्कर्म, सत्संकल्प चाहे कितने ही छोटे रूप में सामने आवें यथार्थ में उनमें बड़ी भारी प्रभावशालिनी महानता छिपी होती है। हजार आडम्बरों से लिपटा हुआ असत्य जो कार्य नहीं करता वह कार्य सीधी और सरल सत्यता द्वारा पूरा हो जाता है। सत्यनिष्ठ पुरुष प्रभावशाली, तेजस्वी और शक्तिशाली होता है। जो सत्यनिष्ठ हैं,

मन, कर्म और वचन से सत्य परायण रहते हैं, उनके बल की किसी भी भौतिक बल से तुलना नहीं की जा सकती।

शक्ति का दैवी स्रोत

बहुत से व्यक्ति, जो अपने को स्वभाव से ही निर्बल और सामर्थहीन समझ लेते हैं, सहज में यह विश्वास कर ही नहीं सकते कि उद्योग करने से हम महान शक्तिशाली हो सकते हैं। वे अपनी वर्तमान दुर्बल अवस्था को देख यही विचार करते हैं कि हम तो सदा इसी प्रकार दबे हुए रहने को उत्पन्न हुए हैं। पर यह एक भ्रमजनित धारणा है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर एक ऐसा शक्ति-केन्द्र मौजूद है जो उसे इच्छानुसार ऊँचे स्थान पर पहुँचा सकता है, शास्त्र में कहा गया है:—

"प्रत्येकमस्ति चिच्छक्तिर्जीव शक्ति स्वरूपिणी।"

"प्रत्येक जीव में चैतन्य शक्ति (आत्मा की अनन्त और अपार शक्ति) वर्तमान है।"

शक्ति से ही मनुष्य पहले धर्म प्राप्त करता है, पुनः उसी से अर्थ सिद्ध करते हुए पुण्य सञ्चय करके कामनाओं की पूर्ति करने मे समर्थ होता है, अन्त मे इसी शक्ति से पूर्ण त्याग एवं ज्ञान के द्वारा मोक्ष पा जाता है।

अपनी शक्ति के प्रवाह का समुचित प्रयोग करना ही पुरुषार्थ है। इस प्रकार शक्ति सम्पन्नता को स्वार्थ सिद्धि के विरुद्ध दूसरों के हित में लगाते रहना ही उन्नति-पथ पर बढ़ते जाना है।

शक्ति की कहीं किसी से भीख नहीं माँगनी है, यह तो सबको स्वतः प्राप्त है। किन्तु जब तक ज्ञान, विवेक का उदय नहीं होता, तब तक देह द्वारा निरर्थक क्रिया करते हुए, प्राण

की निरर्थक चेष्टा पर ध्यान न देते हुए एवं इन्द्रियों द्वारा व्यर्थ व्यापार फैलाते हुए अथवा मन द्वारा प्रपञ्चमय विचारों को स्थान देते हुए और उनका मनन करते हुए, इसी प्रकार बुद्धि द्वारा असद्भावों को सत्य मानते हुए अपने जीवन में सुलभ शक्ति का दुरुपयोग करता रहता है।

कदाचित् हमारा जीवन सद्गुणों और सद्भावों से रहित है, तो हम शक्ति के सदुपयोग से किसी भी प्रकार के अभाव को दूर कर तुच्छ, अकिंचन से महान् हो सकते हैं।

देह, प्राण, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि के द्वारा दुरुपयोगित शक्ति का सदुपयोग होने के लिए ही पूजा, पाठ, कीर्त्तन, जप, तप और ध्यान आदि अनेकों साधनों का आश्रय लेना पड़ता है।

जिस प्रकार हमारा यह भौतिक शरीर-क्षेत्र इसी भूलोक के द्रव्यों का बना हुआ है, उसी प्रकार हमारे प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय क्षेत्र उत्तरोत्तर सूक्ष्मातिसूक्ष्म लोकों के द्वारा निर्मित हैं। प्रत्येक क्षेत्र में भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्ति है और अपने-अपने लोकों की द्रव्य-शक्ति को लेकर प्रत्येक क्षेत्र क्रिया-शील हो रहे हैं। जिस क्षेत्र में क्रिया की प्रधानता रहती है, वही क्षेत्र विशेष शक्ति-सम्पन्न होता है।

स्थूल क्षेत्र में संग्रहीत शक्ति के द्वारा स्थूल कर्म भली प्रकार सिद्ध होते रहते हैं। प्राणमय सूक्ष्म क्षेत्र में प्राण-शक्ति के द्वारा विविध विषय-वासनाओं तथा कामनाओं की पूर्ति होती रहती है। इसी प्रकार मनोमय क्षेत्र में केन्द्रित शक्ति के द्वारा विविध भाव एवं इच्छा एवं संकल्प की सिद्धि होती है। इससे भी ऊपर विज्ञानमय क्षेत्र में विकसित शक्ति के योग से अद्भुत प्रतिभायुक्त ज्ञान का प्रकाश होता है। इसी ज्ञानलोक में परमार्थ

का पथिक अपनी बिखरती हुई बहिर्मुख शक्ति को अन्तर्मुख करते हुए अपने परम लक्ष्य की ओर अग्रसर होने में समर्थ होता है ।

जिस प्रकार भौतिक-भवन को दूसरे रूप में बदलने के लिए उचित सम्पत्ति की आवश्यकता है, उसी प्रकार इच्छित रूप में अपने भाग्य-भवन को बदलने के लिये भी शक्ति और पुण्य रूपी सम्पत्ति की आवश्यकता है । तप के द्वारा शक्ति और सेवा के द्वारा पुण्य रूपी सम्पत्ति प्राप्त होती है । शक्ति के दुरुपयोग से दुर्भाग्य और सदुपयोग से सौभाग्य की प्राप्ति होती है । सांसारिक स्वार्थ को ही सिद्ध करते रहना शक्ति का दुरुपयोग है लेकिन परोपकार करते हुए अपना परमार्थ सिद्ध कर लेना शक्ति का सदुपयोग है । संसार में आसक्त रहना शक्ति का दुरुपयोग है और त्याग के द्वारा ज्ञान तथा भक्ति में अनुरक्त होना शक्ति का सदुपयोग है । अहङ्कार पूर्वक अपनी शक्ति से किसी को गिरा देना शक्ति का दुरुपयोग है और गिरे हुओं को सरल भाव से तत्परता पूर्वक उठा लेना शक्ति का सदुपयोग है ।

संयम–साधना के द्वारा शक्ति का विचार करने के लिए शक्ति के समुचित सदुपयोग की सिद्धि के लिए ही मन्दिरों में, तीर्थस्थानों में, शक्ति–पीठों में, वनों-उपवनों मे समयानुसार जाने की प्रक्रिया हमारे देश में चली आ रही है । ऐसे पावन-स्थानों में अपने अन्तः क्षेत्रों के भीतर की सुप्त शक्ति सहज प्रयास से ही जागृत हो जाती है ।

हम सबको ध्यान देकर निरीक्षण करते रहना चाहिए कि शक्ति का किसी भी क्रिया, चेष्टा, भाव एवं विचार के द्वारा दुरुपयोग हो रहा है अथवा सदुपयोग ।

इस प्रकार हम अपनी प्राप्त शक्ति की अधिकाधिक

वृद्धि कर सकते हैं। शुद्ध सात्विक आहार और विषय-संयम से शारीरिक उन्नति होती है, सद्व्यवहार एवं सद्गुण विकास से मानसिक उन्नति होती है। सन्त-सद्गुरु समागम के द्वारा प्राप्त ज्ञान से बौद्धिक उन्नति होती है और निष्काम-प्रेम एवं सत्यस्वरूप के ध्यान से आत्मोन्नति होती है।

हमें सर्व प्रथम सन्तों के सत्सङ्ग की सर्वोपरि आवश्यकता है, जिससे हम विवेक की दृष्टि प्राप्त करें, तदनन्तर हम आत्म-संयम की साधना धारण करे, क्योंकि बुद्धिसत्ता पूर्वक आत्म-संयम से ही शक्ति-सम्पन्न होकर आनन्द और शाति के परमधाम की प्राप्ति की जा सकती है।

प्रत्येक क्षेत्र में शक्ति की प्राप्ति एवं निर्बलता का अभाव ही मानवी-उत्थान अथवा शक्ति का सदुपयोग है। जब हम भय की जगह निर्भय होकर प्रत्येक कठिनाई को परास्त करने में समर्थ हो जायें और अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते ही चले जायें तथा जब हमें सदा शक्ति की महती कृपा का अनुभव होने लगे, तब हम शक्ति का सदुपयोग करने वाले व्यक्ति के रूप मे अपने आपको पाकर धन्य हो जायेंगे।

शक्ति और आध्यात्मिकता

एकाग्रता में दिव्य शक्तियों के भण्डार भरे हुए हैं। सांसारिक जीवन में मन की शक्ति से बड़े-बड़े अद्भुत कर्मों को मनुष्य पूरा करता है। इसी मनः शक्ति को जब बाहर से समेट कर अन्तर्मुखी किया जाता है और असाधारण कठिन परिश्रम द्वारा उसको सुव्यवस्थित रूप से आत्म-साधना में लगाया जाता है तो और भी अद्भुत, आश्चर्यजनक परिणाम उपस्थित होते है, जिन्हें ऋद्धि-सिद्धि के नाम से पुकारते हैं। निसन्देह आध्यात्मिक

साधना के फलस्वरूप कुछ ऐसी विशेष योग्यताऐं प्राप्त होती हैं जो सर्व साधारण में नहीं देखी जातीं। यदि इस प्रकार का विशेष लाभ न होता तो मनुष्य प्राणी जो स्वभावतः वैभव और आनन्द की तलाश करता रहता है, इन्द्रिय भोग को त्याग कर योग की कठोर साधनाओं की ओर आकर्षित न होता। रूखी, नीरस, कठोर, अरुचिकर, कष्टसाध्य साधनाएँ करने को कोई कदापि तैयार न होता यदि उसके फलस्वरूप कोई ऊंचे दर्जे की वस्तु प्राप्त न होती।

मूर्ख, अपढ़, नशेबाज, हरामी और अधपगले भिखमंगों के लिए यह कहा जा सकता है कि यह लोग बिना मेहनत पेट भरने के लिए जटा रखाये फिरते हैं। परन्तु सब के लिए ऐसा नहीं कहा जासकता। विद्या,वैभव,बुद्धि,प्रतिभा और योग्यताओं से सम्पन्न व्यक्ति जब विवेक पूर्वक सांसारिक भोग विलास से बिरत होकर आत्मसाधना में प्रवृत्त होते देखे जाते हैं तो उसमें कुछ विशेष लाभ होना ही साबित होता है। प्राचीन काल में जितने भी तपस्वी हुए हैं और आज भी जो सच्चे तपस्वी हैं वे विवेक प्रेरित होकर इस मार्ग में आते हैं। उनकी व्यापार बुद्धि ने गंभीरता पूर्वक निर्णय किया है कि भोग की अपेक्षा आत्म साधना में अधिक लाभ है। लाभ का लोभ ही उन्हें स्थूल वस्तुओं में रस लेने की अपेक्षा सूक्ष्म संपदाओं का संचय करने की ओर ले जाता है।

जो लोग सच्ची लगन और निष्ठा के साथ आध्यात्मिक साधना में प्रवृत्त हैं उनका उत्पादन कार्य अच्छी फसल उत्पन्न करता है। उनमें एक खास तौर की शक्ति बढ़ती है जिसे आत्म-बल कहते हैं। यह बल सांसारिक अन्य बातों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। प्राचीन काल में राजा विश्वामित्र की समस्त सेना

और संपदा, तपस्वी वशिष्ठ के आत्मबल के सामने पराजित होगई तो "धिक् वलं क्षत्रिय बलं, ब्रह्म तेजो बलं बलम् ।" कहते हुए विश्वामित्र राज पाट छोड़ कर आत्म-साधना के मार्ग पर चल पड़े। राजा की अपेक्षा ऋषि को उन्होंने अधिक बलवान् पाया। सांसारिक बल की अपेक्षा आत्मबल को उन्होंने महान अनुभव किया। छोटी चीज को छोड़कर लोग बड़ी की ओर बढ़ते हैं। राज त्याग कर विश्वामित्र का योगी होना इसका ज्वलन्त प्रमाण है। गौतम बुद्ध का चरित्र भी इसी की पुष्टि करता है। जो आत्म साधना में लीन हैं वे ऊँचे दर्जे के व्यापारी हैं। छोटा रोजगार छोड़ करके बड़ी कमाई में लगे हुए हैं।

शक्ति का ह्रास न होने दीजिये

शक्ति संचय करने वाले साधनों के साथ ही हमको इस बात पर भी दृष्टि रखनी चाहिये कि हमारी शक्ति निकम्मे कामों मे खर्च न हो। जैसा कहा गया है शक्ति परमात्मा की अमूल्य देन है, जिसका महत्व धन से भी बड़ा है, क्योंकि धन का उपार्जन और रक्षा भी शक्ति द्वारा ही संभव है। पर वर्तमान समय में हमारा जीवन ऐसा बहुमुखी हो गया है और कृत्रिम साधनों तथा अस्वाभाविक रहन-सहन ने ऐसी अव्यवस्था उत्पन्न करदी है कि हमारी बहुत सी शक्ति निरर्थक कार्यों में नष्ट हो जाती है।

यदि जीवन यापन ठीक तरह किया जाय तथा जीवन-तत्त्वों को ह्रास से बचाया जाय, तो मनुष्य दीर्घकाल तक जीवन का सुख लूट सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को उन खतरों से सावधान रहना चाहिए, जिनसे जीवन-शक्ति का ह्रास होता है, सर्व प्रथम मनुष्य की शक्ति का ह्रास करने वाली बात अधिक भोग-विलास है। संसार के समस्त पशु पक्षियों की प्रजनन शक्ति अत्यन्त परिमित है। वे केवल आनन्द, क्षणिक वासना के वशीभूत

होकर रमण नहीं करते, विशेष ऋतुओं में ही प्रजनन कार्य होता है। प्रकृति उन्हें विवश करती है, तब उनका गर्भाधान होता है। आज के मानव समाज ने नारी को केवल वासना-तृप्ति का साधन मात्र समझ लिया है। पति पत्नि के संयोग की मात्रा अनियमित हो रही है। हम संतानोत्पत्ति का उद्देश्य, आदर्श तथा प्रकृति का आदेश नहीं मान रहे है। फलतः समाज में आयुष्य-हीन, अकर्मण्य, निकम्मे बच्चे बढ़ रहे हैं। इन्द्रियों की चपलता, कामुकता बढ़ रही है। अधिक भोग-विलास से मनुष्य निर्बल होते जा रहे है। कामुक और कामुकता में लगे रहने वाले जीव या व्यक्तियों के बच्चे कभी बलवान्, आचारवान, संयमी, धीमान, विचारवान् नहीं हो सकते। प्रत्येक वीर्य का विन्दु शक्ति का विन्दु है। एक विन्दु का भी ह्रास शक्ति को नष्ट करना है। यदि शक्ति,जीवन तथा आरोग्य की रक्षा करना चाहते हैं तो भोग-विलास से दूर रहिए।

शक्ति का ह्रास अधिक दौड़ धूप से होता है। आधुनिक मनुष्य जल्दी में हैं। उसे हजारों काम है। प्रातः से सायंकाल तक वह व्यस्त रहता है। उसका काम ही जैसे समाप्त होने में नहीं आता। बड़े नगरों में तो दौड़ धूप इतनी बढ़ गई है कि दम मारने का अवकाश नहीं मिलता। क्लबो, होटलों में गपशप करता है, आफिस में कार्य करता है, घर के लिए सामान लाता है, बाल-बच्चों को मदरसे भेजता है, अस्पताल से दवाई लाता है। यदि आप व्यापारी हैं तो व्यापार के चक्कर मे प्रातः से सायकाल तक दौड़धूप करनी है। आज के सभ्य व्यक्ति को शान्ति से बैठकर मन को एकाग्र करने तक का अवसर नहीं मिलता। संसार के कोने कोने से अशान्ति और उद्विग्नता की चिल्लाहट सुनाई दे रही है। चित्त की चंचलता इतनी बढ़ती जा

रही है कि हम क्षुब्ध एवं सवेगशील बन रहे हैं। इस दौड़धूप में एक क्षण भी शान्ति नहीं ? यदि हम इसी उद्विग्न एवं उत्तेजित अवस्था में चलते रहें, तो जीवन में कैसे आनन्द, प्रतिष्ठा एवं शान्ति पा सकते हैं। हमारे चारों ओर का वायुमण्डल जब विक्षुब्ध है, तो आत्मा की उच्चतम शक्ति क्योंकर सम्पादन कर सकते हैं। जो व्यक्ति शक्ति सचय करना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि अधिक दौड़धूप से बचें, केवल अर्थ उत्पादन को ही जीवन का लक्ष्य न समझें, शान्तिदायक विचारों में रमण करें। जिस साधक के हृदय में शान्ति देवी का निवास है, जिसके हृदय में ब्रह्मनिष्ठा एव संतोष है, उसकी मुखाकृति दिव्य आलोक से चमकती है। जो ब्रह्मविचार में लगता है, वह अपने आपको निर्बलता, प्रलोभन, पाप से बचाता है।

शक्ति के ह्रास का तीसरा कारण है अधिक बोलना। जिस प्रकार अधिक चलने से जीवन क्षय होता है, उसी प्रकार अधिक बोलने, बातें बनाने,अधिक भाषण देने, बड़बड़ाने, गाली-गलोज देने, चिढ़कर कांव-कांव करने से लोग फेंफड़ों को कमजोर बना डालते हैं। पुनः पुनः तेज आवाज निकालने से फेफड़ों का निर्बल हो जाना स्वाभाविक है। यही नहीं, गले में खराश तथा खुश्की से खाँसी उत्पन्न होती है। खाँसी बनी रहने से क्षय रोग होकर मनुष्य मृत्यु का ग्रास होता है। प्रायः देखा गया है कि व्याख्याता, अध्यापक, लेकचरार पतले दुबले रहते हैं। यह शक्ति के क्षय का प्रत्यक्ष लक्षण है। अधिक बोलने से शारीरिक शक्ति का ह्रास अवश्यम्भावी है। यह अपनी शक्ति का अपव्यय है। अधिक बोलने की आदत से मनुष्य बकवासी बनता है, लोग उसका विश्वास नहीं करते, ढपोर शंख कहते हैं। वह प्रायः दूसरों की भली बुरी खोटी आलोचना करता है, अनावश्यक बातें

बनाता है, निंदा करता है, अपनी गंभीरता खो बैठता है, प्रायः ऐसा करने वालों का आदर कम हो जाता है। शक्ति को अपव्यय से बचाने की इच्छा रखने वालों को चाहिए कि मितभाषी बनें, मिष्ठभाषी बनें। कम बोलें किन्तु जो कुछ बोले, वह मनोहारी और दूसरे तथा अपने हृदय को प्रसन्न करने वाला हो, सारयुक्त हो, शब्द योजना सुन्दर हो, प्रेम तथा आनन्द का, आदर और स्नेह का परिचायक हो। शक्ति संचय के लिए मितभाषी बनिये। आध्यात्म चिन्तन, पठन पाठन, अध्ययन मौन, मितभाषी बनने के सुन्दर उपाय हैं।

शक्ति को नष्ट करने के दुष्परिणाम

शक्ति के नाश के अनेक कारणों में विषय-लोलुपता कदाचित सबसे बड़ा कारण है। प्रायः देखा जाता है कि शक्ति-सम्पन्न व्यक्तियों में काम-वासना का विकार विशेष रूप से उत्पन्न हो जाता है जिसके फलस्वरूप वे अपनी शक्ति को नष्ट कर डालते हैं और दूसरों को भी हानि पहुँचाते हैं।

सौन्दर्य, शक्ति, यौवन और धन संसार की चार दिव्य विभूतियाँ है। ईश्वर ने इन शक्तियों की सृष्टि इस मन्तव्य से की है कि इनकी सहायता एवं विवेकशील प्रयोग के द्वारा मानव धीरे-धीरे उत्थान एवं समृद्धि के शिखर पर पहुँच जाय। वास्तव में इन दैवी विभूतियों के सदुपयोग द्वारा मनुष्य शारीरिक, बौद्धिक एवं मानसिक शक्तियों का चरम-विकास कर सकता है। मानव व्यक्तित्व के विकास में ये पृथक-पृथक अपना महत्व रखती हैं।

भगवान के गुण स्वरूप की कल्पना में हम सौन्दर्य शक्ति एवं चिर यौवन को महत्ता प्रदान करते हैं। हमारी कल्पना में परमेश्वर

सौन्दर्य के पुञ्ज है, शक्ति के अगाध सागर हैं, चिर युवा हैं, अक्षय हैं। लक्ष्मी उनकी चेरी है। ये ही गुण मानव-जगत में हमारी सर्वतोमुखी उन्नति मे सहायक हैं। जिन-जिन महापुरुषों को इन शक्ति-केन्द्रों का ज्ञान हुआ और जैसे-जैसे उन्होंने इनका विवेकपूर्ण उपयोग किया, वैसे-वैसे उनकी उन्नति होती गई। किन्तु जहाँ इनका दुरुपयोग हुआ, वहीं पतन प्रारम्भ हुआ। वह पतन भी इतना भयङ्कर हुआ कि अन्तिम सीमा तक पहुँच गया और उनका सर्वनाश इतना पूरा हुआ कि बचाव सम्भव न हो सका।

शक्ति का दुरुपयोग मनुष्य को राक्षस बना सकता है। रावण जाति का ब्राह्मण बुद्धिमान,तपस्वी राजा था किंतु शक्ति का मिथ्या दम्भ उस पर सवार हो गया। पण्डित रावण राक्षस रावण बन गया। उसकी वासना उत्तेजित हो गई। जितना उसने वासनाओं की पूर्ति करने का प्रयत्न किया, उससे दुगने वेग से वह उद्दीप्त हुई। शक्ति उसके पास थी। वासना की पूर्ति के लिये रावण ने शक्ति का दुरुपयोग किया। अन्त मे अपनी समस्त शक्ति के बावजूद रावण का क्षय हुआ। शक्ति के दुरुपयोग से न्याय का गला घुट जाता है, विवेक दब जाता है, मनुष्य को निज कर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता, वह मदहोश हो जाता है और उसे सत्-असत् का अन्तर प्रतीत नहीं होता।

गायत्री माता स्वयं शक्ति-स्वरूपिणी है और उसकी उपासना से हम सब प्रकार की शक्तियों को प्राप्त कर सकते हैं। पर शर्त यही है कि जो शक्ति प्राप्त की जाय उसका सदुपयोग ही किया जाय। दुरुपयोग करने से तो उसका परिणाम महाभयानक होता है और उससे हमारा सासारिक पतन ही नहीं होता वरन् हम आध्यात्मिक दृष्टि से भी अत्यन्त निम्न स्तर पर पहुँच जाते हैं।

———

जीवन को सुख-शान्तिमय बनाने वाला साहित्य

(मूल्य प्रत्येक पुस्तक का छ –छः आना है)

१–सूर्यचिकित्सा विज्ञान २-प्राणचिकित्सा विज्ञान ३-स्वस्थ बनने की विद्या ४-भोग में योग ५–बुद्धि बढाने के उपाय ६–आसन और प्राणायाम ७–तुलसी के अमृतोपम गुण ८–महान जागरण ९–तुम महान हो १०–घरेलू चिकित्सा ११-दीर्घ जीवनके रहस्य १२–नेत्रों की प्राकृतिक चिकित्सा १३–स्वप्न दोष की मनो-वैज्ञानिक चिकित्सा १४–दूधकी आश्चर्यजनक शक्ति १५–उन्नति का मूलमन्त्र ब्रह्मचर्य १६–उपवासके चमत्कार १७–स्त्री रोग चिकित्सा १९–बालरोग चिकित्सा २०–कब्ज की चिकित्सा २१–निरोग जीवन का राजमार्ग २२–चिरस्थाई यौवन २३–सौन्दर्य बढ़ाने के ठोस उपाय २४–मनुष्य शरीर की बिजली के चमत्कार २५-पुत्र-पुत्री उत्पन्न करने की विधि २५–हमारी पारिवारिक समस्याएँ २६–मन चाही सन्तान २७–दाम्पत्ति जीवन का सुख २८–हमारी आन्तरिक शत्रु २९–क्याखायें ? क्योंखायें ? कैसेखायें ? ३०-हमारे सभ्यताके कलङ्क ३१–धनवान बनने के गुप्त रहस्य ३२-मरने के बाद हमारा क्या होता है ? ३३-मित्रभाव बढ़ानेकी कला ३४–आकृति देखकर मनुष्य की पहिचान ३५–हमें स्वप्न क्यों दीखते हैं ? ३६–विचार करने की कला ३७–हम वक्ता कैसे बन सकते हैं ? ३८–सफलताके तीन साधन ३९–जिंदगी कैसे जिएँ ४०–प्रसिद्धि और समृद्धि ४१–ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ? ४२–क्या धर्म ? क्या अधर्म ? ४३–ईश्वर और स्वर्ग प्राप्ति का सच्चा मार्ग ४४–भारतीय संस्कृति का बीज मंत्र यज्ञोपवीत ४५–यज्ञोपवीत द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति ४६–मैं क्या हूँ ? ४७–वशीकरण की सच्ची सिद्धि ४८–ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग ।

'अखण्ड-ज्योति' प्रेस, मथुरा ।

धन का सदुपयोग

श्रीराम

लेखक—
श्रीराम शर्मा आचार्य
गायत्री तपोभूमि, मथुरा।

ॐ भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि
धियो योनः प्रचोदयात्।

प्रकाशक—
"अखण्ड ज्योति" प्रेस, मथुरा।

प्रथम बार] सन् १९५८ [मूल्य ।)

धन का सदुपयोग

गायत्री का चौथा अक्षर 'वि' हमको धन के सदुपयोग की शिक्षा देता है :—

विक्त शक्तातु कर्तव्य उचिताभाव पूर्तयः।
न तु शक्त्या न या कार्य दर्पोद्धात्य प्रदर्शनम् ॥

अर्थात्—"धन उचित अभावों की पूर्ति के लिये है, उसके द्वारा अहङ्कार तथा अनुचित कार्य नहीं किए जाने चाहिए।"

धन का उपार्जन केवल इसी दृष्टि से होना चाहिए कि उससे अपने तथा दूसरों के उचित अभावों की पूर्ति हो। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के विकास के लिए और सांसारिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति के लिए धन का उपयोग होना चाहिए और इसीलिए उसे कमाना चाहिए।

धन कमाने का उचित तरीका वह है जिसमें मनुष्य का पूरा शारीरिक और मानसिक श्रम लगा हो, जिसमें किसी दूसरे के हक का अपहरण न किया गया हो, जिसमें कोई चोरी, छल, प्रपञ्च, अन्याय, दबाव आदि का प्रयोग न किया गया हो। जिससे सम्मान और राष्ट्र का कोई अहित न होता हो, ऐसी ही कमाई से उपार्जित पैसा फलता-फूलता है और उससे मनुष्य की सच्ची उन्नति होती है।

जिस प्रकार धन के उपार्जन में औचित्य का ध्यान रखने की आवश्यकता है, वैसे ही उसे खर्च करने में, उपयोग में भी साबधानी बरतनी चाहिए। अपने तथा अपने परिजनों के आव-श्यक विकास के लिये धनका उपयोग करना ही कर्तव्य है। शान-

शौकत दिखलाने अथवा दुर्व्यसनों की पूर्ति के लिये धन का अपव्यय करना मनुष्य की अवनति, अप्रतिष्ठा और दुर्दशा का कारण होता है।

अपनी उचित शारीरिक, मानसिक, आत्मिक और सांसारिक आवश्यकताओं की उपेक्षा करके जो लोग अधिकाधिक धन इकट्ठा करने की तृष्णा में डूबे रहते हैं और सात पुश्त के लिये अमीरी छोड जाना चाहते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं। मुफ्त की दौलत मिलने से आगामी संतान आलसी, व्यसनी, अपव्ययी तथा अन्य बुराइयों की शिकार बन सकती है। जिसने जिस पैसे को पसीना बहा कर नहीं कमाया है, वह उसका मूल्याङ्कन नहीं कर सकता। बच्चों के लिए सम्पति जोड़ कर रख जाने के बजाय उनको सुशिक्षित, स्वस्थ और स्वावलम्बी बनाने में खर्च करना अधिक उत्तम है।

धन की तृष्णा से बचिये

धन कोई बुरी चीज नहीं है और खासकर वर्तमान समय मे दुनियां का स्वरूप ही ऐसा हो गया है कि बिना धन के मनुष्य का जीवन-निर्वाह संभव ही नहीं। पर धन तभी तक शुभ और हितकारी है जब तक उसे ईमानदारी के साथ कमाया जाय और उसका सदुपयोग किया जाय। इसके विपरीत यदि हम धन कमाने और चारों तरफ से उसे बटोर कर अपनी तिजोरी मे बंद करने को ही अपना लक्ष्य बना लेते हैं, अथवा यह समझ कर कि हम अपनी सम्पति का चाहे जैसा उपयोग करें उसे दुर्व्यसनों की पूर्ति मे खर्च करते है, तो वह हमारे लिये अभिशाप स्वरूप बन जाता है। ऐसा मनुष्य अपना पतन तो करता ही है, साथ ही दूसरे लोगों को उनके उचित अधिकार से वंचित करके उनकी विपत्ति का कारण भी बनता है। आजकल तो हम यही देख रहे

है कि जिसमें चतुरता एवं शक्ति की तनिक भी अधिकता है वह कोशिश करता है कि मैं संसार की अधिक से अधिक सुख सामिग्री अपने कब्जे में करलूॅ। अपनी इस हविस को पूरा करने के लिए वह अपने पडौसियों के अधिकारों के ऊपर हमला करता है और उनके हाथ की रोटी, मुख के ग्रास छीनकर खुद मालदार बनता है।

एक आदमी के मालदार बनने का अर्थ है अनेकों का क्रन्दन, अनेकों का शोषण, अनेकों का अपहरण। एक ऊँचा मकान बनाया जाय तो उसके लिए, बहुत-सी मिट्टी जमा करनी पड़ेगी और जहॉ-जहॉ से वह मिट्टी उठाई जायगी वहाँ-वहाँ गड्ढा पड़ना निश्चत है। इस संसार में जितने प्राणी है उसी हिसाब से वस्तुऐं भी परमात्मा उत्पन्न करता है। यदि एक आदमी अपनी जरूरत से अधिक वस्तुऐं जमा करता है तो इसका अर्थ--दूसरों की जरूरी चीजों का अपहरण ही हुआ। गत द्वितीय महायुद्ध में सरकारों ने तथा पूॅजीपतियो ने अन्न का अत्यधिक स्टाक जमा कर लिया, फल स्वरूप दूसरी जगह अन्न की कमी पड़ गई और बङ्गाल जैसे प्रदेशो मे लाखों आदमी भूखे मर गये। गत शताब्दी में ब्रिटेन की धन सम्पन्नता भारत भारत जैसे पराधीन देशों के दोहन से हुई थी। जिन देशों का शोषण हुआ था वे वेचारे दीनदशा में गरीबी, बेकारी, भुखमरी और बीमारी से तबाह हो रहे थे।

वस्तुऐं संसार में उतनी ही हैं, जिससे सब लोग समान रूप से सुख पूर्वक रह सकें। एक व्यक्ति मालदार बनता है तो यह हो नहीं सकता कि उसके कारण अनेकों को गरीब न बनना पड़े। यह महान् सत्य हमारे पूजनीय पूर्वजों को भली भॉति विदित था इसलिए उन्होंने मानव धर्म में अपरिग्रह को महत्वपूर्ण स्थान दिया था। वस्तुओं का कम से कम संग्रह करना यह

भारतीय सभ्यता का आदर्श सिद्धान्त था। ऋषि गण कम से कम वस्तुऐं जमा करते थे। वे कोपीन लगा कर फूंस के झोंपड़ों में रह कर गुजारा करते थे। जनक जैसे राजा अपने हाथों खेती करके अपने पारिवारिक निर्वाके लायक अन्न कमाते थे। प्रजा का सामूहिक पैसा—राज्य कोप—केवल प्रजा के कामों मे खर्च होता है। व्यापारी लोग अपने को जनता के धन का ट्रष्टी समझते थे। और जब आवश्यकता पड़ती थी उस धन को बिना हिचकिचाहटके जनता को सौप देते थे। भामाशाह ने राणाप्रताप को प्रचुर सम्पदा की थी। जनता की थाती को, जनता की आवश्यकता के लिए बिना हिचकिचाहट सोंप देने के असंख्यों उदाहरण भारतीय इतिहास के पन्ने-पन्ने पर अङ्कित हैं।

आज का दृष्टिकोण दूसरा है। लोग मालदार बनने की धुन में अन्धे हो रहे हैं। नीति अनीति का, उचित अनुचित का, धर्म अधर्म का प्रश्न उठा कर ताक मे रख दिया गया है और यह कोशिसें हो रही हैं कि किस प्रकार जल्द-जल्द से जल्द धनपति बन जायें! धन!! अधिक धन!!! जल्दी धन! धन!! धन!!! इस रट को लगाता हुआ, मनुष्य होश हवास भूल गया है। पागल स्यार की तरह धन की खोज में उन्मत्त सा होकर चारों ओर दौड़ रहा है।

पाप एक छूत की बीमारी है। जो एक से दूसरे को लगती और फैलती है। एक को धनी बनने के लिए यह अन्धा धुन्धी मचाते हुए देख कर और अनेकों की वैसी इच्छा होती है। अनुचित रीति से धन जमा करने वाले लुटेरों की संख्या बढ़ती है—फिर लुटने वाले और लूटने वालों में संघर्ष होता है। उधर लूटने वालोंमें प्रतिद्वन्द्वताका संघर्ष होता है। इस प्रकार तीन मोर्चों पर लड़ाई ठन जाती है। घर-घर में गॉव-गॉव में जाति मे, वर्ग में तनातनी हो रही है। जैसे बने वैसे जल्दी से

जल्दी धनी बनने, व्यक्तिगत सम्पन्नता को प्रधानता देने, का एक ही निश्चित परिणाम है—कलह। जिसे हम अपने चारों ओर ताण्डव नृत्य करता हुआ देख रहे हैं।

इस गतिविधि—को जब तक मनुष्य जाति न बदलेगी तब तक उसकी कठिनाइयों का अन्त न होगा। एक गुत्थी सुलझने न पावेगी तब तक नई गुत्थी पैदा हो जायगी। एक संघर्ष शान्त न होने पावेगा तब तक नया संघर्ष आरम्भ हो जावेगा। न लूटने वाला सुख की नींद सो सकेगा न लुटने वाला चैन से बैठेगा। एक का धनी बनना, अनेकों के मन में ईर्षा की, डाह की, जलन की आग लगाना है। यह सत्य सूर्य-सा प्रकाशवान् है कि एक का धनी होना अनेकों को गरीब रखना है। इस बुराई को रोकने ने लिए हमारे पूर्वजों ने अपरिग्रह का स्वेच्छा स्वीकृत शासन स्थापित किया था। आज की दुनियाँ राज सत्ता द्वारा समाजवादी प्रणाली की स्थापना करने जा रही है।

वस्तुतः जीवनयापन के लिए एक नियत मात्रा में धन की आवश्यकता है। यदि लूट खसोट बन्द हो जाय तो बहुत थोड़े प्रयत्न से मनुष्य अपनी आवश्यक वस्तुएँ कमा सकती है। शेष समय में विविधि प्रकार की उन्नतियों की साधना की जा सकती है। आत्मा मानव शरीर को धारण करने के लिए जिस लोभ से तैयार होती है, प्रयत्न करती है उस रस को अनुभव करना उसी दशा में सम्भव है जब धन संचय का बुखार उतर जाय और उस बुखार के साथ-साथ जो अन्य अनेकों उपद्रव उठते हैं उनका अन्त हो जाय।

परमात्मा समदर्शी है। वह सब को समान सुविधा देता है। हमें चाहिए कि भौतिक पदार्थो का उतना ही संचय करें जितना उचित रीति से कमाया जा सके और वास्तविक आवश्यकताओं के लिये काफी हो। इससे अधिक सामिग्री के संचय की

तृष्णा न करें क्योंकि यह तृष्णा ईश्वरीय इच्छा के विपरीत तथा कलह उत्पन्न करने वाली है।

धन विपत्ति का कारण भी हो सकता है?

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान समय में संसार के अधिकांश लोगों ने धन के वास्तविक दर्जे को भूल कर उसे बहुत ऊँचे आसन पर बैठा दिया है। आजकल की अवस्था को देख कर तो हमको यही प्रतीत होता है कि मानव जीवन का सबसे बड़ा शत्रु धन ही है यह स्वीकार करना होगा। ईसामसीह ने गलत नहीं लिखा है कि 'धनी का स्वर्ग में प्रवेश पाना असम्भव है।' इसका अर्थ केवल यही है कि धन मनुष्य को इतना अन्धा कर देता है कि वह संसार के सभी कर्तव्यों से गिर जाता है। धन का इसी में महत्त्व है कि वह लोक-सेवा में व्यय हो। नहीं तो, धन के समान अनर्थकारी और कुछ भी नहीं है। श्रीमद्भागवत में कहा है—

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥

(११।२३।१८-१९)

'(धन) से ही मनुष्यों में ये पन्द्रह अनर्थ उत्पन्न होते है—चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, मद भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जूआ और शराब। इसलिये कल्याणकामी पुरुष को 'अर्थ' नामधारी—अनर्थ को दूर से ही त्याग देना चाहिये।'

आज संसार में बहुत ही कम लोग सुखी कहे जा सकते हैं। भूतकाल में हमारा जीवन केवल रोटी कमाने में बीता।

अब हमको समाज में अपना स्थान कमाने में विताना चाहिये। केवल धन और समृद्धि ही जीवन का लक्ष्य नहीं होना चाहिये। लक्ष्य होना चाहिये कभी भी दुखी न रहना। हरेक के जीवन में सबसे महान् प्रेरणा यह होनी चाहिये कि हमारा जीवन प्रकृति के अधिक से अधिक निकट हो और तर्क तथा बुद्धि से दूर न हो। हमको अपने जीवन में काम करने का आदर्श समझ लेना चाहिये। यह आदर्श पेट का धंधा नहीं, सेवा होनी चाहिये। सर्वकल्याण, समाज सेवा, सामाजिक जीवन तथा शिक्षा ही हमारा कार्यक्षेत्र हो। हमको ऐसे युग की कल्पना करनी चाहिए, जब हमारा जीवन केवल जीविका-उपार्जन न रह जाय। जीवन केवल अर्थ शास्त्र या प्रतिस्पर्द्धा की वस्तु न रह जाय। व्यापार के नियम बदल जायँ। एक काम के अनेक करने वाले हों और अनेक व्यक्ति एक ही काम को अपना सकें। मालिक और नौकर में काम करने के घण्टों की झिकझिक दूर हो। मनुष्य केवल मनुष्य ही नहीं है, उसकी आत्मा भी है, उसका देवता भी है, उसका इह-लोक और परलोक भी है।

यदि हम अपने तथा दूसरों के हृदय के भीतर पैठकर यह सब समझ जांय, तो हमारा जीवन कितना सुखी हो जायगा! पर, आज हम ऐसा नहीं करते हैं। यह क्यों? इसका कारण धन की विपत्ति है। धन की दुनियाँ में निर्धन का व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है। जब तक अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर न मिले, आदमी सुखी नहीं हो सकता। यह सभ्यता व्यक्तित्व के विकास को रोकती है, विना उसके विकसित हुए सुख नहीं मिल सकता। सुख वह इत्र है, जिसे दूसरों को लगाने के पहले अपने को लगाना आवश्यक होता है। यह इत्र तभी बनता है, जब हम अपने हरएक कार्य को दूसरे की सहायता के भाव से करें। हमें चाहे अपनी इच्छाओं का दमन ही क्यों न करना पड़े, पर हमें

दूसरे के सुख का आदर करना पड़ेगा । सुख का सबसे बड़ा साधन निःस्वार्थ सेवा ही है।

संसार मे रुपये के सबसे बड़े उपासक यहूदी समझे जाते हैं । पर यहूदी समाज मे भी अब धन के विरुद्ध जेहाद शुरू हो गया है' 'यरुशलम-मित्र सङ्घ' की ओर से 'चूज' यानी 'पसन्द कर लो' शीर्षक एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसका लक्ष्य है—"तुम ईश्वर तथा शैतान दोनों की एक साथ उपासना नहीं कर सकते ।' इसके लेखक श्री आर्थर ई० जोन्स का कहना है कि 'न जानेकिस कुघड़ीमें रुपया-पैसा संसारमें आया,जिसने आज हमारे ऊपर ऐसा अधिकार कर लिया है कि हम उसके अङ्ग बन गये हैं । यदि मैं यह कहूँ कि संसार की समृद्धि मे सबसे बड़ी बाधा धन यानी रुपया है, तो पुराने लोग चकपका उठेंगे । किन्तु आज संसार में जो भी कुछ पीड़ा है, वह इसी नीच देवता के कारण है । खाद्य-सामिग्री का सङ्कट, रोग-व्याधि—सबका कारण यही है । चूँकि सभी सुख की वस्तुएँ इसी से प्राप्त की जा सकती हैं, इसीलिए संसार में इतना कष्ट है । जितना समय उपभोग की सामिग्री के उत्पादन मे लगता है, उससे कई गुना अधिक समय उन वस्तुओं के विक्रय के दाँव पेंच में लगता है । व्यापार की दुनियां मे ऐसे करोड़ो नर-नारी व्यस्त हैं, जो उत्पत्ति के नाम पर कुछ नहीं करते ।

'विपत्ति यह है कि आदमी एक दूसरे को प्यार नहीं करते । यदि अपनाने की स्वार्थी भावना के स्थान पर प्रतिदान की भावना हो जाय तो हरएक वस्तु का आर्थिक महत्व समाप्त हो जाय । आज लाखों आदमी हिसाब-किताब, बही-खाते के काम में परेशान हैं और लाखों आदमी फौज, पल्टन या पुलिस में केवल इसलिए नियुक्त हैं कि बही-खाते वालों की तथा उनके कोष की रक्षा करें । जेल तथा पुलिस की आवश्यकता रुपये की

दुनियाँ में होती है। यदि यही लोग स्वयं उत्पादन के काम में लग जायँ तथा अपनी उत्पत्ति का आर्थिक मूल्य न प्राप्त कर शारीरिक सुख ही प्राप्त कर सकें, तो संसार कितना सुखमय हो जायगा। आज संसार में अटूट सम्पत्ति उच्च अट्टालिकाओं में, बैंक तथा बीमा कम्पनियों के भवनों में, सेना, पुलिस, जेल तथा रक्षकों के दल में लगी हुई है। यदि इतनी सम्पत्ति और उसका बढ़ता हुआ मायाजाल संसार का पेट भरने में खर्च होता तो आज की दुनियाँ कैसी होती। अस्पतालों में लाखों नर-नारियां रुपये की मार से या अभाव से बीमार पड़े है तथा लाखों नर-नारी धन के लिए जेल काट रहे हैं। प्रायः हर परिवार में इसका झगड़ा है। मालिक तथा नौकर में इसका झगड़ा है। यदि धनकी मर्यादा न होती, तो यह संसार कितना मर्यादित हो जाता।'

यह सत्य है कि संसार से पैसा एकदम उठ जाय, ऐसी सम्भावना नहीं होती। पर पैसे का विकास, उसकी महत्ता तथा उसका राज्य रोका अवश्य जा सकता है। इसके लिए हमको अपना मोह तोडना होगा, स्वार्थ के स्थान पर पदार्थ, समृद्धि के झूठे सपने के स्थान पर त्याग तथा भाग्य के स्थान पर भगवान की शरण लेनी होगी। नहीं तो आज की हाय-हाय हमारे जीवन का सुख नष्ट कर चुकी है, अब हमारी आत्मा को भी नष्ट करने वाली है। हमें सब कुछ खोकर भी अपनी आत्मा को बचाना है।

धन के प्रति उचित दृष्टिकोण रखिए

बात यह कि भ्रमवश हम रुपये पैसे को धन समझ बैठे, स्थावर सम्पत्ति का नामकरण, हमने धन के रूप में कर डाला और हमारे जीवन का केन्द्र-बिन्दु, आनन्द का स्रोत इस जड़ स्थावर जङ्गम के रूप में सामने आया। हमारा प्रवाह गलत मार्ग पर चल पड़ा।

क्या हमारे अमूल्य स्वांस प्रश्वास की कुछ क्रियाओं की तुलना या मूल्याङ्कन त्रैलोक्य की सम्पूर्ण सम्पत्ति से की जा सकती है? कारूँ का सारा खजाना जीवन रूपी धन की चरण रज से भी अल्प क्यों न माना जाय! सच्चा धन हमारा स्वास्थ्य है विश्व की सम्पूर्ण उपलब्ध सामिग्री का अस्तित्व जीवन धन की योग्य शक्ति पर ही अवलम्बित हैं। मानव अप्राप्य के लिए चिन्तित तथा प्राप्य के प्रति उदासीन है। हमारे पास जो है,—उसके लिए वह सुख का स्वांस नहीं लेता, सन्तोष नहीं करता, वरन् क्या नहीं है इसके लिए वह चिन्तित दुःखी व परेशान है। मानव स्वभाव की अनेक दुर्बलताओं में प्राप्य के प्रति असन्तोषी रहना सहज ही स्वभावजन्य पद्धति मानी गई।

मानव आदि काल से ही मस्तिष्क का दिवालिया रहा। देखिये न, एक दिन एक हृष्ट-पुष्ट भिक्षुक, जिसका स्वस्थ शरीर सबल अभिव्यक्ति का प्रतीक था, एक गृहस्थ ज्ञानी के द्वार पर आकर अपनी दरिद्रता का, अपनी अपूर्णता का बड़े जोरदार शब्दों मे वर्णन सुना रहा था, जिससे पता चलता था कि वह व्यक्ति महान् निर्धन हैं, और इसके लिए वह विश्व निर्माता ईश्वर को अपराधी करार दे रहा था। अचानक ज्ञानी गृहस्थी ने कहा--भाई हमें अपने छोटे भाई के हेतु आँख की पुतली की दरकार है, १००) लेकर आप हमें देवें। भिक्षुक ने तपाक से नमकारात्मक उत्तर दिया कि वह दस हजार रुपये तक भी अपने इस बहुमूल्य शरीर के अवयवों को देने को तैयार नहीं। कुछ क्षण बाद पुनः ज्ञानी गृहस्थ ने कहा--मेरे पुत्र का मोटर दुर्घटना में बांया पाँव टूट चुका है अतः दस हजार रु० आप नगद लेकर आज ही अस्पताल चलकर अपना पैर देवेंगे तो बडी कृपा होगी। इस प्रश्न पर वह भिक्षुक अत्यन्त ही क्रोधित मुद्रा में

होकर बोला दस हजार तो दरकिनार रहे, एक लाख क्या दस लाख तक मैं अपने बहुमूल्य अवयवों को नहीं देऊँगा और रुष्ट होकर जाने लगा। गम्भीरता के साथ ज्ञानी ने रोककर कहा— भाई तुम तो बड़े ही धनी हो जब तुम्हारे दो अवयवों का मूल्य लगभग ५० लाख रुपये के होता है तो भला सम्पूर्ण देह का मूल्य तो अरबों रुपये तक होगा। तुम तो अपनी दरिद्रता का ढिंढोरा पीटते हो, अरे लाखों को ठोकर मार रहे हो, अतः जीवन धन अमूल्य है।

हम अपना दृष्टिकोण ठीक बनावें। मिट्टी के ढेलों को जड वस्तु को धन की उपमा देकर उसकी रक्षा के लिए सन्तरी तैनात किए, विशाल तिजोरियों के अन्दर सुरक्षित किया। चोरों से डाकुओं से किसी भी मूल्य पर हमने उसे बचाया, परन्तु प्रति-दिन नष्ट होने वाला, हमारी प्रत्येक दैनिक, अशोभ्य क्रियाओं द्वारा घुल-घुलकर मिटने वाला यह जीवन दीप, बिना तेल के बुझ जावेगा। 'निर्वाण दीपे किम् तैल्य दानम्' फिर क्या होने वाला है, जबकि दीपक बुझ जाय। हमें आलस्य अकर्मण्यता आदि स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने वाली दैनिक क्रियाओं द्वारा इस जीवन धन की रक्षा करनी होगी। व्यसन व्यभिचार संयम हीनता, के डाकू कहीं लूट न लें। सतर्कता के साथ जागरूक रहना होगा। रुग्ण शय्या पर पड़े रोम के अन्तिम सम्राट को राजवैद्य द्वारा अन्तिम निराशाजनक सूचना पाने पर कि वह केवल कुछ क्षणों के ही मेहमान हैं आस-पास के मन्त्रियों से साम्राज्ञीने कई बार मिन्नतें की कि वे साम्राज्य के कोप का आधा भाग वैद्य के चरणों में भेंट करने को तैयार है अगर उन्हें वे दो घण्टे जीवित और रखें। उत्तर था—"त्रैलोक्य की सम्पूर्ण राज्य—लक्ष्मी—भी—सम्राट को निश्चित क्षण से एक स्वांस भी अधिक देने में असमर्थ है।" क्या हमारी आँखों के ज्ञान की

ज्योति बुझ चुकी है ? क्या उपरोक्त कथन से स्पष्ट नहीं होता है कि जीवन धन अमूल्य है बहुमूल्य है, तथा अखिल ब्रह्माण्ड की किसी भी वस्तु की तुलना में यह महान है ?

धन का सच्चा स्वरूप

धन इसलिए जमा करना चाहिए कि उसका सदुपयोग किया जा सके और उसे सुख एवं सन्तोष देने वाले कामों में लगाया जा सके, किन्तु यदि जमा करने की लालसा बढ़कर तृष्णा का रूप धारण करले और आदमी बिना धर्म-अधर्म का खयाल किए पैसा लेने या आवश्यकताओं की उपेक्षा करके उसे जमा करने की कंजूसी का आदी होजाय तो वह धन धूलके बराबर है। हो सकता है कि कोई आदमी धनी बन जाय, पर उसमें मनुष्यता के आवश्यक गुणों का विकास न हो और उसका चरित्र अत्याचारी, बेईमान या लम्पटों जैसा बना रहे। यदि धन की वृद्धि के साथ-साथ सद्वृत्तियाँ भी न बढ़ें तो समझना चाहिए यह धन जमा करना बेकार हुआ और उसने धन को साधन न समझकर साध्य समझ लिया है। धन का गुण उदारता बढ़ाना है, हृदय को विशाल करना है, कजूसी या बेईमानी के भाव जिसके साथ सम्बद्ध हों, वह कमाई केवल दुखदायी ही सिद्ध होगी।

जिनका हृदय दुर्भावनाओं से कलुषित हो रहा है, वे यदि कंजूसी से कुछ धन जोड़ भी लें, तो वह उनके लिए कुछ भी सुख नहीं पहुँचाता, वरन् उलटा कष्टकर ही सिद्ध होता है। ऐसे धनवानों को हम कंगाल ही पुकारेंगे क्योंकि पैसे से जो शारीरिक और मानसिक सुविधा मिल सकती हैं, वह उन्हे प्राप्त नहीं होती, उल्टी उसकी चौकीदारी की भारी जोखिम शिर पर लादे रहते है। जो आदमी अपने आराम में, स्त्री के स्वास्थ्य में, बच्चों की पढ़ाई में दमड़ी खर्चना नहीं चाहते, उन्हें कौन धनवान् कह

सकता है ? दूसरों के कष्टों को पत्थर की भाँति देखता रहता है किन्तु शुभ कार्य में कुछ दान करने के नाम पर जिसके प्राण निकलते है, ऐसा अभागा मक्खीचूस कदापि धनी नहीं कहा जा सकता। ऐसे लोगों के पास बहुत ही सीमित मात्रा में पैसा जमा हो सकता है, क्योंकि वे उसके द्वारा केवल व्याज कमाने की हिम्मत कर सकते है। जिन व्यापारों मे प्रचुर परिमाण में धन कमाया जा सकता है, उनमें घाटे की जोखिम भी रहती है। कंजूस डरता है कि कहीं मेरा पैसा डूब न जाय, इसलिए उसे छाती से छुड़ाकर किसी कारोबार में लगाने की हिम्मत नहीं होती। इन कारणों से कोई भी कन्जूस स्वभाव का मनुष्य बहुत बड़ा धनी नहीं हो सकता।

तृष्णा का कहीं अन्त नहीं, हविस छाया के समान है, जिसे आज तक कोई भी पकड़ नहीं सका है। मनुष्य-जीवन का उद्देश्य केवल पैसा पैदा करना ही नहीं वरन् इससे भी कुछ बढ़-कर है। पोम्पाई नगरके खण्डहरों को खोदते हुए एक ऐसा अस्थि-पिञ्जर मिला, जिसके हाथ में सोने का एक ढेला बड़ी मजबूती से पकडा हुआ था। मालूम होता है कि उसने मृत्यु के समय सोने की रक्षा की सबसे अधिक चिन्ता की होगी। एक जहाज जबडूब रहा था तो सब लोग नावों में बैठकर भागने लगे, किन्तु एक व्यक्ति उस जहाज के खजाने में से धन समेटने में लगा। साथियों ने कहा--चलो भाग चलो, नहीं तो डूब जाओगे, पर वह मनुष्य अपनी धुन में ही लगा रहा और जहाज के साथ डूब गया। एक कन्जूस आदमी की तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् शङ्कर ने उसे एक ऐसी थैली दी, जिसमें बार-बार निकालने पर भी एक रुपया बना रहता था। साथ ही शङ्करजी ने यह भी कह दिया कि—जब तक इस थैली को नष्ट न करदो, तब तक खर्च करना आरम्भ न करना। वह गरीब आदमी एक-एक करके रुपया निकालने लगा।

साथ ही उसकी तृष्णा बढ़ने लगी। बार-बार निकालता ही रहा, यहाँ तक कि निकालते-निकालते ही उसकी मृत्यु हो गई। एक बार लक्ष्मीजी ने प्रसन्न होकर एक भिखारी से कहा कि तुझे जितना सोना चाहिये, ले ले, पर वह जमीन पर न गिरने पावे, नहीं तो मिट्टी हो जायगा। भिखारी अपनी झोली में अन्धा-धुन्ध सोना भरता गया, यहाँ तक कि झोली फटकर सोना जमीन पर गिर पड़ा और धूल हो गया। मुहम्मद गौरी जब मरने लगा तो उसने अपना सारा खजाना आँखों के सामने फैलवाया, वह उसकी ओर आँखें फाड-फाड़कर देख रहा था और नेत्रों में से आँसुओं की धार बह रही थी। तृष्णा के सताये हुये कंजूस मनुष्य भिखमङ्गों से जरा भी कम नहीं, भले ही उनकी तिजोरियाँ सोने से भरी हुई हों।

सच्ची दौलत का मार्ग आत्मा को दिव्य गुणों से सम्पन्न करना है। सच समझिये हृदय की सद्वृत्तियों को छोड़कर बाहर कहीं भी सुख शान्ति नहीं है। भ्रमवश भले ही हम वाह्य परि-स्थितियों में सुख ढूँढ़ते फिरें। यह ठीक है कि कुछ कमीने और निकम्मे आदमी भी अनायास धनवान होजाते हैं, पर असल मे वे धनपति नहीं हैं। यथार्थ में तो दरिद्र से अधिक दरिद्रता भोग रहे हैं, उनका धन वेकार है, अस्थिर है और वहुत अंशोंमें तो वह उनके लिए दुखदायी भी है। दुर्गुणी धनवान कुछ नहीं, केवल एक भिक्षुक है। मरते समय तक जो धनी बना रहे कहते हैं कि वह वड़ा भाग्यान था, लेकिन हमारा मत है कि वह अभागा है, क्योंकि अगले जन्मों में अपने पापों का फल तो वह स्वयं भोगेगा, किन्तु धन को न तो भोग सका और न साथ ले जासका। जिसके हृदय मे सद्वृत्तियों का निवास है, वही सवसे वड़ा धनवान है, चाहे वाहर से वह गरीवी का जीवन ही क्यों न व्यतीत करता हो। सद्गुणी का सुखी होना निश्चित है। समृद्धि उसके स्वागत

के लिए दरवाजा खोले हुए खड़ी है। यदि आप स्थायी रहने वाली सम्पदा चाहते हैं तो धर्मात्मा बनिये। लालच में आकर अधिक पैसे जोड़ने के लिए दुष्कर्म करना यह तो कङ्गाली का मार्ग है। खबरदार रहो, कि कहीं लालच के वशीभूत होकर सोना कमाने तो चलो, पर बदले में मिट्टी ही हाथ लगकर न रह जाय।

एडीसन ने एक स्थान पर लिखा है कि देवता लोग जब मनुष्य जाति पर कोई बड़ी कृपा करते हैं तो तूफान और दुर्घटनाएँ उत्पन्न करते हैं, जिससे कि लोगों का छिपा हुआ पौरुप प्रकटहो और उन्हें अपने विकास का अवसर प्राप्त हो। कोई पत्थर तब तक सुन्दर मूर्ति के रूप में परिणित नहीं हो सकता, जब तक कि उसे छैनी हथौड़े की हजारों छोटी-बड़ी चोटें न लगें। एडमण्डबर्क कहते हैं कि—"कठिनाई व्यायामशाला के उस उस्ताद का नाम है जो अपने शिष्यों को पहलवान बनाने के लिए उनसे खुद लड़ता है और उन्हें पटक-पटक कर ऐसा मजबूत कर देता है कि वे दूसरे पहलवान को गिरा सकें।" जान वानथन ईश्वर से प्रार्थना किया करते थे कि—'हे प्रभु! मुझे अधिक कष्ट दे, ताकि मैं अधिक सुख भोग सकूँ।'

जो वृक्ष, पत्थरों और कठोर भू-भागों में उत्पन्न होते है और जीवित रहने के लिए सर्दी, गर्मी, आँधी आदि से निरन्तर युद्ध करते हैं, देखा गया है कि वे वृक्ष अधिक सुदृढ़ और दीर्घजीवी होते हैं। जिन्हें कठिन अवसरों का सामका नहीं करना पड़ता, उनसे जीवन भर कुछ महत्वपूर्ण कार्य नहीं हो सकता। एक तत्वज्ञानी कहा करता था कि महापुरुष दुखों के पालने में भूलते हैं, और विपत्तियों का तकिया लगाते हैं। आपत्तियों की अग्नि हमारी हड्डियों को फौलाद जैसी मजबूत बनाती है। एक बार एक युवक ने एक अध्यापक से पूछा—'क्या मैं एक दिन प्रसिद्ध चित्रकार बन सकता हूं?' अध्यापक ने कहा—'नहीं।' इस पर

उस युवक ने आश्चर्य से पूछा–'क्यों. अध्यापक ने उत्तर दिया-'इसलिये कि तुम्हारी पैतृक सम्पत्ति से एक हजार रुपया मासिक आमदनी घर बैठे हो जाती है।' पैसे के चकाचौंध में मनुष्य को अपना कर्तव्य-पथ दिखाई नहीं पड़ता और वह रास्ता भूलकर कहीं से कहीं चला जाता है। कीमती औजार लोहे को बार-बार गरम करके बनाये जाते हैं। हथियार तब तेज होते है, जब उन्हे पत्थर पर खूब घिसा जाता है। खराद पर चढ़े बिना हीरे मे चमक नहीं आती। चुम्बक पत्थर को यदि रगड़ा न जाय तो उसके अन्दर छिपी हुई अग्नि यों ही सुपुप्त अवस्था में पड़ी रहेगी। परमात्मा ने मनुष्य जाति को बहुत सी अमूल्य वस्तुएँ दी हैं, इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण गरीबी, कठिनाई, आपत्ति और असुविधा है, क्योंकि इन्हीं के द्वारा मनुष्य को अपने सर्वोत्तम गुणो का विकास करने योग्य अवसर मिलता है। कदाचित् परमेश्वर हर एक व्यक्ति के सब काम आसान कर देता तो निश्चय ही आलसी होकर हम लोग कब मिट गये होते।

यदि आपने बेईमानी करके लाखों रुपये की सम्पत्ति जमा करली तो क्या बड़ा काम कर लिया? दीन-दुखियों का रक्त चूसकर यदि अपना पेट बढ़ा लिया तो यह क्या बड़ी सफलता हुई? आपके अमीर बनने से यदि दूसरे अनेक व्यक्ति दरिद्र बन रहे हों, आपके व्यापार से दूसरोंके जीवन पतित होरहे हों, अनेकों की सुख शान्ति नष्ट हो रही हो तो ऐसी अमीरी पर लानत है। स्मरण रखिये–एक दिन आपसे पूछा जायगा कि धन को कैसे पाया और कैसे खर्च किया? स्मरण रखिये आपको एक दिन न्याय-तुला पर तोला जायगा और उस समय अपनी भूल पर पश्चाताप होगा, तब देखोगे कि आप उसके विपरीत निकले जैसा कि होना चाहिये था।

आप आश्चर्य करेंगे कि क्या बिना पैसा के भी कोई धन-

वान होसकता है ? लेकिन सत्य समझिये इस संसार में ऐसे अनेक मनुष्य हैं, जिनकी जेब में एक पैसा नहीं है या जिनकी जेब ही नहीं है, फिर भी वे धनवान हैं और इतने बड़े धनवान कि उनकी समता दूसरा कोई नहीं कर सकता। जिसका शरीर स्वस्थ है, हृदय उदार है और मन पवित्र है, यथार्थ में वही धनवान है। स्वस्थ शरीर चाँदी से कीमती है, उदार हृदय सोने से मूल्यवान है और पवित्र मन की कीमत रत्नों से अधिक है। लार्ड कालिंगउड कहते थे—'दूसरों को धन के ऊपर मरने दो, मैं तो बिना पैसे का अमीर हूँ, क्योंकि मैं जो कमाता हूँ, नेकी से कमाता हूँ।' सिसरोने ने कहा है—'मेरे पास थोड़े से ईमानदारी के साथ कमाये हुए पैसे हैं परन्तु वे मुझे करोडपतियों से अधिक आनन्द देते हैं।'

दधीचि, वशिष्ठ, व्यास, वाल्मीकि, तुलसीदास, सूरदास, रामदास, कबीर आदि बिना पैसे के अमीर थे। वे जानते थे कि मनुष्य का सब आवश्यक भोजन मुख द्वारा ही अन्दर नहीं जाता और न जीवन को आनन्दमय बनाने वाली वस्तुएँ पैसे से खरीदी जा सकती है। ईश्वर ने जीवनरूपी पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ पर अमूल्य रहस्यो को अंकित कर रखा है, यदि हम चाहे तो उनको पहचान कर जीवन को प्रकाशपूर्ण बना सकते हैं। एक विशाल हृदय और उच्च आत्मा वाला मनुष्य झोंपड़ी में भी रत्नों की जगमगाहट पैदा करेगा। जो सदाचारी है और परोपकार में प्रवृत्त है, वह इस लोक में धनी है और परलोक में भी। भले ही उसके पास द्रव्य का अभाव हो। यदि आप विनयशील, प्रेमी, निस्वार्थ और पवित्र हैं तो विश्वास कीजिए कि आप अनन्त धन के स्वामी हैं।

जिसके पास पैसा नहीं, वह गरीब कहा जायगा, परन्तु जिसके पास केवल पैसा है, वह उससे भी अधिक कङ्गाल है। क्या आप सद्बुद्धि और सद्गुणों को धन नहीं मानते ?

अष्टावक्र आठ जगह से टेढ़े थे और गरीब थे, पर जब जनक की सभा में जाकर अपने गुणों का परिचय दिया तो राजा उनका शिष्य होगया। द्रोणाचार्य जब धृतराष्ट्र के राज-दरबार मे पहुँचे तो उनके शरीर पर कपड़े भी न थे, पर उनके गुणों ने उन्हे राज-कुमारों के गुरु का सम्मानपूर्ण पद दिलाया। महात्मा डायोजनीज के पास जाकर दिग्विजयी सिकन्दर ने निवेदन किया– महात्मन्! आपके लिए क्या वस्तु उपस्थित करूँ?' उन्होंने उत्तर दिया— 'मेरी धूप मत रोक और एक तरफ खड़ा होजा। वह चीज मुझसे मत छीन, जो तू मुझे नहीं दे सकता।' इस पर सिकन्दर ने कहा—'यदि मैं सिकन्दर न होता डायोजनीज ही होना पसन्द करता।'

गुरु गोविन्दसिंह, वीर हकीकतराय, छत्रपति शिवाजी, राणा प्रताप आदि ने धन के लिए अपना जीवन उत्सर्ग नहीं किया था। माननीय गोखले से एक बार एक सम्पन्न व्यक्ति ने पूछा– 'आप इतने राजनीतिज्ञ होते हुए भी गरीबी का जीवन क्यों व्यतीत करते हैं?' उन्होंने उत्तर दिया–मेरे लिए यही बहुत है। पैसा जोड़ने के लिए जीवन जैसी महत्वपूर्ण वस्तु का अधिक भाग नष्ट करने में मुझे कुछ भी बुद्धिमत्ता प्रतीत नहीं होती।

तत्वज्ञों का कहना है कि–ऐ ऐश्वर्य की इच्छा करने वालो! अपने तुच्छ स्वार्थों को सड़े और फटे-पुराने कुर्ते की तरह उतार कर फेंक दो, प्रेम और पवित्रता के नवीन परिधान धारण करलो। रोना, झींकना, घबराना और निराश होना छोड़ो, विपुल सम्पदा आपके अन्दर भरी हुई है। धनवान बनना चाहते हो तो उसकी कुञ्जी बाहर नहीं, भीतर तलाश करो। धन और कुछ नहीं, सद्-गुणों का छोटा सा प्रदर्शन मात्र है। लालच, क्रोध, घृणा, द्वेष, छल और इन्द्रिय-लिप्सा को छोड़ दो। प्रेम, पवित्रता, सज्जनता, नम्रता, दयालुता, धैर्य और प्रसन्नता से अपने मन को भरलो।

बस, फिर दरिद्रता तुम्हारे द्वार से पलायन कर जायगी। निर्बलता और दीनता के दर्शन भी न होंगे। भीतर से एक ऐसी अगम्य और सर्व विजयी शक्ति का आविर्भाव होगा, जिसका विशाल वैभव दूर-दूर तक प्रकाशित हो जायगा।

ईमानदारी की कमाई ही स्थिर रहती है

जो मनुष्य धन के विषय में अध्यात्मवेत्ताओं के दृष्टिकोण को समझ लेता है, वह उसे कभी सर्वोपरि स्थान नहीं दे सकता। इसका अर्थ यह नहीं कि वह संसार को त्याग दे अथवा निर्धनता और दरिद्रता का जीवन यापन करने लगे। हमारे कथन का आशय इतना ही है धन के लिये नीति और न्याय के नियमों की अवहेलना कदापि मत करो और जहाँ धर्म और अधम, सत्य या असत्य का प्रश्न उठे वहाँ हमेशा धर्म और सत्य का पक्ष ग्रहण करो चाहे उससे धन का लाभ होता हो और चाहे हानि। धन कमाया जाय और उसका उचित उपभोग भी किया जाय, पर पूरी ईमानदारी के साथ।

धन नदी के समान है। नदी सदा समुद्र की ओर अर्थात् नीचे की ओर बहती है। इसी तरह धन को भी जहाँ आवश्यकता हो वहीं जाना चाहिए। परन्तु जैसे नदी की गति बदल सकती है, वैसे ही धन की गति में भी परिवर्तन हो सकता है। कितनी ही नदियाँ इधर-उधर बहने लगती हैं और उनके आस-पास बहुत सा पानी जमा हो जाने से जहरीली हवा पैदा होती है। इन्हीं नदियों में बाँध, बाँधकर जिधर आवश्यकता हो उधर उनका पानी ले जाने से वही पानी जमीन को उपजाऊ और आस-पास की वायु को उत्तम बनाता है। इसी तरह धन का मनमाना व्यवहार होने से बुराई बढ़ती है, गरीबी बढ़ती है। सारांश यह कि वह धन विष-तुल्य हो जाता है, पर यदि उसी धन की गति

निश्चित करदी जाय, उसका नियम पूर्वक व्यवहार किया जाय, तो वॉधी हुई नदी की तरह वह सुखप्रद वन जाता है।

अर्थशास्त्री धन की गति के नियन्त्रण के नियम को एकदम भूल जाते हैं। उनका शास्त्र केवल धन प्राप्त करने का शास्त्र है, परन्तु धन तो अनेक प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है। एक जमाना ऐसा था जब यूरोप में धनिकों को विप देकर लोग उनके धन से स्वयं धनी वन जाते थे। आजकल गरीब लोगों के लिए जो खाद्य पदार्थ तैयार किये जाते हैं उनमें व्यापारी लोग मिलावट कर देते हैं। जैसे- दूध में सुहागा, आटे में आलू, कहवे में 'चीकरी', मक्खन में चरवी इत्यादि। यह भी विप देकर धनवान होने के समान ही है। क्या इसे हम धनवान होने की कला या विज्ञान कह सकते हैं?

परन्तु यह न समझ लेना चाहिये कि अर्थशास्त्री निरी लूट से ही धनी होने की वात कहते हैं। उनकी ओर से यह कहना ठीक होगा कि उनका शास्त्र कानून-संगत और न्याय-युक्त उपायों से धनवान होने का है। पर इस जमाने में यह भी होता है कि अनेक वातें जायज होते हुए भी न्यायबुद्धि से विपरीति होती हैं। इसलिए न्यायपूर्वक धन अर्जन करना ही सच्चा रास्ता कहा जा सकता है। और यदि न्याय से ही पैसा कमाने की वात ठीक हो तो न्याय-अन्याय का विवेक उत्पन्न करना मनुष्य का पहला काम होना चाहिये। केवल लेन-देन के व्यावसायिक नियम से काम लेना या व्यापार करना काफी नहीं है। यह तो मछलियॉ, भेड़िये और चूहे भी करते हैं। वड़ी मछली छोटी मछली को भीखा जाती है, चूहा छोटे जीव-जन्तुओंको खा जाताहै और भेड़िया आदमी को खा डालता है। उनका यही नियम है, उन्हें दूसरा कोई ज्ञान नहीं है, परन्तु मनुष्य ने ईश्वर को समझ दी है, न्याय-बुद्धि दी है। उसके द्वारा दूसरों को भक्षण कर उन्हे ठगकर

उन्हें भिखारी बनाकर उसे धनवान न बनाना चाहिये।

धन साधनमात्र है और उससे सुख तथा दुःख दोनों ही हो सकते है। यदि वह अच्छे मनुष्य के हाथ में पड़ता है तो उसकी बदौलत खेती होती है और अन्न पैदा होता है, किसान निर्दोष मजदूरी करके सन्तोष पाते है और राष्ट्र सुखी होता है। खराब मनुष्य के हाथ में धन पड़ने से उससे (मान लीजिये कि) गोले बारूद बनते हैं और लोगों का सर्वनाश होता है। गोला बारूद बनाने वाला राष्ट्र और जिस पर इनका प्रयोग होता है वे दोनों हानि उठाते और दुःख पाते हैं।

इस तरह हम देख सकते हैं कि सच्चा आदमी ही धन है। जिस राष्ट्र में नीति है वह धन सम्पन्न है। यह जमाना भोग-विलास का नहीं है। हरएक आदमी को जितनी मेहनत-मजदूरी हो सके उतनी करनी चाहिए।

सोना-चांदी एकत्र हो जाने से कुछ राज्य मिल नहीं जाता। यह स्मरण रखना चाहिए कि पश्चिम में सुधार हुए अभी सौ ही वर्ष हुए हैं। बल्कि सच पूछिये तो पचास ही कहे जाने चाहिये। इतने ही दिनों में पश्चिम की जनता वर्णसङ्कर-सी होती दिखाई देने लगी है।

व्यापारी का काम भी जनता के लिए जरूरी है, पर हमने मान लिया है कि उसका उद्देश्य केवल अपना घर भरना है। कानून भी इसी दृष्टि से बनाये जाते हैं कि व्यापारी झपाटे के साथ धन बटोर सके। चाल भी ऐसी ही पड़ गई है कि ग्राहक कम से कम दाम दे और व्यापारी जहाँ तक हो सके अधिक मांगे और ले। लोगों ने खुद ही व्यापार मे ऐसी आदत डाली और अब उसे उसकी बेईमानी के कारण नीची निगाह से देखते हैं। इस प्रथा को बदलने की जरूरत है। यह कोई नियम नहीं होगया है कि व्यापारी को अपना स्वार्थ ही साधना—धन ही बटोरना—चाहिए। इस तरह के व्यापार को हम व्यापार न कहकर चोरी

कहेंगे। जिस तरह सिपाही राज्य के सुख के लिए जान देता है उसी तरह व्यापारी को जनता के सुख के लिए धन गँवा देना चाहिए, प्राण भी दे देना चाहिए। सिपाही का काम जनता की रक्षा करना है, धर्मोपदेशक का, उसको शिक्षा देना है। चिकित्सक का उसे स्वस्थ रखना है, और व्यापारी का उसके लिए आवश्यक माल जुटाना है। इन सबका कर्तव्य समय पर अपने प्राण भी दे देना है।

धन का अपव्यय बन्द कीजिये

पर ईमानदारी और सत्य व्यवहार के उपदेश सुनते हुए भी बहु-संख्यक व्यक्ति इनका पालन नहीं कर सकते, इसका मुख्य कारण है हमारी अपव्यय की आदत। जिन लोगों को दूसरों की देखा-देखी अपनी सामर्थ से अधिक शान शौकत दिखलाने, तरह-तरह के बेकार खर्च करने की आदत पड़ जाती है, वे इच्छा करने पर भी ईमानदारी पर स्थिर नहीं रह सकते। ऐसे लोगों की आर्थिक अवस्था किन कारणों से नहीं सुधर पाती उसका एक चित्र यहाँ दिया जाता है।

आप १००) रु० मासिक कमाते हैं, पास पड़ोस वाले आपको आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न समझते है, आपके हाथ में रुपये आते जाते हैं, किन्तु आपको यह देखकर अत्यन्त दुःख होता है कि आपका वेतन महीने की २० तारीख को ही समाप्त हो जाता है। अन्तिम दस दिन खींच तान, कर्ज, तंगी और कठिनाई से कटते हैं। आप बाजार से उधार लाते हैं, जीवन-रक्षा के पदार्थ भी आप नहीं खरीद पाते। आपके नौकर, बच्चे, पत्नी आपसे पैसे मांगते हैं, बाजार वाले तगादे भेजते हैं आप किसी प्रकार अपना मुँह छिपाये टालमटोल करते रहते हैं और बड़ी उत्सुकता से महीने की पहली तारीख की प्रतीक्षा करते हैं। वर्ष के बारहों

महीने यह क्रम चलता है। कुछ बचत नहीं होती, वृद्धावस्था में दूसरों के आश्रित रहते हैं, बच्चों के विवाह तक नहीं कर पाते, पुत्रों को उच्चशिक्षा या अपनी महत्वाकांक्षाएं पूर्ण नहीं कर पाते। लेकिन क्यों ?

कभी आपने सोचा है कि आपका वेतन क्यों २० तरीख को समाप्त हो जाता है ? आप असंतुष्ट झुंझलाये से क्यों रहते हैं ?

अच्छा अपने घर के समीप वाली जो पान सिगरेट की दूकान है, उसका बिल लीजिये। महीने में कितने रुपये आप पान सिगरेट मे व्यय करते है ? प्रतिदिन कम से कम ५–६ सिगरेट और दो चार पान आप प्रयोग में लेते है। बढ़िया सिगरेट या बीडी माचिस आपकी जेब मे पड़ी रहती हैं। यदि चार-पॉच आने रोज भी आपने इसमे व्यय किये तो महीने के आठ दस रुपये सिगरेट में फुँक गये। सिगरेट वाले का यह तो न्यूनतम व्यय है। बहुत से १५ से २० रुपये प्रतिमास तक खर्च कर डालते है।

चाट पकौड़ी चाय वाला, काफी हाऊज, रेस्तरां, चुसकी, शरबत, सोड़ा आइसक्रीम, लाइटरिफ्रेशमेंट वालों से पूछिये कि वे आपकी कमाई का कितना हिस्सा ले लेते हैं ? यदि अकेले गये तो ।।) या ।।।) आने अन्यथा १)–१।) का बिल मित्रों के साथ जाने पर बन जाता है। एक प्याली चाय (या प्रत्यक्ष विष ?) खरीद कर आप अपने पसीने की कमाई व्यर्थ गंवाते हैं। चुसकी शरबत, सोडा क्षण भर की चटोरी आदतों की तृप्ति करती हैं। इच्छा फिर भी अतृप्त रहती है। मिठाई से न ताकत आती है, न कोई स्थायी लाभ होता है, उलटे पेट में भारी विकार उत्पन्न होते है।

सिनेमा हाउस का टिकट वेचने वाला और गेट कीपर

आपको पहिचानता है। आपको देख कर वह मुस्करा उठता है? हँसकर दो बातें करता है। फिल्म अभिनेत्रियों की तारीफ के पुल बाँध देता है। आप यह फिल्म देखते हैं,साथ ही दूसरे का नमूना देखकर दूसरी को देखने के बीज मन में ले आते हैं। एक के पश्चात् दूसरी फिर तीसरी फिल्म को देखने की धुन सवार रहती है और रुपया व्यय कर, आप सिनेमा से लाते हैं वासनाओं का तांडव, कुत्सित कल्पना के वासनामय चित्र, गन्दे गीत,रोमान्टिक भावनाएँ, शरारत से भरी आदतें। साथ ही अपनी नेत्र ज्योति भी बरबाद करते हैं। गुप्त रूप से वासनापूर्ति के नाना उपाय सोचते, दिमागी ऐय्याशी करते और रोगग्रस्त होकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

बीमारियों में आप मास में ८-१० रु० व्यय करते हैं। किसी को बुखार है, तो किसी को खांसी, जुकाम, सरदर्द या टांसिल। पत्नी प्रदर या मासिकधर्म के रोगों से दु:खी है। आप स्वयं कब्ज या अन्य किसी गुप्त रोग के शिकार हैं, तब तो कहने की बात ही क्या है। कभी इन्जेक्शन,तो कभी किसी को ताकत की दवाई चलती ही रहती है। कुछ बीमारियाँ ऐसी भी हैं जिन्हें आपने स्वयं पाल-पोस कर बड़ा किया है। आप दाँत साफ नहीं करते, फिर आये दिन नए दाँत लगवाते या उन्हीं का इलाज कराया करते हैं। दंत डाक्टर आपकी लापरवाही और आलस्य पर पलते हैं। क्या आपने कभी सोचा है कि आपके शहर में दवाइयों की इतनी दूकानें क्यों बढ़ती चली जा रही हैं? हमीं अपना पैसा रोगों के शिकार होकर इन्हें देते हैं और पालते हैं।

विवाह, झूठा दिखावा, धनी पड़ोसी की प्रतियोगिता, सैर सपाटा, यात्राएँ, उत्सवों, दान इत्यादि में आप प्रायः इतना व्यय कर डालते हैं कि कई महीनों तक सम्हल नहीं पाते। पत्नी ने गहने, साड़ी या किसी अन्य कीमती चीज की जिद की, तो

आप अपनी जेब देखने के स्थान पर केवल उसे प्रसन्न करने मात्र के लिए तुरन्त कुछ भी शौक की चीज खरीद लेते हैं।

आप दिन मे एक रुपया कमाते है, पर भोजन, वस्त्र या मकान अच्छे से अच्छा रखना चाहते है। फैशन मे भी अन्तर नहीं करते, आराम और विलासिता की वस्तुऐं–क्रीम, पाउडर, शेविग, सिनेमा, रेशमी कपड़ा, सूट बूट, सुगन्धित तेल, सिगरेट भी कम करना नहीं चाहते । फिर बताइये कर्जदार क्यों कर न बनें ?

आपका धोबी महीने में १० रु० आपसे कमा लेता है। आप दो दिन तक एक धुली हुई कमीज नहीं पहनते। पेन्ट की क्रीज, रँग, एक दिन में खराब कर डालते है, हर सप्ताह हेयर कटिंग के लिए जाते हैं, प्रतिदिन जूते पर पालिश करते है, विजली के पंखे और रेडियो के बिना आपका काम नहीं चलता। पैसे पास नहीं, फिर भी आप अखबार खरीदते हैं, मित्रों को घर पर बुलाकर कुछ न कुछ चटाया करते है। रिक्शा, इक्के, ट्राम, साइकल की सवारी मे आपके काफी रुपये नष्ट होते हैं।

तीन बातें ऐसी हैं, जिन्होंने सबसे अधिक आदमियों को गरीब और कर्जदार बनाया है। इन तीनों द्वारा ग्रसित व्यक्ति कभी नहीं पनपता। ये हैं—नशेवाजी, व्यभिचार, और मुकदमे-वाजी। सावधान !

ज्यों-ज्यों आपकी आवश्यकता बढ़ेंगी, त्यों २ आपको खर्च की तंगी का अनुभव होगा। आजकल कृत्रिम आवश्यक-ताऐं वृद्धि पर है। ऐश, आराम, दिखावट, मिथ्या गर्व प्रदर्शन, विलासिता, शौक, मेले, तमाशे फैशन, मादक द्रव्यों पर फजूल-खर्ची खूब की जा रही है। ये सब क्षणिक आनन्द की वस्तुऐं हैं। कृत्रिम आवश्यकताऐं हमे गुलाम बनाती हैं। इन्हीं के कारण हम मंहगाई और तंगी अनुभव करते हैं। चूंकि कृत्रिम

आवश्यकताओं में हम अधिकांश आमदनी व्यय कर देते हैं, हमें जीवन रक्षक और आवश्यक पदार्थ खरीदते हुए मंहगाई प्रतीत होती है। साधारण, सरल और स्वस्थ्य जीवन के लिए निपुणता-दायक पदार्थ अपेक्षाकृत अब भी सस्ते हैं। जीवन रक्षा के पदार्थ—अन्न, वस्त्र, मकान, इत्यादि साधारण दर्जे के भी हो सकते हैं। मजे में आप निर्वाह कर सकते हैं। अतः जैसे २ जीवन रक्षक पदार्थों का मूल्य बढ़ता जावे, वैसे २ आपको विलासिता और ऐशोआराम की वस्तुऐं त्यागते रहना चाहिए। आप केवल आवश्यक पदार्थों पर दृष्टि रखिये, वे चाहे जिस मूल्य पर मिलें खरीदिये किन्तु विलासिता और फजूलखर्ची से बचिये। बनावटी, अस्वाभाविक रूप से दूसरों को भ्रम में डालने के लिए या आकर्षण मे फँसाने के लिए जो मायाचार चल रहा है, उसे त्याग दीजिये। भड़कीली पोशाक के दंभ से मुक्ति पाकर आप सज्जन कहलायेंगे।

आप पूछेंगे कि आवश्यकताओं, आराम की वस्तुओं और विलासिता की चीजों में क्या अन्तर है ? मनुष्य को सबसे मूल्यवान उसका शरीर लगता है। शरीर में उसका सम्पूर्ण कुटुम्ब भी सम्मिलित है। वह अपना और अपने परिवार का शरीर (स्वास्थ्य और अधिकतम सुख) बनाये रखने की फिक्र में है। उपभोग के आवश्यक पदार्थ वे हैं, जो शरीर और स्वास्थ्य के लिए जरूरी हैं। ये ही मनुष्य के लिए महत्व के हैं।

(१)-जीवन रक्षक पदार्थों के अन्तर्गत तीन चीजें प्रमुख हैं-(१) भोजन (२) वस्त्र (३) मकान। भोजन मिले, शरीर ढकने के लिए वस्त्र हो और सर्दी गर्मी बरसात से रक्षा के निमित्त मकान हो। यह वस्तुऐं ठीक हैं, तो जीवन रक्षा और निर्वाह चलता रहता है। जीवन की रक्षा के लिए ये वस्तुऐं अनिवार्य हैं।

यदि इन्हीं पदार्थों की किस्म अच्छी है तो शरीर रक्षा के

साथ २ निपुणता भी प्राप्त होगी। कार्य शक्ति, स्फूर्ति बल और उत्साह में वृद्धि होगी, शरीर निरोग रहेगा और मनुष्य दीर्घ-जीवी रहेगा। ये निपुणतादायक पदार्थ क्या हैं? अच्छा पौष्टिक भोजन जिसमें अन्न फल, दूध, तरकारियाँ, घृत, इत्यादि प्रचुर मात्रा में हों, टिकाऊ वस्त्र, जो सर्दी से रक्षा कर सकें, हवादार स्वस्थ वातावरण में खड़ा हुआ मकान जो शरीर को धूप, हवा जल इत्यादि प्रदान कर सके।

यदि आपकी आमदनी इतनी है कि निपुणतादायक चीज (अच्छा अन्न, घी, दूध, फल हवादार मकान, स्वच्छ वस्त्र, कुछ मनोरंजन) खरीद सकते हैं, तो आराम की चीजों को अवश्य लीजिये। इनसे आपकी कार्य-कुशलता तो बढ़ेगी, पर उस अनु-पात मे नहीं जिस अनुपात में आप खर्च करते हैं।

विलासिता में धन व्यय करना नाशकारी है।

इनसे खर्च की अपेक्षा निपुणता और कार्य कुशलता कम प्राप्त होती है। कभी २ कार्य कुशलता का ह्रास तक हो जाता है। मनुष्य आलसी और विलासी बन जाता है, काम नहीं करना चाहता। रुपया बहुत खर्च होता है, लाभ न्यून मिलता है।

इस श्रेणी में ये वस्तुएं है—आलीशान कोठियां, रेशम या जरी के बढ़िया कीमती भड़कीले वस्त्र, मिष्ठान्न मेवे, चाट पकौड़ी शराब, चाय, तरह २ के अचार मुरब्बे, मांस भक्षण, फैशनेबिल चीजें, मोटर, तम्बाकू, पान, गहने, जन्मोत्सव और विवाह में अनाप शनाप व्यय, रोज दिन मे दो चार बदले जाने वाले कपड़े, साड़ियां, अत्यधिक सजावट, नौकर चाकर, मनोरं-जन के कीमती सामान, घोड़ागाड़ी, बढ़िया फाउन्टेनपेन, सोने की घड़ियां, होटल रेस्टरां मे खाना, सिनेमा, सिगरेट, पान, वेश्यागमन, नाच रङ्ग, व्यभिचार, शृङ्गारिक पुस्तकें, कीमती

सिनेमा की पत्र पत्रिकाऐं, तसवीरें अपनी हैसियत से अधिक दान, हवाखोरी, सफर, यात्राऐं बढ़िया रेडियो, भड़कीली पोशाक क्रीम, पाउडर, इत्र आदि।

उपरोक्त वस्तुएँ जीवन रक्षा या कार्य कुशलता के लिए आवश्यक नहीं हैं किन्तु रुपये की अधिकता से आदत पड़ जाने से आदमी अनाप शनाप व्यय करता है और इनकी भी जरूरत अनुभव करने लगता है। इन्हीं वस्तुओं पर सब से अधिक टैक्स लगते हैं कीमत भी बढ़ती है। ये कृत्रिम आवश्यकताओं से पनपते हैं। इनसे सावधान रहिये।

हम देखते हैं कि लोग विवाह, शादी, त्यौहार, उत्सव, प्रीतिभोज आदि के अवसर पर दूसरे लोगों के सामने अपनी हैसियत प्रकट करने के लिए अन्धाधुन्ध व्यय करते हैं। भूखों मरने वाले लोग भी कर्ज लेकर अपना प्रदर्शन इस धूमधाम से करते हैं मानो कोई बड़े भारी अमीर हों। इस धूमधाम में उन्हें अपनी नाक उठती हुई और न करने में कटती हुई दिखाई पड़ती है।

भारत में गरीबी है, पर गरीबी से कहीं अधिक मूढ़ता, अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता, मिथ्या प्रदर्शन, घमण्ड, धर्म का तोड़ मरोड़ दिखावा और अशिक्षा है। हमारे देशवासियों की औसत आय तीन चार आने प्रतिदिन से अधिक नहीं। इसी में हमें भोजन, वस्त्र, मकान, तथा विवाह शादियों के लिए बचत करनी होती है। पैसे की कमी के कारण हमारे देशवासी मुश्किल से दूध, घी, फल, इत्यादि खा सकते हैं। अधिक संख्या में तो वे स्वच्छ मकानों में भी नहीं रह पाते, अच्छे वस्त्र प्राप्त नहीं कर पाते, बच्चों को अच्छी शिक्षा नहीं दिला पाते, बीमारी में उच्च प्रकार की चिकित्सा नहीं करा सकते, यात्रा, अध्ययन, मनोरञ्जनों के साधनों से वंचित रह जाते हैं। फिर भी

शोक का विषय है कि वे विवाह के अवसर पर सब कुछ भूल जाते हैं, मृत भोज कर्ज लेकर करते हैं, मुकदमेबाजी में हजारों रुपया फूँक देते हैं। इस उपक्रम के लिए उन्हें वर्षों पेट काट कर एक एक कौडी जोड़नी पड़ती है, कर्ज लेना पड़ता है, या और कोई अनीति मूलक पेशा करना पड़ता है।

आर्थिक सफलता की कुञ्जी आत्म-विश्वास

अगर आपने धन के वास्तविक रूप को समझ लिया है और आप उसका दुरुपयोग करने से बच कर रहते हैं, तो कोई कारण नहीं कि उचित प्रयत्न करने पर आप आर्थिक रूप से सफलता प्राप्त न करें।

आप आर्थिक रूप से सफल होना चाहते हैं, तो समृद्धि के विचारों को बहुतायत से मनोमन्दिर में प्रविष्ट होने दीजिये। यह मत समझिये कि आपका सरोकार दरिद्रता, क्षुद्रता, नीचता से है। संसार में यदि कोई चीज सबसे निकृष्ट है तो वह विचार दारिद्रय ही है। जिस मनुष्यके विचारों में दरिद्रता प्रविष्ट हो जाती है, वह रुपया पैसा होते हुए भी सदैव भाग्य का रोना रोया करता है। दरिद्रता के अनिष्टकारी विचार हमें समृद्धशाली होने से रोकते हैं, दरिद्री ही बनाये रखते हैं।

आप दरिद्री, गरीब या अनाथ हीन अवस्था में रहने के हेतु पृथ्वी पर नहीं जन्मे हैं। आप केवल मुट्ठी भर अनाज या वस्त्र के लिए दासवृत्ति करते रहने को उत्पन्न नहीं हुये हैं।

गरीब क्यों सदैव दीनावस्था मे रहता है। इसका प्रधान कारण यह कि वह उच्च आकांक्षा, उत्तम पवित्र कल्पनाओं, स्वास्थ्यदायक स्फूर्ति मय विचारों को नष्ट कर देता है, आलस्य और अविवेक में डूब जाता है, हृदय को संकुचित, क्षुद्र प्रेम-विहीन और निराश बना लेता है। सीमाक्रान्त दरिद्रता आने

पर जीवन ठहर-सा जाता है, प्रगति अवरुद्ध हो जाती है, मनुष्य ऋण से दब कर निष्प्रभ हो जाता है, उसे अपने गौरव, स्वाभिमान को भी सुरक्षित रखना दुष्कर प्रतीत होता है। दरिद्री विचार वाले असमय में ही वृद्ध होते देखे गये हैं। जो बच्चे दरिद्री घरों मे जन्म लेते हैं, उनके गुप्त मन में दरिद्रता की गुप्त मानसिक ग्रन्थियाँ इतनी जटिल हो जाती हैं, कि वे जीवन में कुछ भी उच्चता या श्रेष्ठता प्राप्त नही कर सकते। दरिद्रता कमल के समान तरोताजा चेहरों को मुर्झा देती है, सर्वोत्कृष्ट इच्छाओं का नाश हो जाता है। यह दुस्सह मानसिक दरिद्रता मनुष्य को पीस देने वाली है। सैकड़ों मनुष्य इसी क्षुद्रता के गर्त में डूबे हुये हैं।

आर्थिक सफलता के लिए भी एक मानसिक परिस्थिति, योग्यता एवं प्रयत्न शीलता की आवश्यकता है। लक्ष्मी का आवाहन करने के हेतु भी मानसिक दृष्टि से आपको कुछ पूजा का सामान एकत्रित करना होता है।

दीपावली के लक्ष्मीपूजन के अवसर पर आप घर झाड़ते, लीपते, पोतने, सजाते हैं। नई नई तसवीरें कलात्मक वस्तुओं से घर को चित्रित करते है, अपने शरीर पर सुन्दर सुन्दर वस्त्र और आभूषण धारण करते हैं। इसी भाँति मानसिक पूजा भी किया कीजिये। अर्थात् मन के कोने कोने से दरिद्रता, गरीबी, परवशता क्षुद्रता, संकुचितता, ऋण, के जाले विवेक की झाड़ू से साफकर दीजिये, मानसिक पटलको आशावादिता की सफेदी से पोत लीजिये। मानसिक घर में आनन्द, आशा, उत्साह, प्रसन्नता, हास्य- उत्फुल्लता, खुशमिजाजी, के मनोरम चित्र लगा लीजिये। फिर श्रम और मितव्ययता के नियमों के अनुसार लक्ष्मीदेवी की साधना कीजिये। आर्थिक सफलता आपकी होगी। सब विद्याओं में शिरोमणि वह विद्या है जो हमें कुत्सित

और निकृष्ट विचारों से मन को साफ करना सिखाती है।

परमपिता परमात्मा की कभी यह इच्छा नहीं कि हम आर्थिक दृष्टि से भी दूसरों के गुलाम बने रहें। हमें उन्होंने विवेक दिया है, जिसे धारण कर हम उचित अनुचित खर्चों का अन्तर समझ सकते है, विषय वासना और नशीली वस्तुओं से मुक्त हो सकते हैं, अपने अनुचित खर्चे, विलासता और फैशन में कमी कर सकते हैं, घर मे होने वाले नाना प्रकार के अपव्यय रोक सकते है। अपनी आय वृद्धि करना हमारे हांथ की बात है। जितना हम परिश्रम करेंगे, योग्यताओं को बढ़ायेंगे, अपनी विद्या में सर्वोत्कृष्टता, मान्यता, निपुणता प्राप्त करेंगे, उसी अनुपात में हमारी आय भी बढ़ती चली जावेगी। सबको अपनी-अपनी योग्यता और निपुणता के अनुसार धन प्राप्त होता है। फिर क्यों न हम अपनी योग्यता बढ़ायें और अपने आपको हर प्रकार से योग्य प्रमाणित करें।

श्री ओरिसन माडॅन ने अपनी पुस्तक 'शान्ति शक्ति और समृद्धि' में कई आवश्यक तत्वों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए लिखा है—

"विश्व के अनेक दरिद्री लोगों के कारण को खोजो तो पता लगेगा कि उन्हे आत्म विश्वास नहीं, उन्हे यह श्रद्धा नहीं है कि वे दरिद्रता से छुटकारा पा सकते है। हम गरीबों को बताना चाहते है कि वे ऐसी कठोर स्थिति से भी अपने आप को उन्नत बना सकते हैं। सैकड़ों नहीं प्रत्युत हजारों ऐसी स्थिति में उन्नत-धनवान्-बने है और इसलिए हम कहते कि इन गरीबों के लिये भी आशा है। वे दुर्धर्ष परिस्थिति को बदल सकते हैं। संसार में आत्म विश्वास ही ऐसी कुञ्जी है कि जो सफलता का द्वार खोल सकती है।"

संसार में जितनी प्रकार की श्रेष्ठ शक्तियाँ हैं वे भगवान की प्रदान की हुई हैं। धन की शक्ति भी उन्हीं के द्वारा उत्पन्न की गई है और उन्होंने 'लक्ष्मी' के रूप में उसे संसार के कल्याणार्थ प्रेरित किया है। मनुष्य का कर्तव्य है कि इसे भगवान् की पवित्र धरोहर समझ कर ही व्यवहार करे। इतना ही नहीं उसे इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि यह शक्ति ऐसे लोगों के पास न जा सके जो इसका दुरुपयोग करके दूसरों का अनिष्ट करने वाले हों।

हम सदा से धन की प्रशंसा और बुराई दोनों तरह की बातें सुनते आये हैं। सन्तजनों ने 'कामिनी और कंचन' को आत्मिक पतन का कारण माना है। दूसरी ओर सांसारिक कवि 'सर्वे गुणः कंचनमाश्रयन्ति' का सिद्धान्त सुनाया करते हैं। ये दोनों ही बातें सत्य हैं। अगर हम धन में आसक्त होकर उसी को 'सार वस्तु' समझ लें और उसकी प्राप्ति के लिए पाप-पुण्य का ध्यान भी छोड़ दें अथवा उसका दुरुपयोग करें, तो निश्चय ही वह नर्क का मार्ग है। पर यदि उसे केवल सासांरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का एक साधन मान कर उचित कामों में उसका उपयोग करें तो वही कल्याणकारी बन सकता है। इसलिए आत्म-कल्याण के इच्छुकों को सदैव धन की वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए उसका सदुपयोग ही करना चाहिये।

मुद्रकः—हरीहर मशीन प्रेस, मथुरा।

जीवन को सुख-शान्तिमय बनाने वाला साहित्य

(मूल्य प्रत्येक पुस्तक का छः-छः आना है)

१-सूर्यचिकित्सा विज्ञान २-प्राणचिकित्सा विज्ञान ३-स्वस्थ बनने की विद्या ४-भोग में योग ५-बुद्धि बढ़ाने के उपाय ६-आसन और प्राणायाम ७-तुलसी के अमृतोपम गुण ८-महान जागरण ९-तुम महान हो १०-घरेलू चिकित्सा ११-दीर्घ जीवनके रहस्य १२-नेत्रों की प्राकृतिक चिकित्सा १३-स्वप्न दोष की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा १४-दूधकी आश्चर्यजनक शक्ति १५-उन्नति का मूलमन्त्र ब्रह्मचर्य १६-उपवासके चमत्कार १७-स्त्री रोग चिकित्सा १९-बालरोग चिकित्सा २०-कब्ज की चिकित्सा २१-निरोग जीवन का राजमार्ग २२-चिरस्थाई यौवन २३-सौन्दर्य बढ़ाने के ठोस उपाय २४-मनुष्य शरीर की बिजली के चमत्कार २५-पुत्र-पुत्री उत्पन्न करने की विधि २५-हमारी पारिवारिक समस्याएँ २६-मन चाही सन्तान २७-दाम्पत्ति जीवन का सुख २८-हमारी आन्तरिक शत्रु २९-क्याखायें ? क्योंखायें ? कैसेखायें ? ३०-हमारे सभ्यताके कलङ्क ३१-धनवान बनने के गुप्त रहस्य ३२-मरने के बाद हमारा क्या होता है ? ३३-मित्रभाव बढ़ानेकी कला ३४-आकृति देखकर मनुष्य की पहिचान ३५-हमें स्वप्न क्यों दीखते हैं ? ३६-विचार करने की कला ३७-हम वक्ता कैसे बन सकते हैं ? ३८-सफलताके तीन साधन ३९-जिंदगी कैसे जिएँ ४०-प्रसिद्धि और समृद्धि ४१-ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ? ४२-क्या धर्म ? क्या अधर्म ? ४३-ईश्वर और स्वर्ग प्राप्ति का सच्चा मार्ग ४४-भारतीय संस्कृति का बीज मंत्र यज्ञोपवीत ४५-यज्ञोपवीत द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति ४६-मैं क्या हूँ ? ४७-वशीकरण की सच्ची सिद्धि ४८-ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग ।

आपत्तियों में धैर्य
खण्ड ज्योति प्रेस मथुरा

लेखक—
श्रीराम शर्मा आचार्य
गायत्री तपोभूमि मथुरा ।

ॐ भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि
धियो योनः प्रचोदयात् ।

प्रकाशक—
"अखण्ड ज्योति" प्रेस, मथुरा ।

प्रथम बार] सन् १९५८ [मूल्य ।)

आपत्तियों में धैर्य

गायत्री का पाँचवां अक्षर 'तु' आपत्तियों और कठिनाइयों में धैर्य रखने की शिक्षा देता है—

तुषाराणां प्रपातेपि प्रयत्नो धर्म आत्मनः ।
महिमा च प्रतिष्ठां च प्रोक्तेऽपारः श्रमस्यहि॥

अर्थात्—"आपत्तिग्रस्त होने पर भी सत्प्रयत्न करना आत्मा का धर्म है। प्रयत्न की महिमा और प्रतिष्ठा अपार कही गई है।"

मनुष्य के जीवन में विपत्तियाँ, कठिनाइयाँ, विपरीत परिस्थितियाँ, हानियाँ और कष्ट की घड़ियाँ आती ही रहती हैं। जैसे काल-चक्र के दो पहलू-रात और दिन है, वैसे ही सम्पदा और विपदा, सुख और दुःख भी जीवन रथ के दो पहिये है। दोनों के लिये ही मनुष्य को निस्पृह वृत्ति से तैयार रहना चाहिये। आपत्ति में छाती पीटना और सम्पति में इतरा कर तिरछा चलना, दोनों ही अनुचित है।

आशाओं पर तुषारापात होने की, निराशा, चिन्ता, भय और घबराहट उत्पन्न करने वाली स्थिति आने पर भी मनुष्य को अपना मस्तिष्क असन्तुलित नहीं होने देना चाहिये। धैर्य को स्थिर रखते हुये सजगता, बुद्धिमत्ता, शान्ति और दूरदर्शिता के साथ कठिनाइयों को मिटाने का प्रयत्न करना चाहिये। जो कठिन समय मे भी हँसता रहता है, जो नाटक के पात्रों की तरह जीवन के खेल को खेलता है उसी की बुद्धि स्थिर मानी जा सकती है।

समयानुसार बुरे दिन तो निकल जाते हैं, पर वे अनेक अनुभवों, गुणों और सहन शक्ति का उपहार दे जाते हैं। कठिनाइयाँ मनुष्य को जितना सिखाती हैं उतना दस गुरु मिलकर भी नहीं सिखा सकते। संचित प्रारब्ध भोगों बोझ भी उन आपत्तियों के साथ उतर जाता है। आपत्तियाँ हमारे विवेक और पुरुपार्थ को चुनौती देने आती हैं, और जो उस परीक्षा में उत्तीर्ण होता है उसी के गले में कीर्ति प्रतिष्ठा की जयमाला पहनाई जाती है।

इस लिये मनुष्य का कर्तव्य है कि वह भूतकाल से अभिज्ञ, वर्तमान के प्रति सजग और भविष्य के प्रति निर्भय रहे। मनुष्य को अच्छी से अच्छी आशा करनी चाहिये, किन्तु बुरी से बुरी परिस्थितियों के लिये तैयार रहना चाहिये। मानसिक संतुलन सम्पत्ति या विपत्ति, किसी भी दशा में, नहीं बिगड़ने देना चाहिये। वर्तमान की अपेक्षा उत्तम दशा में पहुँचने का पूर्ण प्रयत्न करना तो आत्मा का स्वाभाविक धर्म है, परन्तु कठिनाइयों से घबरा जाना उसके गौरव की दृष्टि से अनुपयुक्त है।

आपत्तियों से डरना व्यर्थ है ?

मनुष्य जीवन में दुख और कठिनाइयों का बड़ा महत्व पूर्ण स्थान है। कठिनाइयों के आघातों मे ही प्रगति का विधान छिपा हुआ है। यदि सदा केवल सरलता और अनुकूलता ही रहे तो चैतन्यता घटती जायगी और मनुष्य शनैः शनैः आलसी, और अकर्मण्य बनने लगेगा उसके मनः क्षेत्र मे एक प्रकार का अवसाद उत्पन्न हो जायगा जिसके कारण उन्नति, अन्वेषण, आविष्कार और महत्वाकांक्षाओं का मार्ग रुद्ध हुए बिना न रहेगा। जब तक दुख की अनुभूति न हो तब तक सुख में कोई आनन्द नहीं मिल सकता। रात न हो सदैव दिन ही रहे तो उस

दिन से किसे क्या आनन्द मिलेगा ? यदि नमक मिर्च, कडुआ कसैला स्वाद न हो और केवल मीठी ही मीठी सदा खाने को मिले तो वह मधुरता एक भार बन जायगी। इसी प्रकार सुख में आनन्द का आस्वादन होना तभी संभव है जब दुख का पुट साथ-साथ में हो । दुख को हम बुरा कहते हैं पर वस्तुतः वही प्रगति का वास्तविक केन्द्र है ।

संसार में जितने महापुरुष हुए हैं, उनकी महानता, यश एवं प्रतिष्ठा का कारण उनकी कष्ट सहिष्णुता ही है । राजा हरिश्चन्द्र यदि भङ्गी के हाथों न बिके होते तो वे भी मामूली राजा रईसों की भाँति मर खप गये होते कोई उनका नाम भी न जानता होता । दधीच, शिबि, प्रहलाद, मोरध्वज, सीता, दमयन्ती, द्रोपदी, कुन्ती, आदि के जीवन में यदि कठिनाई न आतीं, वे लोग भोग ऐश्वर्य से पूरित जीवन बिताते रहते तो उनकी महानता का कोई कारण शेप न रहता । दुर्गम पर्वतों पर उगने वाले वृक्ष ही विशाल आकार के और दीर्घ जीवी होते हैं, जो फुलवारी नित्य सोचीं जाती है वह कुछ ही दिन में मुरझाकर अपनी जीवन लीला समाप्त कर देती है। जो समाज एवं राष्ट्र परिश्रमी और कष्ट सहिष्णु होता है वही विजय और उन्नति का वरण करता है । इतिहास बताता है कि जो जातियां सुखोपभोग मे डूबी वे थोड़े ही समय में हतप्रभ होकर दीनता और दासता के गर्त में गिर पड़ीं ।

हमारे पूर्वज कष्ट सहिष्णुता के महान लाभों से भली प्रकार परिचित थे इसलिए उन्होंने उसके अभ्यास को जीवन व्यवस्था मे प्रमुख स्थान दिया था । तितीक्षा और तपश्चर्या के कार्य क्रम के अनुसार वे दुखों से लड़ने का वैसा ही पूर्णाभ्यास करते थे जैसे युद्ध स्थल में लड़ने से पूर्व फौजी जवान को बहुत दिन तक युद्ध कौशल की शिक्षा प्राप्त करनी होती है । राजा

रईसों के बालक भी प्राचीन काल में शिक्षा प्राप्त करने के लिये ऋषियों के गुरुकुलों मे जाया करते थे और कठोर श्रम जीवी दिनचर्या को अपना कर विद्याध्ययन करते थे। जैसे जलाशय को पार करने का अवसर मिलने पर तैराक को बड़ा उत्साह और आनन्द होता है वैसे ही कष्ट सहिष्णु जीवन के अभ्यासी को नाना प्रकार की उलझनों और आपत्तियों को पार करने में अपने पौरुष और गौरव के विकाश का उत्साह वर्धक अवसर दिखाई पड़ता है। इसके विपरीत जो लोग केवल सुख ही सुख को चाहते हैं वे अति सामान्य-रोज मर्रा के जीवन में आती रहने वाली घटनाओं से भी ऐसी घबराहट, चिन्ता, बेचैनी और पीड़ा अनुभव करते हैं मानों उनके सिर पर कोई भारी वज्र टूट पड़ा हो।

कठिनाइयां हर मनुष्य के जीवन में आती हैं, उनका आना अनिवार्य और आवश्यक है। प्रारब्ध कर्मों के भोग के बोझ को उतारने के ही लिए नहीं वरन् मनुष्य की मनोभूमि और अन्तरात्मा को सुदृढ़, तीक्ष्ण, पवित्र, प्रगति शील, अनुभवी और विकसित करने के लिए भी कष्टों एवं आपत्तियों की भारी आवश्यकता है। जैसे भगवान मनुष्य को दया करके नाना प्रकार के उपहार दिया करते हैं वैसे ही वे दुख और आपत्तियों का भी आयोजन करते हैं, जिससे मनुष्य का अज्ञान, अहकार, आलस्य, अपवित्रता और व्यामोह नष्ट हो।

कठिनाइयां आने पर हतप्रभ, किंकर्तव्य विमूढ़ या कायर हो जाना और हाथ पैर फुलाकर रोना झीकना शुरू कर देना, अपने को या दूसरों को कोसना सर्वथा अनुचित है। यह तो भगवान् की उस महान् कृपा का तिरस्कार करना हुआ। इस प्रकार तो वह कठिनाई कुछ लाभ न दे सकेगी वरन् उलटे निराशा, कायरता, अवसाद, दीनता, आदि का कारण बन

जायगी। कठिनाई देखकर डर जाना प्रयत्न छोड़ बैठना, चिन्ता और शोक करना किसी सच्चे मनुष्य को शोभा नहीं देता। आपत्ति एक प्रकार से हमारे पुरुषार्थ को ईश्वरीय चुनौती है। जिसे स्वीकार करके ही हम प्रभु के प्रिय बन सकते हैं। अखाडे के उस्ताद पहलवान नौसिखिये पहलवानों का कुश्ती लड़ना सिखाते हैं तो उन्हे पटक मारकर दाव पेच सिखाते हैं। नौसिखिये लोग पटक खाकर शोक संतप्त नहीं हो जाते वरन् अपनी भूल को समझ कर फिर उस्ताद से लड़ते हैं और धीरे-धीरे पूरे एवं पक्के पहलवान बन जाते हैं। ईश्वर ऐसा ही उस्ताद है जो आपत्तियां की पटक मार मार कर हमारी अनेक अपूर्णताऐं दूर करके पूर्णता तक पहुँचाने की महान् कृपा करता है।

कठिनाइयों से डरने या घबराने की कोई बात नहीं, वह तो इस सृष्टि का एक उपयोगी, आवश्यक एव सार्वभौम विधान है। उससे न तो दुखी होने की जरूरत है न घबराने की, न किसी पर दोषारोपण करने की। हां, हर आपत्ति के बाद नये साहस और नये उत्साह के बाद उस परिस्थिति से लड़ने की और प्रतिकूलता को हटाकर अनुकूलता उत्पन्न करने के लिए प्रयत्न शीलता की आवश्यकता है। यह प्रयत्न आत्मा का धर्म है, इस धर्म को छोड़ने का अर्थ अपने को अधर्मी बनाना है। प्रयत्न की महिमा अपार है। आपत्ति द्वारा जो दुख सहना पड़ता है उसकी अपेक्षा उसे विशेष समय में विशेष रूप से प्रयत्न करने का जो स्वर्ण अवसर मिला उसका महत्व अधिक है। प्रयत्नशीलता ही आत्मोन्नति का प्रधान साधन है जिसे आपत्तियां तीव्र गति से बढ़ाती है।

प्रयत्न, परिश्रम, एवं कर्तव्य पालन से मनुष्य के गौरव एवं वैभव का विकाश होता है। जो आनन्द मय जीवन का रसास्वादन करना चाहता है उसे कठिनाइयो से निर्भय होकर

अपने कर्तव्य पथ पर दृढ़ता पूर्वक आरूढ़ हो जाना चाहिए और हँसते हुए हर स्थिति का मुकाबिला करना चाहिए।

कठिनाइयों द्वारा आध्यात्मिक विकास

मनुष्य का आध्यात्मिक विकास सदा कठिनाइयों से लड़ते रहने से होता है। जो व्यक्ति जितना ही कठिनाइयों से भागता है, वह उतना ही अपने आपको निकम्मा बनाता है और जो उन्हे जितना ही आमन्त्रित करता है वह अपने आपको योग्य बनाता है। मनुष्य जीवन की सफलता उसकी इच्छा शक्ति के बल पर निर्भर करती है। जो व्यक्ति जितना ही यह बल रखता है वह जीवन में उतना ही सफल होता है। इच्छा शक्ति का बल बढ़ाने के लिए सदा कठिनाइयों से लड़ते रहना आवश्यक है। जिस व्यक्ति का कठिनाइयों से लड़ने का अभ्यास रहता है वह नयी कठिनाइयों के सामने आने से भयभीत नहीं होता, वह उनका जमकर सामना करता है। कायरता की मनोवृत्ति ही मनुष्य के लिये अधिक दुखों का कारण होती है। शूरवीर की मनोवृत्ति ही दुखों का अन्त करती है। निर्बल मन का व्यक्ति सदा अभद्र कल्पनाएँ अपने मन में लाता है। उसके मन में भली कल्पनाएँ नहीं आतीं। वह अपने आपको चारों ओर से आपत्तियों से घिरा पाता है। अतएव अपने जीवन को सुखी बनाने का सर्वोत्तम उपाय कठिनाइयों से लड़ने के लिए सदा तत्पर रहना हीं है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

मनुष्य की कठिनाइयां दो प्रकार की होती हैं—एक बाहरी और दूसरी आन्तरिक अर्थात् भीतरी। साधारण मनुष्य की दृष्टि बाहरी कठिनाइयों की ओर ही जाती है, विरले ही मनुष्य की दृष्टि भीतरी कठिनाइयों को देखने की क्षमता रखती है। पर

वास्तव में मनुष्य की सच्ची कठिनाइयां आन्तरिक हैं, बाहरी कठिनाइयां आन्तरिक कठिनाइयों का आरोपण मात्र हैं। किसी भी प्रकार की परिस्थिति मनुष्य को लाभ अथवा हानि पहुँचा सकती हैं। अकूनुल परिस्थिति बुराई का काम कर सकती है और प्रतिकूल भलाई का। जो परिस्थिति मनुष्य को भयभीत करती है वही वास्तव में उसकी हानि करती है। यदि परिस्थिति कठिन हुई और उससे मनुष्य भयभीत न हुआ तो वह मनुष्य की हानि न कर उसका लाभ ही करती है।

मनुष्य का मन आन्तरिक चिन्तन से बली होता है। जिस व्यक्ति को अपने कर्तव्य का पूरा निश्चय है, जो उसको पूरा करने के लिए अपना सर्वस्व खोने के लिए तैयार रहता है उसे कोई भी परिस्थिति भयभीत नहीं करती। मनुष्य के मन में अपार शक्ति है। वह जितनी शक्ति की आवश्यकता अनुभव करता है उसकी शक्ति उसे अपने ही भीतर से मिल जाती है। जो व्यक्ति अपने आपको कर्त्तव्य दृष्टि से भारी सङ्कटों में डालता रहता है वह अपने भीतर अपार शक्ति की अनुभूति भी करने लगता है। उसे अपने संकटों को पार करने के लिए असाधारण शक्ति भी मिल जाती है। जैसे २ उसकी इस प्रकार की आन्तरिक शक्ति की अनुभूति बढ़ती है उसकी कार्य क्षमता भी बढ़ती है।

जब कभी कोई मनुष्य अपने आपको कठिनाइयों में पड़े हुए पाता है तो उसे अपने कर्त्तव्य का ध्यान नहीं रहता। कर्त्तव्य का ध्यान रखने पर बाहरी कठिनाई घिर जाती है। कठिनाई मे पड़े हुए व्यक्ति का कर्तव्य सम्बन्धी विचार उलझे हुए रहते हैं। यदि किसी व्यक्ति की आन्तरिक कठिनाइयां उलझ जॉय तो उसकी बाहरी कठिनाइयां भी सरलता से सुलझ जॉय। बाहरी और भीतरी कठिनाइयां एक दूसरे की सांचेर हैं। मनुष्य

को अपने आपका ज्ञान बाहरी कठिनाइयों से लड़ने से होता है और जैसे २ उसे अधिकाधिक ज्ञान होता है वह बाहरी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने में भी समर्थ होता है ।

प्रत्येक कठिनाइयों से भय की अनुभूति करने वाले व्यक्ति के मन में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति रहती है इस अन्तर्द्वन्द्व के कारण मनुष्य की मानसिक शक्ति का एकीकरण नहीं होता, आपस में बटवारा होने के कारण और व्यर्थ लड़ाई हो जाने के कारण मनुष्य का मन निर्बल होता है । ऐसी अवस्था मे जब एक बाहरी भारी कठिनाई उसके सामने आ जाती है तो वह अपनी मानसिक शक्ति को बटोर नहीं पाता और उससे भयार्त हो जाता है । जिस प्रकार भीतरी संघर्ष चलने वाला राष्ट्रनिर्बल होता है और बाहरी आपत्तियों का आवाहन करता है उसी प्रकार मानसिक अन्तर्द्वन्द्व वाले व्यक्ति का मन भी निर्बल होता है और अनेक प्रकार की कठिनाइयां उसके सामने आती रहती हैं यदि कोई व्यक्ति जम कर ऐसी कठिनाइयों का सामना करे तो उसके आंतरिक मन मे भी एकता प्राप्त हो जाय । निकम्मा मन ही शैतान की क्रिया-शाला होता है । बाहरी कठिनाइयों के हल करने के प्रयत्न में अनेक कठिनाइयां अपने आप ही हल हो जाती हैं ।

साधारणतः जो काम मनुष्य के हाथ में आ जाय और जिससे न केवल अपना ही लाभ हो वरन् दूसरे का भी लाभ हो उसे छोड़े न । वह काम पूरा करने के लिए जो त्याग और कष्ट सहने की आवश्यकता हो उसे सहे । यदि वह अपना अभ्यास इस तरह बनाले तो वह देखेगा कि उसे धीरे-धीरे ठोस आध्यात्मिक ज्ञान होता जाता है । जो ज्ञान मनुष्य को दार्शनिक चिन्तन मात्र से नहीं आता वही ज्ञान उसे अपनी परिस्थितियों से लड़ने से आ जाता है । जो मानसिक एकता और शान्ति, राग-भोग से नहीं

आती वही कठिनाइयों से लड़ने से अपने आप आ जाती है।

कठिनाइयों से लड़ते रहना न केवल अपने जीवन को सफल बनाने के लिए आवश्यक है वरन् दूसरे लोगों को भी प्रोत्साहित करने के लिये आवश्यक है। जिस प्रकार मनुष्य के दुर्गुण संक्रामक होते हैं उसी प्रकार सद्गुण भी संक्रामक होते हैं एक कायर को रण से भागते देखकर दूसरे सैनिक भी रण से भाग पड़ते है और एक को रण में जमकर लडते देख कर दूसरे व्यक्ति भी हिम्मत नहीं छोड़ते। उनके भीतर भी वीरता का भाव जाग्रत हो जाता। सभी मनुष्यों में सभी प्रकार के दुर्गुणों और सद्गुणों की भावना रहती है। मनुष्य जिस प्रकार के वातावरण मे रहता है उसमें उसी प्रकार के मानसिक गुणों का आविर्भाव होता है। वीर पुरुष का चरित्र ही दूसरे लोगों के लिए शिक्षा है। यही उसकी समाज के सबसे बड़ी देन होती है।

कठिनाइयाँ हमारी उन्नति में सहायक होती है

साधारण लोग कठिनाइयों को दुर्भाग्य की बात समझते हैं। जिन लोगों ने किसी सम्पन्न परिवार मे जन्म लिया है वे तो हर तरह की असुविधा से ही बहुत घबडाते हैं और यही अभिलाषा किया करते हैं कि उनकी समस्त आवश्यकतायें बिना किसी दिक्कत के यथा समय पूर्ण होती रहे। अन्य लोग भी ऐसे व्यक्तियों को बड़ा 'भाग्यवान' समझते है। पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। जिन लोगों ने कभी जीवन की कठोरता के दर्शन नहीं किये है, वे अनेक दृष्टियों से कच्चे रह जाते हैं। इसलिये भगवान ने जहाँ सुखों की, सुविधाओं की सृष्टि की है, वहाँ दुखों और कठिनाइयों की रचना करदी है। इनका अनुभव हुये बिना मनुष्य अपूर्ण रह जाता है और उसका उचित विकास नहीं हो पाता।

भगवान् को दया सिन्धु एवं करुणा सागर कहा जाता है। उनके वात्सल्य, दान और उपकार का कोई अन्त नहीं। साधारण प्राणियों का जब अपनी कृतियों पर, अपनी संतति पर इतना ममत्व होता है तो उस महान प्रभु का अपने बालकों पर कितना स्नेह होगा इसकी कल्पना करना भी सहज नहीं है। चित्रकार अपने चित्र को, माली अपने बाग को, मूर्तिकार अपनी मूर्ति को, किसान अपने खेत को, गड़रिया अपनी भेड़ों को अच्छी, उन्नत, विकसित स्थिति में रखना चाहता है। उन्हे अच्छी स्थिति में देखकर प्रसन्न होता है, फिर परमात्मा अपनी सर्व श्रेष्ठ रचना मनुष्य को अच्छी स्थिति मे न रखना चाहे, ऐसा नहीं हो सकता है। निश्चय ही प्रभु का यह प्रयत्न निरन्तर रहता है कि हम सब सुखी एवं सुविकसित हो। उनकी दया और करुणा निरन्तर हमारे ऊपर बरसती रहती है।

इतना होते हुए भी देखा जाता है कि कितने ही मनुष्य अत्यन्त दुखी हैं। उन्हे अनेक प्रकार के कष्ट और अभाव सता रहे हैं भय, पीडा वियोग, त्रास, अन्याय एवं अभाव से संत्रस्त हुए कितने ही व्यक्ति बुरी तरह दुख सागर में गोते लगा रहे हैं किसी-किसी पर ऐसी आकस्मिक विपत्ति आती हैं कि देखने वालों का हृदय दहल जाता है। ऐसे अवसरों पर ईश्वर की दयालुता पर सन्देह होने लगता है। कई बार तो कष्टों को दैवी कोप, ईश्वरीय निष्ठुरता मान लिया जाता है। परन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है। प्रभु एक क्षण भर के लिए भी करुणा रहित नहीं हो सकते उनकी अनन्त दया का निर्झर एक क्षण के लिये भी नहीं रुक सकता। जिसे हम विपत्ति समझते हैं। वह भी एक प्रकार से उनकी दया ही होती है।

माता का अपने बच्चे पर असाधारण प्यार होता है, वह उसे सुखी बनाने के लिए अपनी समझ के अनुसार कोई बात

उठा नहीं रखती तो भी उसके कई कार्य ऐसे हैं जो बालक को अप्रिय होते हैं। बालक किसी स्वादिष्ट भोजन को बहुत अधिक मात्रा में खाना चाहता है, माता जानती है कि अधिक खाने से यह बीमार पड़ जायगा इसलिए वह बच्चे के रूठने, रोने, हाथ पांव पीटने की कुछ भी परवा न करके उतना ही खाने देती है जितना कि आवश्यक है। आग, हथियार, बारूद आदि से बच्चे को दूर रखा जाता है, वह उनसे खेलना चाहे तो बल पूर्वक रोक दिया जाता है। घर के पशुओं के साथ खेलना चाहे तो भी उसे रोका जाता है ताकि उनके पैरों की चपेट में आकर कहीं कुचल न जाय। बच्चा खिड़की छज्जे में से बाहर की ओर झुक कर देखना चाहे तो उसकी स्वाधीनता को तुरन्त रोक दिया जाता है। कोई अनुचित काम करने पर चपत भी लगाये जाते हैं और डराने के लिए कोठरी में भी बन्द कर दिया जाता है। कई बार उसे मुर्गा बनाने, धूप मे खडा होने, कान पकड़ कर उठने बैठने, भूखा रहने, आदि की सजा दी जाती है। बीमार होने पर माता उसे कडुई दवा जबरदस्ती पिलाती है और उसके कष्ट की परवा न करके आवश्यक होने पर इन्जेक्शन या आपरेशन कराने के लिए भी छाती कड़ी करके तैयार हो जाती है।

बालक समझता है कि माता बड़ी निष्ठुर है, मुझे अमुक वस्तु नहीं देती, अमुक प्रकार सताती है और अमुक कष्ट पड़ने पर भी मेरी सहायता नहीं करती। अल्पज्ञता के कारण वह माता के प्रति अपने मन में दुर्भावना ला सकता है, उस पर निष्ठुरता का दोषारोपण कर सकती है, पर निश्चय ही उसकी मान्यता भ्रमपूर्ण होती है, यदि वह माता के हृदय को देख सकता तो उसे प्रतीत होता है कि उसमें कितनी अपार करुणा भरी हुई है और कितना ऊँचा वात्सल्य उसमे हिलोरें ले रहा है, यदि इतना वा लह न होता तो उसके हित साधना के लिए बच्चे के कष्ट के

समय होने वाले अपने दुख को, वह किस प्रकार छाती कड़ी करके सहन करती ?

माता के दुलार के तरीके दो प्रकार के होते है। एक—वे जिनसे बालक प्रसन्न होता है। जब उसे मिठाई खिलौने बढ़िया कपड़े आदि दिये जाते हैं और सैर कराने या तमाशे दिखाने ले जाया जाता है तो बालक प्रसन्न होता है और सोचता है कि मेरी माता कितनी अच्छी है। परन्तु जब माता काजल लगाने के लिए हाथ पकड़ कर जबरदस्ती करती है, जबरदस्ती नहलाती है, स्कूल जाने के लिए कमची फटकार कर विवश करती है तो बच्चा झल्लाता है और माता को कोसता है। बाल बुद्धि नहीं जानती कि कभी मधुर कभी कठोर व्यवहार उनके साथ क्यों किया जाता है। वह माता के वात्सल्य पर शङ्का करता है, जो 'वस्तु स्थिति' को जानते है उन्हे पता है कि माता बच्चे के प्रति केवल उपकार का व्यवहार ही कर सकती है। मधुर और कठोर दोनों ही व्यवहारो में वात्सल्य भरा होता है। प्रभु को कृपा भी दो प्रकार की होती है एक सुख दूसरी दुख। दोनों में ही हमारा हित और उसका स्नेह भरा होता है। अल्पज्ञता उस वस्तुस्थिति से हमें परिचित नहीं होने देती, पर भगवान की जब कृपा होती है, सद्बुद्धि का हृदय में प्रकाश हो जाता है, तो 'कष्ट' नाम की दुख देने वाली कोई वस्तु शेप नहीं रहती। कठोर एवं प्रतिकूल परिस्थितियां एक भिन्न प्रकार का दैवी उपहार प्रतीत होता है और इनसे डरने या दुखी होने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता।

सुख से मनुष्य को कई लाभ हैं, चित्त प्रसन्न रहता है, इन्द्रियां तृप्त होती हैं, मन मे उत्साह रहता है, उन्नति करने के साधन उपलब्ध होते हैं। इच्छाऐं पूरी करने में सुविधा रहती है, मित्र बढ़ जाते हैं साहस बढ़ता है, मान बड़ाई के अवसर मिलते हैं। इस प्रकार के और भी लाभ सुख में होते हैं परन्तु दुख के

लाभ भी कम नहीं हैं। दुख से मनुष्य की सोई हुई प्रतिभा का विकाश होता है, कष्ट से त्राण पाने के लिए मन के सब कल पुर्जे बड़ी तत्परता से क्रिया शील होते हैं, शरीर भी आलस्य छोड़कर कर्म निष्ठ हो जाता है। घोड़े को अच्छी चाल सिखाने वाले सईस उसके चूतड़ पर हंटर फटकारते हैं जिससे घोड़ा उत्तेजित होकर जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाता है, इसी समय लगाम के इशारे से उसे बढ़िया चाल चलाने का अभ्यास कराया जाता है। दुख, एक प्रकार का हंटर है जो हमारी शिथिल हुई शारीरिक और मानसिक शक्तियों को भड़का कर क्रियाशील बनाता है और साथ ही धर्माचरण की शिक्षा देकर सही चाल चलना सिखाता है।

फोड़ा चिर जाने से उसमें भरा हुआ मवाद निकल जाता है, दस्त हो जाने से पेट में संचित मल की शुद्धि हो जाती है, लंघन हो जाने से कोष्ट गत दोषों का शमन हो जाता है। दुख आजाने से संचित पाप भार उतर जाता है और अन्तःचेतना बड़ी शुद्ध, निर्मल एवं हलकी हो जाती है। सोने को अग्नि में डालने से उसके साथ चिपटे हुए दूषित पदार्थ छूट जाते हैं और कान्तिमान तपा हुआ शुद्ध स्वर्ण प्रत्यक्ष हो जाता है। मनुष्य की कितनी ही बुराइयाँ बुरी आदतें, दूषित भावनाऐं और विचार धाराऐं तब तक नहीं छूटती जब तक कि वह किसी विपत्ति में नहीं पड़ता। कुदरत का एक बडा तमाचा खाकर उस देहाश को होश आता है और तब वह उस वेढंगी चाल को सँभालता है। जो ज्ञान बड़े बड़े उपदेशों, प्रवचनों और कथाओं के सुनने से नहीं होता वह विरक्ति की एक दुलत्ती खा लेने पर बड़ी सरलता से हृदयंगम हो जाता है, इस प्रकार कई बार काल दंड का एक आघात, हजार ज्ञानी गुरुओं से अधिक शिक्षा दे जाता है।

सुख में जहाँ अनेक अच्छाइयाँ हैं वहाँ यह एक भारी बुराई भी है कि मनुष्य उन सुख साधनों को सत्कर्म बढ़ाने में

लगाने का सदुपयोग भूल कर, ऐश उड़ाने, अहंकार में डूब जाने, अधिक जोड़ने, के कुचक्र में पड़ जाता है। उसके समय का अधिकांश भाग तुच्छ स्वार्थों में लगा रहता है परमार्थ की ओर से वह प्रायः पीठ ही फेर लेता है। इस बुरी स्थिति से अपने पुत्र को बचाने के लिए ईश्वर उसकी धन सम्पत्ति छीन लेते हैं। पढ़ने से जी चुराकर हर घड़ी खिलौने से उलझे रहने वाले बालक के खिलौने जैसे माता छीन कर छिपा देती है वैसे ही धन सन्तान, स्त्री, वैभव आदि के खेल खिलौनों को छीनकर ईश्वर हमें यह प्रेरणा करता है कि इस झंझट की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण कार्य करने को आपके लिए पड़ा हुआ है। 'खेल छोड़ो और स्कूल जाओ' की शिक्षा के लिए कई बार हानि का, आपत्ति का, दैवी आयोजन होता है।

कितनी ही उच्च आत्माएं तप रूपी कष्ट को अपना परम मित्र और विश्व कल्याण का मूल समझ कर उसे स्वेच्छा पूर्वक छाती से लगाती हैं। इससे उनकी कीर्ति अजर अमर हो जाती है और उस तप की अग्नि युग युगान्तरों तक जनता को प्रकाश देती रहती है। हरिश्चन्द्र, प्रहलाद, शिव, मोरध्वज, दधीचि, प्रताप, शिवाजी, हकीकतराय, बन्दावैरागी, भागीरथ, गौतम बुद्ध, ईसामसीह आदि ने जो कष्ट सहे, वे उनने स्वेच्छा पूर्वक शिरोधार्य किये थे। यदि वे अपनी गति विधि मे थोड़ा सा परिवर्तन कर लेते तो उन आपत्तियों से सहज ही बच सकते थे। पर उनने देखा की यह कष्ट या हानि, उन महान लाभ की तुलना मे तुच्छ है इसलिए उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक अपने कष्टसाध्य मार्ग पर दृढ़ रहना उचित समझा। दूसरे लोग यह कल्पना कर सकते हैं कि उन्होंने बड़े कष्ट सहे, पर यदि उनकी मनोभूमि का कोई ठीक प्रकार परिचय प्राप्त कर सकेगा तो उसे प्रतीत होगा कि

उनकी अन्तरात्मा प्रसन्नता पूर्वक उस सब को सहन कर रही थी।

भगवान जिसे अपनी शरण में लेते हैं, जिसे बन्धन मुक्त करना चाहते हैं, उसके अनिवार्य कर्म भोगों को जल्दी जल्दी भुगतवा कर उसे ऐसा ऋण मुक्त बना देते हैं कि भविष्य के लिए कोई बन्धन शेष न रहे और भक्त को फिर जन्म मरण के चक्र में न पड़ना पड़े। एक ओर तो विपत्ति द्वारा प्रारब्ध भोग समाप्त हो जाते हैं दूसरी ओर उसकी आन्तरिक पवित्रता बहुत बढ़ती है इन उभय पक्षीय लाभों से वह बड़ी गति से परम लक्ष की ओर प्रगति करता है। तपस्वी लोग ऐसे कष्टों को प्रयत्न पूर्वक अपने ऊपर आमन्त्रित करते है ताकि उनकी लक्ष यात्रा शीघ्र पूरी हो जाय।

साधारणतः अनेक सद्गुणों के विकाश के लिए भगवान समय-समय पर अनेक कटु अनुभव कराते हैं। बच्चे की मृत्यु होने पर उसके शोक में 'वात्सल्य' का हृदय गत परम सात्विक-तत्व उमडता है जिसके कारण वह अन्य बालकों पर अधिक प्रेम करना सीखता है। देखा गया है कि जिसकी पहली पत्नी गुजर जाती है वह अपनी दूसरी पत्नी मे अधिक सद् व्यवहार करता है क्योंकि एक पत्नी खोने के कारण जो भावोद्रेक मन मे हुआ उसके कारण दाम्पत्ति कर्त्तव्यो का उसे ज्ञान हुआ है और अपने प्रथम दाम्पत्य की अपेक्षा दूसरे दाम्पत्ति जीवन में अधिक सफल सिद्ध होता है, एक वियोग उसे उस खोई हुई वस्तु के महत्व को भली प्रकार हृदयंगम करा देता है। धन खोकर मनुष्य यह सीखता है कि धन का सदुपयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए। रोगी हो जाने पर आदमी यह जान पाता है कि संयत आहार विहार का क्या महत्व है। गाली-देने पर जिसका मुँह पिट जाता है उसी को यह अकल आती है कि गाली देना

बुरी बात है। जिसको अत्याचार सहना पड़ा है वही जानता है कि दूसरों पर यदि जुल्म करूँ तो उन्हें कितना कष्ट होगा। जब हम आपत्ति ग्रस्त होकर दूसरों की सहायता के लिए हाथ पसारते हैं और दीन नेत्रों से दूसरों की ओर ताकते हैं तब यह पता चलता है कि दूसरे दुखियों की सहायता करना हमारे लिए भी कितना आवश्यक कर्तव्य है।

धैर्य एक महत्व पूर्ण गुण है ?

संसार में रहते हुये विपरीत परिस्थितियाँ अथवा आपत्तियाँ आना स्वाभाविक है। विशेष कर यदि हम कोई महत्व पूर्ण कार्य करना चाहते हैं तो उसमें अनेक कठिनाइयों का मुकाबला करना अनिवार्य ही समझना चाहिये। अनेक व्यक्ति ऐसे ही भय के कारण किसी भारी काम मे हाथ नहीं डालते। संभव है वे इस जीवन मे आपत्तियों से बच जायें, पर वे किसी प्रकार की प्रगति, उन्नति भी नहीं कर सकते और एक तत्वदर्शी की निगाह में उनका जीवन कीड़े मकोड़ों से बढ़कर नहीं होता।

जिसने शरीर धारण किया है उसे सुख दुःख दोनों का ही अनुभव करना होगा। शरीर धारियों को केवल सुख ही सुख या केवल दुख ही दुख कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता। जब यही बात है, शरीर धारण करने पर सुख दुःख दोनों का ही भोग करना है, तो फिर दुःख मे अधिक उद्विग्न क्यो हो जायें ? दुःख सुख तो शरीर के साथ लगे ही रहते हैं। हम धैर्य धारण करके उनकी प्रगति को ही क्यों न देखते रहे। जिन्होंने इस रहस्य को समझ कर धैर्य का आश्रय ग्रहण किया है, संसार मे वे ही सुखी समझे जाते हैं। धैर्य की परीक्षा सुख की अपेक्षा दुःख मे ही अधिक होती है। दुःखों की भयङ्करता को देखकर विचलित

होना प्राणियों का स्वभाव है। किन्तु जो ऐसे समय में भी विचलित नहीं होता वही 'पुरुषसिंह' धैर्यवान् कहलाता है। आखिर हम अधीर होते क्यों हैं? इसका कारण हमारे हृदय की कमजोरी के सिवा और कुछ भी नहीं है। इस बात को सब कोई जानते हैं कि आज तक संसार में ब्रह्मा से लेकर कृमिकीट पर्यन्त सम्पूर्ण रूप से सुखी कोई भी नहीं हुआ। सभी को कुछ न कुछ दुःख अवश्य हुए हैं। फिर भी मनुष्य दुःखों के आगमन से व्याकुल होता है, तो यह उसकी कमजोरी ही कही जा सकती है। महापुरुषों के सिर पर सींग नहीं होते, वे भी हमारी तरह दो हाथ और दो पैर वाले साढ़े तीन हाथ के मनुष्याकार जीव होते हैं। किन्तु उनमें यही विशेषता होती है कि दुःखों के आने पर वे हमारी तरह अधीर नहीं हो जाते। उन्हें प्रारब्ध कर्मों का भोग समझ कर वे प्रसन्नता पूर्वक सहन करते है। पाण्डव दुःखों से कातर होकर अपने भाइयों के दास बन गये होते, मोरध्वज पुत्र शोक से दुखी होकर मर गये होते, हरिश्चन्द्र राज्यलोभ से अपने वचनों से फिर गये होते, श्री रामचन्द्र वन के दुःखों की भयंकरता से घबड़ाकर अयोध्यापुरी में रह गये होते, शिवि राजा ने यदि शरीर के कटने के दुःखों से कातर होकर कबूतर को बाज के लिये दे दिया होता, तो इनका नाम अब तक कौन जानता? ये भी असंख्य नरपतियों की भांति काल के गाल मे चले गये होते, किन्तु इनका नाम अभी तक ज्यों का त्यों ही जीवित है, इसका एक मात्र कारण उनका धैर्य ही है।

अपने प्रियजन के वियोग से हम अधीर हो जाते हैं। क्यों कि वह हमें छोड़कर चल दिया। इस विषय में अधीर होने से क्या काम चलेगा? क्या वह हमारी अधीरता को देखकर लौट आवेगा? यदि नहीं, तो हमारा अधीर होना व्यर्थ है। फिर

हमारे अधीर होने का कोई समुचित कारण भी तो नहीं। क
जिसने जन्म धारण किया है, उसे मरना तो एक दिन है ही
जन्मा है वह मरेगा भी। सम्पूर्ण सृष्टि के पितामह ब्रह्म
चराचर सृष्टि उन्हीं से उत्पन्न हुई है। अपनी आयु समाप्त
पर वे भी नहीं रहते। क्योंकि वे भी भगवान विष्णु के
कमल से उत्पन्न हुए हैं। अतः महाप्रलय में वे भी विष्
शरीर में अन्तर्हित हो जाते हैं। जब यह अटल सिद्धान्त
जायमान वस्तु का नाश होगा ही, तो फिर तुम उस अपने
का शोक क्यों करते हो? उसे तो मरना ही था, आज नहीं
कल और कल नहीं तो परसों। सदा कोई जीवित रहा भी
वह रहता? जहाँ से आया था, चला गया। एक दिन तुम
जाना है। जो दिन शेष हैं, उन्हें धैर्यके साथ उस गुणागारके
के चिन्तन में बिताओ।

शरीर में व्याधि होते ही हम विकल हो जाते हैं।
होने से आज तक कोई रोग-विमुक्त हुआ है? यह शरीर व्या
का घर है। जाति, आयु, भोग को साथ लेकर ही तो यह
उत्पन्न हुआ है। पूर्व जन्म के जो भोग हैं, वे तो भोगने प

दान पुण्य, जप, तप, और औषधि-उपचार करो अ
किन्तु उनसे आराम न होने पर अधीर मत हो जाओ। व
भोग की समाप्ति में ही, दान, पुण्य और औषधिकारण बन
हैं। बिना कारण के कार्य नहीं होता तुम्हें क्या पता कि तु
व्याधिके नाशमें क्याकारण बनेगा? इसलिये आर्यपुरुषोंने श
जो उपाय बताये हैं उन्हें ही करो। साथ ही धैर्य भी धारण
रहो। धैर्य से तुम व्याधियों के चक्कर से सुखपूर्वक छूट स

जीवन की आवश्यक वस्तुऐं जब नहीं प्राप्त होती
हम अधीर हो जाते हैं। हा! घर में कलको खाने के लिये
भर अन्न नहीं है, स्त्री की साड़ी बिलकुल चिथड़ा बन

बच्चा भयङ्कर बीमारी में पड़ा हुआ है, उसकी दवा-दारू का कुछ भी प्रबन्ध नहीं। क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? इन्हीं विचारों में विकल हुए हम रात-रात भर रोया करते हैं और हमारी आँखें सूज जाती हैं। ऐसा करने से न तो अन्न ही आ जाता है और न स्त्री की साड़ी ही नई हो जाती है। बच्चे की भी दशा नहीं बदलती। सोचना चाहिये हमारे ही ऊपर ऐसी विपत्तियां हैं सो नहीं। विपत्तियों का शिकार किसे नहीं बनना पड़ा? त्रिलोकेश इन्द्र ब्रह्म हत्या के भय से वर्षों घोर अन्धकार में पड़े रहे। चक्रवर्ती महाराज हरिश्चन्द्र डोम के घर जाकर नौकरी करते रहे। उनकी स्त्री अपने मृत बच्चे को जलाने के लिये कफन तक नहीं प्राप्त कर सकी। जगत् के आदि कारण मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी को चौदह वर्षों तक घोर जङ्गलों में रहना पड़ा। वे अपने पिता चक्रवर्ती महाराज दशरथ को पावभर आटे के पिण्ड भी न दे सके। जङ्गल के इंगुदी फलों के पिण्डों से ही उन्होंने चक्रवर्ती राजा की तृप्ति की।

शरीर धारी कोई भी ऐसा नहीं है जिसने विपत्तियों के कड़वे फलों का स्वाद न चखा हो। सभी उन अवश्य प्राप्त होने वाले कर्मों के स्वाद से परिचित है। फिर हम अधीर क्यों हों? हमारे अधीर होने से हमारे आश्रित भी दुःखी होंगे, इसलिये हम धैर्य धारण करके क्यों नहीं उन्हे समझावे? जो होना है, होगा। बस, विवेकी और अविवेकी में यही अन्तर है। जरा, मृत्यु और व्याधियां दोनों को ही होती हैं किन्तु विवेकी उन्हें अवश्यम्भावी समझ कर धैर्य के साथ सहन करता है और अज्ञानी विकल होकर विपत्तियों को और बढ़ा लेता है—महात्मा कबीर ने इस विषय पर क्या ही उपयुक्त बात कही है।

ज्ञानी काटे ज्ञान से, अज्ञानी काटे रोय।
मौत, बुढ़ापा आपदा, सब काहू को होय॥

जो धैर्य का आश्रय नहीं लेते, वे दीन हो जाते हैं, पर-मुखापेक्षी बन जाते हैं। इससे वे और भी दुःखी होते हैं। संसार मे परमुखापेक्षी बनना, दूसरेके सामने जाकर गिड़गिड़ाना, दूसरे से किसी प्रकार की आशा करना, इससे बढ़कर दूसरा कष्ट और कोई नहीं है। इसलिए विपत्ति आने पर धैर्य धारण किये रहिए और विपत्ति के कारणों को दूर करने एवं सुविधा प्राप्त करने के प्रयत्न में लग जाइये। जितनी शक्ति अधीर होकर दुखी होने मे खर्च होती है उससे आधी शक्ति भी प्रयत्न में लगा दी जाय तो हमारी अधिकांश कठिनाइयों के निवारण का हल निकल सकता है।

प्रत्येक परिस्थिति में आगे बढ़िये

मनुष्य-जीवन उन्नति करने के लिये है। कहने के लिये संसार मे शेर, हाथी, सर्प आदि मनुष्य से कहीं अधिक शक्ति-शाली प्राणी मौजूद हैं, पर अन्य किसी प्राणी में वह विवेक-शक्ति नहीं पाई जाती जिससे भलाई-बुराई, लाभ-हानि का निर्णय करके उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हुआ जा सके। संसार के अन्य समस्त प्राणी प्रकृति द्वारा निर्मित एक छोटे से दायरे में ही जीवनयापन करते हैं। यह विशेषता केवल मनुष्य को ही प्राप्त है कि वह इच्छानुसार नये-नये मार्ग खोज कर अगम्य स्थलों पर जा पहुंचता है और महत्वपूर्ण कार्यों को सम्पादित करता है। जो लोग ऐसी श्रेष्ठ मनुष्य-योनि को पाकर भी उन्नति के मार्ग पर आगे नहीं बढ़ते वे वास्तव में बड़े अभागे हैं।

"अगर मुझे अमुक सुविधाऐं मिलती तो मैं ऐसा करता" इस प्रकार की बातें करने वाले एक झूठी आत्म प्रवंचना किया करते हैं। अपनी नालायकी को भाग्य के ऊपर ईश्वर के ऊपर, थोप कर खुद निर्दोष बनना चाहते हैं। यह एक असंभव

मांग है कि यदि मुझे अमुक परिस्थिति मिलती तो ऐसा करता। जैसी परिस्थिति की कल्पना की जा रही है यदि वैसी मिल जाँय तो वे भी अपूर्ण मालूम पड़ेंगी और फिर उससे अच्छी स्थिति का अभाव प्रतीत होगा। जिन लोगों के पास धन, विद्या, मित्र, पद आदि पर्याप्त मात्रा में मिले हुए है हम देखते हैं कि उनमें से भी अनेकों का जीवन बहुत अस्तव्यस्त और असन्तोषजनक स्थिति में पड़ा हुआ है। धन आदि का होना उनके आनन्द की वृद्धि न कर सका वरन् जी का जंजाल बन गया। जो सर्प-विद्या नहीं जानता उसके पास बहुत सांप होना भी खतरनाक है। जिसे जीवन-कला का ज्ञान नहीं, उसे गरीबी में अभावग्रस्त अवस्था मे थोड़ा बहुत आनन्द तब भी है, यदि वह सम्पन्न होता तो उन सम्पत्तियों का दुरुपयोग करके अपने को और भी अधिक विपत्तिग्रस्त बना लेता।

यदि आपके पास आज मनचाही वस्तुऐं नहीं हैं, तो निराश होने की कुछ आवश्यकता नहीं है। टूटी फूटी चीजें हैं उन्हीं की सहायता से अपनी कला को प्रदर्शित करना आरम्भ कर दीजिये। जब चारों ओर घोर घना अन्धकार छाया हुआ होता है तो वह दीपक जिसमे छदाम का दिया, आधे पैसे का तेल और दमड़ी की बत्ती है-कुल मिलाकर एक पैसे की भी पूँजी नहीं है-चमकता है, और अपने प्रकाश से लोगों के रुके हुए कामों को चालू कर देता है। जब कि हजारों पैसे के मूल्य वाली वस्तुऐं चुपचाप पड़ी होती है, यह एक पैसे की पूँजी वाला दीपक प्रकाशवान होता है अपनी महत्ता प्रकट करता है, लोगों का प्यारा बनता है प्रसंशित होता है और अपने आस्तित्व को धन्य बनाता है। क्या दीपक ने कभी ऐसा रोना रोया कि मेरे पास इतने मन तेल होता, इतनी रुई होती, इतना बड़ा मेरा आकार होता तो ऐसा बड़ा प्रकाश करता? दीपक को कर्महीन

नालायकों की भांति बेकार–शेखचिल्लियों के से मनसूबे बांधने की फुरसत नहीं है, वह अपनी आज की परिस्थिति, हैसियत, औकात को देखता है, उसका आदर करता है और अपनी केवल मात्र एक पैसे की पूँजी से कार्य आरम्भ कर देता है। उसका कार्य छोटा है, बेशक, पर उस छोटेपन में भी सफलता का उतना ही अंश है जितना कि सूर्य और चन्द्र के चमकने की सफलता में है। यदि आन्तरिक संतोष, धर्म, और परोपकार की दृष्टि से तुलना की जाय तो अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार दोनों का ही कार्य एकसा है। दोनों का ही महत्व समान है, दोनों की सफलता एक सी है।

सच बात तो यह है कि अभावग्रस्त, कठिनाइयों में पले हुए, साधन हीन व्यक्ति ही संसार के नेता महात्मा, महापुरुष सफल जीवन, मुक्तिपथगामी हुए हैं। कारण यह है कि विपरीत परिस्थितियों से टकराने पर मनुष्य की अन्तः प्रतिभा जागृत होती है, सुप्त शक्तियों का विकाश होता है। पत्थर पर रगड़ खाने वाला चाकू तेज होता है और वह अपने काम में अधिक कारगर साबित होता है उसका स्वभाव, अनुभव और दिमाग मंज कर साफ हो जाता है जिससे आगे बढ़ने में उसे बहुत सफलता मिलती है। इसके विपरीत जो लोग अमीर और साधन सम्पन्न घरों में पैदा होते हैं उन्हें जीवन की आवश्यक सामिग्रियां प्राप्त करने के लिए संघर्ष नहीं करना पड़ता, लाड़ दुलार, ऐश, आराम के कारण उनकी प्रतिभा निखरती नहीं, वरन् बन्द पानी की तरह सड़ जाती है या निष्क्रिय चाकू की तरह जङ्ग लगकर निकम्मी हो जाती है। आमतौर पर आज कल ऐसा देखा जाता है कि अमीरों के लड़के अपने जीवन में असफल रहते हैं और गरीबों के लड़के आगे चलकर चमक जाते हैं। पुराने जमाने में राजा रईस लोग अपने लड़कों को ऋषियों के आश्रम

में इसलिए भेज देते थे कि वहां रहकर अभावग्रस्त जीवन व्यतीत करें और अपनी प्रतिभा को तीव्र बनावें।

हमारा उद्देश्य यह कहने का नहीं है कि अमीरी कोई बुरी चीज है और अमीरों के घर में पैदा होने वाले उन्नत जीवन नहीं बिता सकते। जहां साधन है वहाँ तो और भी जल्दी उन्नति होनी चाहिए। बढ़ई के पास बढ़िया लकड़ी और अच्छे औजार हों तब तो वह बहुत ही सुन्दर फर्नीचर तैयार करेगा यह तो निश्चित है। हमारा तात्पर्य केवल यह कहने का है कि यदि "जिन्दगी जीने की कला" आती हो तो अभाव, कठिनाई या विपरीत परिस्थिति भी कुछ बाधा नहीं डाल सकतीं, गरीबी या कठिनाई में साधनों की कमी का दोष है तो प्रतिभा को चमकाने का गुण भी है। अमीरी में साधनों की बाहुल्यता है तो लाड़ दुलार और ऐश आराम के कारण प्रतिभा के कुन्द हो जाने का दोष भी है। दोनों ही गुण दोष युक्त हैं। किन्तु जो जीवन जीना जानता है वह चाहे अमीर हो या गरीब, अच्छी परिस्थितियों में हो या कठिनाइयों में पड़ा हो कुछ भी क्यों न हो, हर एक स्थिति में अनुकूलता पैदा कर सकता है हर अवस्था में उन्नति, सफलता और आनन्द प्राप्त कर सकता है।

आनन्दमय जीवन बिताने के लिए धन विद्या, अच्छा सहयोग, स्वास्थ्य आदि की आवश्यकता है, परन्तु ऐसा न समझना चाहिए कि इन वस्तुओं के होने से ही जीवन आनन्द-मय बन सकता है। एक अच्छी पुस्तक लिखने के लिए कागज दवात, कलम की आवश्यकता है, परन्तु इन तीनों के इकट्ठे हो जाने से ही पुस्तक तैयार नहीं हो सकती। बुद्धिमान लेखक ही उत्तम पुस्तक के निर्माण में प्रमुख है, दवात कलम कागज तो एक गौण और छोटी वस्तु हैं। जिसे पुस्तक लिखने की योग्यता है उसका काम रुका न रहेगा, इन वस्तुओं को वह बहुत ही

आसानी से इकट्ठी कर लेगा। आज तक एक भी घटना किसी ने ऐसी न सुनी होगी कि अमुक लेखक इसलिये रचनायें न कर सका कि उसकी दवात में स्याही न थी। अगर कोई लेखक यों कहे कि—"क्या करूँ साहब मेरे पास कलम ही न थी, यदि कलम होती तो बहुत बढ़िया ग्रन्थ लिख देता।" तो उसकी इस बात पर कोई विश्वास न करेगा। भला कलम भी कोई ऐसी दुष्प्राय वस्तु है जिसे लेखक प्राप्त न कर सके। एक कहावत है कि "नाच न जानें आंगन टेढ़ा" जिसे नाचना नहीं आता वह अपनी अयोग्यता को यह कह कर छिपाता है कि—क्या करूँ आंगन टेढ़ा है। टेढ़ा ही सही, जिसे नाचना आता है उसके लिये टेढ़ेपन के कारण कुछ विशेष अड़चन पडने की कोई बात नहीं है। इसी प्रकार जो जीवन की विद्या जानता है उसे साधनों का अभाव और विपरीत परिस्थितियों की शिकायत करने की कोई बात नहीं है। साधनों की आवश्यकता है बेशक, परन्तु इतनी नहीं कि उनके बिना प्रगति ही न हो सके।

चतुर पुरुष विपरीतता मे अनुकूलता पैदा कर लेते हैं। विष को अमृत बना लेते हैं। संखिया, कुचला, धतूरा, पारा, सींगिया, हरताल आदि प्राणघातक विषों मे लोग रोगनाशक, आयुवर्धक, रसायनें बनाते हैं। बालू में से चाँदी, कोयले में से हीरा निकालते हैं। सर्पों की विष थैली में से मणि प्राप्त करते हैं धरती की शुष्क और कठोर तह को खोदकर शीतल जल निकालते हैं, गरजते समुद्र के पेट में घुसकर मोती लाते हैं। दृष्टि पसार कर देखिये, आपको चारों ओर ऐसे कलाकार बिखरे हुये दिखाई पड़ेंगे जो तुच्छ चीजों की सहायता से बड़े महत्व पूर्ण कार्य करते हैं, ऐसे वीर पुरुषों की कमी नहीं है जो वज्र जैसी निष्ठुर परिस्थिति में प्रवेश करके विजय लक्ष्मी का वरण करते हैं। यदि आपकी इच्छा शक्ति जरा वजनदार हो तो आप

भी इन्हीं कलाकारों और वीर पुरुषों की श्रेणी में सम्मिलित होकर अपनी आज की सारी विपरीत परिस्थितियों को अनुकूल बना सकते हैं। अपनी सारी शिकायतें, चिन्ताऐं, विवशताऐं आसानी के साथ संतोष, आशा और समर्थता में बदल सकती हैं।

आपत्तियों से चिन्तित न हों।

अनेक व्यक्ति आपत्तियों से इतने भयभीत रहते हैं कि वे तरह-तरह की सच्ची और झूँठी आपत्तियों की कल्पना करके अपने जीवन को चिन्ता-ग्रस्त बना लेते है। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो भूतकाल की गुजरी हुई घटनाओं और भविष्य-काल की भली-बुरी संभावनओं के लिये व्याकुल होना निरर्थक है। पर ये व्यक्ति प्रायः वर्तमान का ख्याल छोड़कर पुरानी घट-नाओं का ही रोना रोया करते है अथवा भविष्यकाल में आने वाली सम्भावित कठिनाइयों की कल्पना करके डरते रहते हैं। ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ बुद्धिहीनता और डरपोकपन की परिचायक हैं। पुरानी या नई, कैसी भी आपत्तियों के कारण चिन्ता करना सब तरह से हानिकारक है। इसमें हमारी बहुत-सी शक्ति व्यर्थ ही नष्ट हो जाती है और हम अपने सम्मुख उपस्थित वास्तविक समस्याओं को हल करने में भी असमर्थ हो जाते हैं।

चिन्ता मन में केन्द्रित भूत नाना दुखद स्मृतियों तथा भावी भय की आशंका से उत्पन्न मानव मात्र का सर्वनाश करने वाला, उसकी मानसिक शारीरिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों का ह्रास करने वाला दुष्ट मनोविकार है। एक बार इस मान-सिक व्याधि के रोगी बन जाने से मनुष्य कठिनता से इससे मुक्ति पा सके है, क्योंकि अधिक देर तक रहने के कारण यह गुप्त मन में एक जटिल मानसिक भावना ग्रन्थि के रूप में प्रस्तुत रहता है। वहीं से हमारी शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं को परिचालित करता है। आदत बन जाने से, चिन्ता नैराश्य का

रूप ग्रहण कर लेता है। ऐसा व्यक्ति निराशावादी हो उठता है
उसका सम्पूर्ण जीवन नीरस, निरुत्साह और असफलताओं
परिपूर्ण हो उठता है।

चिन्ता का प्रभाव संक्रामक रोग की भाँति विषैला है
जब हम चिन्तित व्यक्ति के सम्पर्क में रहते हैं, तो हम
निराशा के तत्व खींचते हैं और अपना जीवन निरुत्साह से प
पूर्ण कर लेते हैं। बहुत से व्यक्ति कहा करते हैं कि "भा
अब हम थक गये, बेकाम हो गये। अब परमात्मा हमें सम्हाल
तो अच्छा है।" वे इसी रोनेको रोते रहते हैं कि हम बड़े अभा
कि हम बड़े अभागे हैं, कम नसीब हैं, हमारा भाग्य फूट गया
दैव हमारे प्रतिकूल है, हम दीन हैं, गरीब हैं। हमने सरतो
परिश्रम किया किन्तु भाग्य ने साथ नहीं दिया।" ऐसी चिन्त
करने वाले व्यक्ति यह नहीं जानते कि इस तरह का रोना रोने
हम अपने हाथ से अपने भाग्य को फोड़ते हैं, उन्नति रूपी कौमु
को काले बादलों से ढक लेते हैं।

एक सुप्रसिद्ध विद्वान का कथन है—आपके जीवन
नाना पुरानी दुखद, कटु, चुभने वाली स्मृतियाँ दबी हुई प
हैं। उनमें नाना प्रकार की बेवकूफियाँ, अशिष्टताएं, मूर्ख
से युक्त कार्य भरे पड़े हैं। अपने मन मन्दिर के किवाड़ उन
लिये बन्द कर दीजिये। उनकी दुःख भरी पीड़ा, वेदना, हाहाक
की काली परछांई वर्तमान जीवन पर मत आने दीजिए। इ
मन के कमरे में इस मृतकों को, भूतकाल के मुर्दों को दफ
दीजिये। इसी प्रकार मन का वह कमरा भी वन्द कर दीजि
जिसमें भविष्य के लिए मिथ्या भय, शंकाएँ, निराशापूर्ण कल्पन
एकत्रित हैं। इस अजन्मे भविष्य को भी मन की कोठरी
दृढ़ता से वन्द कर दीजिए। मरे हुए अतीत को अपने मुर्दे दफना
दीजिए। आप तो 'आज' की परवाह कीजिये। 'आज'

मदमाता, उल्लासपूर्ण 'आज' आपकी अमूल्य निधि है। यह आप के पास है। आपका साथी है। 'आज' की प्रतिष्ठा कीजिए। उस से खूब खेलिए, कूदिए, मस्त रहिये और उसे अधिक से अधिक उल्लासपूर्ण बनाइये। 'आज' जीवित चीज है। 'आज' में वह शक्ति है, जो दुखद कल को भुलाकर भविष्य के मिथ्या भयों को नष्ट कर सकता है।"

इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि भविष्य के लिए कुछ न सोचें, या न विचारें? नहीं, यदापि नहीं। इसका तात्पर्य यही है कि आगे आने वाले 'कल' के लिए, व्यर्थ ही चिन्ता करने से काम न चलेगा, वरन् अपनी समस्त बुद्धि, कौशल, युक्ति और उत्साह से आज का कार्य सर्वोत्कृष्ट रूपमें सम्पन्न करनेसे चलेगा। यदि हम 'आज' का कार्य कर्त्तव्य समझकर सम्पूर्ण एकाग्रता और लगन से पूर्ण करते हैं, तो हमें 'कल' की (भविष्य की) चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार आप उज्वल भविष्य का निर्माण कर सकते हैं।

ईसाइयों में प्रार्थना का एक अंश इस प्रकार है, 'हे प्रभु! हमें आज का भोजन दीजिए। हमें आज समृद्ध कीजिए।" स्मरण रखिए, प्रार्थना का तात्पर्य है कि 'आज' हमें भोजन, आनन्द, समृद्धि प्राप्त हों। इसमें न तो बीते हुए कल के लिए शिकायत है, न आने वाले 'कल' के लिए याचना या भय। यह प्रार्थना हमें 'आज' (वर्तमान) का महत्व स्पष्ट करती है। यदि हम आज को आदर्श रूप में अधिकतम आनन्द से व्यतीत करलें तो हमारा भावी जीवन स्वयं समुन्नत हो सकेगा।

सैकड़ों वर्ष पूर्व एक निर्धन दर्शनवेत्ता ऐसे पर्वतीय प्रदेश में घूम रहा था, जहाँ लोग कठिनता से जीविकोपार्जन कर पाते थे। एक दिन उसने उन्हें एकत्रित किया और एक लघु भाषण में कहा—" 'कल' की चिन्ताओं मे निमग्न आत्माओं! कल के

भय, चिन्ताओं और अन्धकार में क्यों इस सुन्हरे वर्तमान को नष्ट कर रहे हो? कल स्वयं अपनी चिन्ता करेगा। यदि तुम आज को अधिकाधिक आनन्द, सन्तोप और आदर्श रूप में व्यतीत कर सको तो उत्तम है। परमेश्वर स्वयं तुम्हारे भविष्य को समुन्नत करने मे प्रयत्नशील है।"

महापुरुष ईसा ने कहा है—"कल की चिन्ता मत करो।" पर इसका वास्तविक मर्म वहुत कम लोग समझते हैं। कल की चिंता मत करो? आप कहेंगे कल की चिन्ता कैसे न करें? हमारे परिवार है। हमारे बच्चों की शिक्षा, वस्त्र, भोजन, मकान की विपम समस्याएँ हैं? कल हमें उनके विवाह करने हैं? क्या रुपया एकत्रित किए विना काम चलेगा? हमें वीमा पौलिसी में रुपया जोड़ना चाहिए? हमारी आज नौकरी लगी है कल छूट भी सकती है! आज हम स्वस्थ हैं कल वीमार पड़ेंगे तो कैसे काम चलेगा? वृद्धावस्था में हमारा क्या होगा?

इस प्रकार की वातें ठीक हैं। एक विचारशील मस्तिष्क में ये विचार आने चाहिये। हमारा सुझाव है कि आप 'कल' के लिये अपने आपको शक्तिशाली वनाने के लिये, योग्यतर, स्वस्थ, आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने के लिये नई योजनाओ को कार्यान्वित करें। भावी जीवन के लिये जितना सम्भव हो तैयारी कीजिए, परिश्रम, उद्योग, मिलनसारी द्वारा समाज में अपना स्थान वनाइये, पर चिन्ता न कीजिये। योजना वना कर दूरदर्शिता पूर्ण कार्य करना एक वात है, चिन्ता करना दूसरी वात है। चिन्ता से क्या हाथ आवेगा? जो रही सही शक्ति और मानसिक सन्तुलन है, वह भी नष्ट हो जायगा। चिन्ता तो आपके उत्साह, शक्ति और प्रसन्नता से पंगु कर देगी। जिस कठिनाई या प्रतिरोध को आप अपनी व्यक्तिगत शक्तियों को वखूवी जीत सकते थे, वह पर्वत सदृश कठिन प्रतीत होगी। चिंता आपकेसामने

एक ऐसा अन्धकार उत्पन्न करेगी, कि आपको उस महान् शक्ति केन्द्र का ज्ञान न रह जायगा, जो आदिकर्त्ता परमेश्वर ने आपके अङ्ग प्रत्यङ्ग में छुपा रखा है।

युद्ध, बीमारी, दिवाला, या दुखद मृत्यु के अन्धकार पूर्ण रुदन में, शुभ चिन्तन और अशुभ चिन्तन में केवल यह अन्तर है:—अच्छा विचार वह है जो कार्य-कारण के फलों को तर्क की कसौटी पर परखता है, दूर की देखता है और किस कार्य से भविष्य में क्या फल होगा, इसका सम्बन्ध देखकर भावी उन्नति की योजनाएँ निर्माण करता है। सृजनात्मक विचार भावी निर्माण में पुरानी गलतियों की सजा के अनुभवों और संसार की कठोरताओं देख भाल कर अपनी उन्नति के लिये योजना प्रदान करता है। अच्छे चिन्तन में संग्रहीत सांसारिक अनुभावों के बल पर उत्साह और आशा का शुभ्र आलोक है, कार्यनिष्ठा और साहस का बल है, शक्ति और कुशलता का पावन योग है, कार्य से भागकर नहीं, वरन् गुत्थियों को सुलझा कर अपूर्व सहनशक्ति का परिचय देने का विधान है।

बुरी विचार धारा का प्रारम्भ ही डर और घबराहट से होता है। कठिनाइयाँ आ रही हैं, हमे वह कार्य करना ही पड़ेगा, जो साधारणतः हम ने नहीं किया है, पैसा और शक्ति पास में नहीं रहेगी, फिर क्या किया जायगा—ऐसी फालतू गलत कल्पनाएँ आकर शक्ति और उत्साह का विनाश कर देती हैं। मानसिक सन्तुलन नष्ट हो जाता है। इच्छाशक्ति और मनोबल पिछली गलतियों की स्मृति और वेदनाओं से नष्ट या पंगु हो जाता है। पश्चाताप एवं आत्म ग्लानि के अन्धकार में ऐसा व्यक्ति रही सही शक्ति को भी खो बैठता है। यह गलत कल्पनाएं चिन्ता जैसी राक्षसी की ही सन्तानें हैं।

आज कल पागलखानों तथा शफाखानों में मानसिक रोगों

के जितने बीमार आते हैं, उनमें से अधिकांश ऐसे होते हैं, जो चिन्ता भार के कारण मन को सन्तुलित नहीं रख सके है। उनके मस्तिष्क में बीते हुए जीवन के हृदयद्रावक हाहाकार, कल्पना, मौन रुदन हैं। प्रिय व्यक्ति के विछोह की आकुलता, पीड़ा और दुस्सह वेदना है। हजारों रुपयों की हानि की कसक है। समाजमें दूसरों द्वारा की हुई मानहानि की जलन है, समाज, अफसर, रूढ़ियों तथा पुलिस द्वारा किये गये अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह है। कोई पिटते कुटते ऐसे जड़ निराशावादी हो गये हैं कि उनका जैसे आनन्द का स्रोत ही सूख गया है। इन्हीं अनुभवों के बल पर वे भविष्य में भय से उत्पन्न दुष्प्रवृत्तियो के शिकार हैं। अपनी प्रतिकूलता के दूषित विचार उनके अन्तः करण की उत्तम योजनाओं को क्षण भर में धूल में मिला देते हैं। मनुष्यकी मानसिक शक्तियों को क्षय कर चिन्तामें फँसाने वाला भय महाराक्षस है। भय की प्रथम संतान चिन्ता है। इन स्मृतियों तथा भावी दुस्वप्नों का द्वन्द्व मानसिक रोगो के रूप में प्रकट होता है। अव्यक्त आशंकायें, दुश्चिन्तायें, कुकल्पनायें संस्काराधीन होती हैं। वे रोग के रूप मे उद्भूत होकर किसी प्रकार अपनी परितृप्ति चाहती हैं।

आपत्ति-निवारण के कुछ स्वर्ण-सूत्र

विपत्ति से घबराओ मत। विपत्ति कड़वी जरूर होती है, पर याद रक्खो, चिरायता और नीम जैसी कड़वी चीजों से ही ताप का नाश होकर शरीर निर्मल होता है।

विपत्ति मे कभी भी निराश मत होओ। याद रक्खो, अन्न उपजा कर संसार को सुखी कर देने वाली जल की बूँदें काली घटा से ही बरसती हैं।

विपत्ति असल में उन्हीं को विशेष दुःख देती है, जो उससे

डरते है। जिनका मन दृढ़ हो, संसार की अनित्यता का अनुभव करता हो और हर बात में भगवान की दया देखकर निडर रहता हो, उसके लिए विपत्ति फूलों की सेज के समान है।

जैसे रास्ते में दूर से पहाड़ियों को देखकर मुसाफिर घबड़ा उठता है कि मैं इन्हें कैसे पार करूँगा, लेकिन पास पहुँचने पर वे उतनी कठिन नहीं मालूम होतीं, यही हाल विपत्तियों का है। मनुष्य दूर से उन्हें देखकर घबड़ा उठता है और दुःखी होता है, परन्तु जब वे ही सिर पर आ पड़ती हैं तो धीरज रखने से थोड़ी-सी पीड़ा पहुँचाकर ही नष्ट हो जाती हैं।

जिस तरह खरादे बिना सुन्दर मूर्ति नहीं बनती उसी तरह विपत्ति से गढ़े बिना मनुष्य का हृदय सुन्दर नहीं बनता।

विपत्ति प्रेम की कसौटी है। विपत्ति में पड़े हुए बन्धु-बान्धवों से तुम्हारा प्रेम बढ़े और वह तुम्हें निरभिमान बनाकर आदर के साथ उनकी सेवा करने को मजबूर करदे, तभी समझो कि तुम्हारा प्रेम असली है। इसी प्रकार तुम्हारे ऊपर विपत्ति पड़ने पर तुम्हारे बन्धु-बान्धवों और मित्रों की प्रेम परीक्षा हो सकती है।

काले बादलों के अन्धेरे में ही बिजली की चमक छिपी रहती है, विपत्ति अर्थात दुःख के बाद सुख, निराशा के बाद आशा, पतझड़ के बाद बसन्त ही सृष्टि का नियम है।

याद रहे कि जब तक सुख की एकरसता को वेदना की विषमता का गहरा आघात नहीं लगता तब तक जीवन के यथार्थ सत्य का परिचय नहीं मिल सकता।

विपत्ति पड़ने पर पाँच प्रकार से विचार करो १—तुम्हारे अपने ही कर्म का फल है, इसे भोग लोगे तो तुम कर्म के एक कठिन बन्धन से छूट जाओगे।

२—विपत्ति तुम्हारे विश्वास की कसौटी है, इसमें न

घबड़ाओगे तो तुम्हें भगवान की कृपा प्राप्त होगी।

३—विपत्ति मङ्गलमय भगवान का विधान है और उनका विधान कल्याणकारी ही होता है। इस विपत्ति में भी तुम्हारा कल्याण ही भरा है।

४—विपत्ति के रूप में जो कुछ तुम्हें प्राप्त होता है, यह ऐसा ही होने को था, नयी चीज कुछ भी नहीं बन रही है, भगवान् का पहले से रचकर रक्खा हुआ ही दृश्य सामने आता है।

५—जिस देह को, जिस नाम को और जिस नाम तथा देह के सम्बन्ध को सच्चा मानकर तुम विपत्ति से घबराते हो, वह देह, नाम और सम्बन्ध–सब आरोपमात्र हैं, इस जन्म से पहले भी तुम्हारा नाम, रूप और सम्बन्ध था, परन्तु आज उससे तुम्हारा कोई सरोकार नहीं है, यही हाल इसका भी है, फिर विपत्ति में घबड़ाना तो मूर्खता ही है, क्योंकि विपत्ति का अनुभव देह, नाम और इनके सम्बन्ध को लेकर ही होता है।"

जीवन के समस्त अन्य व्यापारों की तरह कठिनाइयाँ और आपत्तियों का आते-जाते रहना भी एक स्वाभाविक नियम है। उनको बुरा या भला समझना बहुत कुछ अपनी मनोवृत्ति पर निर्भर है। पर वास्तव में अधिकाश आपत्तियाँ मनुष्य को उसकी गलतियाँ बतलाने वाली और शिक्षा देने वाली होती हैं। इस लिये मनुष्य का कर्तव्य है कि कैसी भी आपत्तियाँ क्यों न आवें धैर्य को कभी न छोड़े और शान्त चित्त से उनके निवारण का प्रयत्न करे। ऐसा करने से वे आपत्तियाँ हानि करने के बजाय अंतिम परिणाम में लाभकारी ही सिद्ध होंगी।

—※—

हरीहर इलैक्ट्रिक मशीन प्रेस, मथुरा।

जीवन को सुख-शान्तिमय बनाने वाला साहित्य

(मूल्य प्रत्येक पुस्तक का छः-छः आना है)

१-सूर्यचिकित्सा विज्ञान २-प्राणचिकित्सा विज्ञान ३-स्वस्थ बनने की विद्या ४-भोग में योग ५-बुद्धि बढ़ाने के उपाय ६-आसन और प्राणायाम ७-तुलसी के अमृतोपम गुण ८-महान जागरण ९-तुम महान हो १०-घरेलू चिकित्सा ११ दीर्घ जीवन के रहस्य १२-नेत्रों की प्राकृतिक चिकित्सा १३-स्वप्न दोष की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा १४-दूध की आश्चर्यजनक शक्ति १५-उन्नति का मूलमन्त्र ब्रह्मचर्य १६-उपवास के चमत्कार १७-स्त्री रोग चिकित्सा १८-बालरोग चिकित्सा १९-कब्ज की चिकित्सा २०-निरोग जीवन का राजमार्ग २१-चिरस्थाई यौवन २२-सौन्दर्य बढ़ाने के ठोस उपाय २३-मनुष्य शरीर की बिजली के चमत्कार २४-पुत्र-पुत्री उत्पन्न करने की विधि २५-हमारी पारिवारिक समस्याएँ २६-मनचाही सन्तान २७-दाम्पत्ति जीवन का सुख २८-हमारे आन्तरिक शत्रु २९-क्या खाये ?क्यों खायें ? कैसे खायें ? ३०-हमारे सभ्यता के कलङ्क ३१-धनवान बनने के गुप्त रहस्य ३२-मरने के बाद हमारा क्या होता है ? ३३-मित्रभाव बढ़ाने की कला ३४-आकृति देखकर मनुष्य की पहिचान ३५-हमें स्वप्न क्यों दीखते हैं ? ३६-विचार करने की कला ३७-हम वक्ता कैसे बन सकते हैं ? ३८-सफलता के तीन साधन ३९-जिंदगी कैसे जिएँ ४०-प्रसिद्धि और समृद्धि ४१-ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ? ४२-क्या धर्म अधर्म ? ४३-ईश्वर और स्वर्ग प्राप्ति का सच्चा मार्ग ४४-भारतीय संस्कृति का बीज मंत्र यज्ञोपवीत ४५-यज्ञोपवीत द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति ४६-मैं क्या हूँ ? ४७-वशीकरण की सच्ची सिद्धि ४८-ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग ।

'अखण्ड-ज्योति' प्रेस, मथुरा ।

नारी की महानता

लेखक-
श्रीराम शर्मा आचार्य
गायत्री तपोभूमि, मथुरा ।

ॐ भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि
धियो योनः प्रचोदयात् ।

प्रकाशक-
"अखण्ड ज्योति" प्रेस, मथुरा ।

प्रथम वार] सन् १९५८ [मूल्य ।)

नारी की महानता

गायत्री का पांचवां अक्षर 'व' नारी जाति की महानता और उसके विकास की शिक्षा देता है—

वंद नारीं विना कोऽन्यो निर्माता मनु सन्तते।
महत्वं रचना शक्तेः स्वस्याः नार्यहि ज्ञायताम्॥

अर्थात्—'मनुष्य की निर्मात्री नारी ही है। नारी को अपनी शक्ति का महत्व समझना चाहिए।'

नारी से ही मनुष्य उत्पन्न होता है। बालक की आदि गुरु उसकी माता ही होती है। पिता के वीर्य की एक बूँद ही निमित्त मात्र होती है, बाकी बालक के समस्त अंग प्रत्यंग माता के रक्त से बनते हैं। उस रक्त में जैसी स्वस्थता, प्रतिभा, विचार-धारा, अनुभूति होगी उसी के अनुसार बालक का शरीर, मस्तिष्क और स्वभाव बनेगा। नारियां यदि अस्वस्थ, अशिक्षित, अविकसित, पराधीन, कूपमण्डूक और दीनहीन रहेंगी तो उन के द्वारा उत्पन्न बालक भी इन्हीं दोषों से युक्त होंगे। ऊसर खेत में अच्छी फसल उत्पन्न नहीं हो सकती।

यदि मनुष्य जाति उन्नति चाहती है तो पहले नारी को शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक सभी दृष्टियों से महत्व-पूर्ण और सुविकसित बनाना होगा तभी मनुष्यों में सबलता, सक्षमता, सद्बुद्धि, सद्गुण और महानता के संस्कारों का उदय हो सकता है। नारी को पिछड़ा हुआ रखना अपने पैरों में आप कुल्हाड़ी मारना है।

मनुष्य-समाज दो भागों में बँटा हुआ है—(१) नर

(२) नारी। आजकल नर की उन्नति, सुविधा और सुरक्षा के लिए तो प्रयत्न किया जाता है, परन्तु नारी हर क्षेत्र में पिछड़ी है। फल स्वरूप हमारा आधा राष्ट्र, आधा समाज, आधा परिवार, आधा जीवन पिछड़ा हुआ रह जाता है। जिस रथ का एक पहिया बड़ा और दूसरा छोटा हो वह ठीक ढंग से नहीं चल सकता। हमारा देश, समाज जाति तब तक सच्चे अर्थों में विकसित नहीं कहे जा सकते। जब तक नारी को भी नर के समान ही क्रियाशीलता और प्रतिभा प्रकट करने का अवसर न मिले ।

नारियों के उत्थान की समस्या—

नारी का महत्व इतना अधिक होने पर भी वर्तमान समय में हमारे देश की अवस्था इस दृष्टि से विपरीत ही दिखलाई पड़ती है। हम यह तो भली प्रकार समझते हैं कि साधारण गृहस्थ समाज में, सुखी जीवन-यापन में नारी का बड़ा भारी हाथ रहता है। योग्य नारी के आगमन से घर चमक उठता है। और अयोग्य के उपस्थित होने पर वह कलह एवं अशान्ति का अखाड़ा बन जाता है। साधारणतः प्रत्येक स्त्री पुरुष की योग्यता एवं विचारों में तारतम्य रहता ही है। पर वह इतना अधिक होजाय कि बात-बात में एक दूसरे से अनबन बढ़ने लगे तो उस घर को लड़ाई का मैदान ही समझना चाहिए। बहुत बार यह अनुभव हुआ है कि आज के वातावरण में पला हुआ युवक चाहता है कि स्त्री नवीन सभ्यता के ढांचे में ढल जाय, पर पत्नी वैसे वातावरण मे न पलने व शिक्षित न होने के कारण उस बात को पसंद नहीं करती। अतः परस्पर में अनबन रहती है। कई व्यक्ति स्त्रियों के साथ जबरदस्ती भी करते हैं। उससे

जबरन मन चाहा कार्य करवाया जाता है। करना तो उसे पड़ता ही है, पर उसका भविष्य अन्धकारमय होजाता है। मन दुर्बल होजाता है। आशाऐं और उत्साह विलीन होजाता है। अतः दोनों के विचारों में साधारणतः समानता होनी जरूरी है। अन्यथा सारा जीवन क्लेशदायक और भार रूप होजाता है। इसके लिए नारी जाति में शिक्षा के प्रचार की बहुत आवश्यकता है। जिससे वह स्वयं अपना भला बुरा सोच समझ सकें और कर्तव्य निर्धारण कर सकें।

शिक्षा की उपयोगिता जीवन के प्रत्येक पल में होने पर भी वर्तमान शिक्षा में सुधार की आवश्यकता प्रतीत होती है। आज की शिक्षित कन्याऐं बड़ी फैशन प्रिय होगई हैं अतः खर्च बहुत बढ़ जाता है वे घर वालों के प्रति अपना कर्त्तव्य भी बिसार देती हैं अतः जिस शिक्षा से वह सुगृहणी बनें उसी की आवश्यकता है।

साधारणतया हमारे यहां कन्या का जन्म पिता के लिये बड़ा दुखद समझा जाता है क्योंकि वह पराया घर बसाती हैं। उसके लिये वर ढूंढने व विवाह करने में एवं उसे दहेज देने में बड़ा अर्थ व्यय करना पड़ता है। वास्तव में दहेज प्रथा समाज के लिए अभिशाप बन चुकी है बिना वर के पिता को राजी किये कन्या का विवाह करना कठिन होगया है अतः वर्तमान समाज व्यवस्था में सुधार करना परमावश्यक है। उसके पराये घर बसाने की कह कर अनादर करना सर्वदा अविचार पूर्ण है क्योंकि हमारे घर में पुत्र-वधू आती है वह पराये घर से आने पर भी हमारा घर बसाती हैं यह तो बराबरी का सौदा है। विधवा बहनों के प्रति तो हमें अधिक सहानुभूति रखना चाहिए

एवं उन्हें समाज सेवा के योग्य बनाने का प्रयत्न करना चाहिये वे चाहें तो समाज का बड़ा कल्याण कर सकती हैं।

नारी धर्म का प्राचीन आदर्श

सत्राजित-दुहिता तथा भगवान श्रीकृष्ण की अर्धांगिनी सत्यभामा ने द्रौपदी से प्रश्न किया 'हे द्रौपदी! कैसे तुम अति बलशाली पाण्डु-पुत्रों पर शासन करती हो? वे कैसे तुम्हारे आज्ञाकारी हैं तथा तुमसे कभी कुपित नहीं होते? तुम्हारी इच्छाओं के पालन हेतु सदैव प्रस्तुत रहते हैं। मुझे इसका कारण बतलाओ।'

द्रौपदी ने उत्तर दिया—'हे सत्यभामा! पाण्डु पुत्रों के प्रति मेरे व्यवहार को सुनो—मैं अपनी इच्छा, वासना तथा अहंकार को वश में कर अति श्रद्धा एवम् भक्ति से उनकी सेवा करती हूँ। मैं किसी अहंकार-भावना से उनके साथ व्यवहार नहीं करती।

मैं बुरा और असत्य भाषण नहीं करती। मेरा हृदय कभी किसी सुन्दर, युवक, धनवान या आकर्षण पर मोहित नहीं होता। मैं कभी नहीं स्नान करती, खाती अथवा सोती जब तक पति नहीं स्नान नहीं कर लेते, खा लेते अथवा सो जाते एवम् तब तक जब तक कि हमारे समस्त सेवक तथा अनुगामी नहीं स्नान कर लेते, खा लेते या सो जाते। जब कभी भी मेरे पति क्षेत्र से वन अथवा नगर से लौटते हैं तो मैं उसी समय उठ जाती हूं, उनका स्वागत करती तथा उनको जलपान कराती हूं।

मैं घर के सामान तथा भोजन को सदैव स्वच्छ एवम् क्रम से रखती हूँ। सावधानी से भोजन बनाती तथा ठीक समय

पर परोसती हूं। मैं कभी भी कठोर शब्द नहीं बोलती। कभी भी अनुलाओं (बुरी स्त्रियों) का अनुसरण नहीं करती।

मैं वही करती हूं जो उनको रुचिकर तथा सुखकर लगता है। कभी भी आलस्य तथा सुस्ती नहीं दिखाती, बिना विनोदावसर के नहीं हँसती। मैं द्वार पर बैठ कर व्यर्थ समय नष्ट नहीं करती। मैं क्रीडा-उद्यान में व्यर्थ नहीं ठहरती जब कि मुझे अन्य काम करने होते हैं।

जोर जोर से हँसना, भावुकता तथा अन्य इसी प्रकार अप्रिय लगने वाली वस्तुओं से अपने को बचाती एवं सदैव पति सेवा में रत रहती हूँ।

पति-विछोह मुझे कभी नहीं सुहाता। जब कभी मेरे पति मुझे छोड़ कर बाहर जाते हैं तो मे सुगन्धित पुष्पों तथा अंगराग का प्रयोग न कर जीवन कठोर तपस्या में बिताती हूं। मेरी रुचि अरुचि, मेरे पति की रुचि अरुचि ही है और उन्हीं की आवश्यकतानुसार अपना समायोग करती हूँ। मैं प्राण पण से अपने पति की भलाई चाहती हूं। मैं उन वक्तव्यों का यथातथ्य पालन करती हूं जो कि मेरी सास ने सम्बन्धियों, अतिथि, दान, देव-पूजा एवम् पितृ-पूजा के विषय बतलाए थे। मैं उनका निशदिन अक्षरशः पालन करती हूं। 'मैं अपने पति के साथ बहुत ही नम्रता और आदर का व्यवहार करती हूं। पति-सेवा में निर्धारित व्यावहारिक नियमों से तनिक भी विचलित नहीं होती। 'मेरा विचार है कि नारी का सर्वोत्तम गुण पति सेवा है। पति स्त्री का ईश्वर है। वही उसका एक मात्र शरणालय है उसके लिए और कहीं शरण नहीं है। ऐसी दशा में पत्नी वह कार्य कैसे कर सकती है जो कि उसके पति को अप्रिय एवं अरुचिकर प्रतीत हो।

मेरे पति मेरे मार्ग प्रदर्शक हैं। मैं कभी भी अपनी सास की बुराई नहीं करती। मैं कभी भी सोने, खाने अथवा अलंकरण में अपने पति की इच्छा के प्रतिकूल नहीं जाती। मैं अपने काम पूर्णतः एकाग्र चित्त, प्रोत्साहित हो किया करती हूं।

मैं अपने गुरू की सेवा अत्यन्त नम्रता से करती हूँ अतएव मेरे पति मुझसे बहुत प्रसन्न रहते हैं। प्रति दिन मैं अपनी सास की सेवा अति आदर और नम्रता से करती हूं। मैं उनके खाने, पीने तथा कपड़ों आदि का स्वयं निरीक्षण करती हूँ। मैंने खाने पीने कपड़े गहने आदि के विषय में अपनी सास से अधिक पाने की कभी इच्छा नहीं की। मैं उनका अत्यधिक सम्मान करती हू। महाराज युधिष्ठिर के राज-प्रसाद में वेद-पाठ करने वाले ब्राह्मणों को मैं भोजन जल तथा परिधान द्वारा पूजा करती हूँ। मैं समस्त परिचारिकाओं के अभियोग सुनती तथा उनके निराकरण का उद्योग करती और उनको सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न करती हूं।

मैं उनके पालन योग्य नियमों को बनाती हूँ। मैं अतिथियों की अति भक्ति भाव से सेवा करती हूं। मैं सर्व प्रथम शैय्या से उठनी तथा सबसे पीछे शयन को जाती हूं।

हे सत्यभामा! यही मेरा व्यवहार और अभ्यास रहा है जिसके कारण मेरे पति मेरे आज्ञाकारी हैं। अब मैं तुमको अपने पति को आकर्षित करने का उपाय बतलाऊँगी। संसार में ऐसा कोई भी देवता नहीं है—जो पति की बराबरी कर सके, यदि पति तुमसे प्रसन्न है तो तुम्हारे पराक्रम की सीमा नहीं है। और यदि अप्रसन्न है तो तुम सब कुछ खो दोगी। तुम अपने पति से परिधान अलंकार कीर्ति यहां तक कि अन्त

में स्वर्ग भी पा सकती हो। जो स्त्री पतिव्रता प्रेम परिचित तथा कर्तव्यवती होती है उसके निमित्त सुख तो एक प्रकार का जन्म सिद्धि अधिकार होता है। उसको कष्ट एवम् कठिनाइयों का यदि सामना करना पड़े तो वे अल्पकालीन तथा मायावी होते हैं। अतएव सदैव प्रेम और भक्ति से कृष्ण की उपासना करो। सेवा के निमित्त सदैव प्रस्तुत रहो पति के सुख का ही ध्यान रक्खो। वह तुम्हारा भक्त बन जावेगा और सोचेगा कि मेरी पत्नी मुझे सचमुच प्यार करती है। मैं भी उसका अनुगमन करूं। द्वार पर जैसे ही अपने पति की आवाज सुनो, खड़ी हो जाओ तथा उसकी सेवा के लिये प्रसन्न वदन हो प्रस्तुत रहो। जैसे ही वह कक्ष में प्रवेश करे उसको आसन तथा पैर धोने को जल दो। जब वह किसी परिचारिका को किसी काम के लिए पुकारे तो तुम स्वय जाकर वह काम करो। कृष्ण को अनुभव करने दो कि तुम अन्तःकरण से उनकी पूजा करती हो। सदैव अपने पति की भलाई सोचो। वही उन्हें खिलाओ जो कि उन्हें रुचिकर हो। उनके पास मत उठो बैठो जो भी तुम्हारे पति से विद्वेष रखते है। पति की उपस्थिति में कभी भी उत्तेजित न हो अपने मन को मौन धारण कर शान्ति दो। केवल उन्हीं स्त्रियों से मित्रता रखो जो पति-भक्त हैं, जो उच्च कुल, पाप-शून्य तथा गुणवती और उज्वल चरित्र की हैं, तुमको स्वार्थी तथा बुरे स्वभाव की स्त्रियों से दूर रहना चाहिए।

इस प्रकार का आचरण प्रशंसनीय होता है। यही समृद्धि प्रसिद्ध तथा सुख का द्वार खोल देता है। अतएव अपने पति की प्रेम विश्वास एवं भक्ति भाव से पूजा करो।'

तब सत्यभामा ने द्रोपदी को हृदय से लगा लिया और कहा—'ओ पवित्रे! तुम पृथ्वी पर अपने पति के साथ शान्तिका

भोग करोगी। तुम्हारे पुत्र द्वारिका में आनन्द से हैं। तुम शुभ चिन्हों से सुशोभित हो। तुम कभी भी अधिक समय तक दुर्भाग्य न भोगोगी। मैं तुम्हारी प्राण-प्रेरक वार्ता से अति लाभान्वित हुई। यह बुद्धिमत्ता तथा उच्च विचारों की खान है। प्रिय द्रौपदी तुम सदैव प्रसन्न रहो।'

यह शब्द कहती हुईं सत्यभामा रथ पर बैठ गईं और भगवान कृष्ण के साथ उन्होंने अपने नगर को प्रस्थान किया।

(वन पर्व अ० २३२–२३३)

हमारी पवित्र मातृभूमि, भारतवर्ष ने सुलभा, गार्गी, मन्दालसा आदि साधु नारियों, सीता, सावित्री, अनुसूया तथा नलयानी आदि पतिव्रताओं तथा मीरा ऐसी भक्त नारियों, महारानी चुडलाय ऐसी योगिनियों को जन्म दिया है। ये इतिहास में सहस्रों ज्ञात, अज्ञात नामों में से कुछ ही हैं।

आधुनिक नारी वर्ग को उनसे प्रेरणा लेनी चाहिए। उनको उन्हीं की तरह जीवन बिताना चाहिये। उनको भौतिक प्रभावों से दूर रहना चाहिए। एक व्यसनी, विलासी नारी सच्ची स्वाधीनता को नहीं समझती।

यत्र तत्र घूमना, कर्त्तव्य हीन बनना, मन चाहा सब कुछ करना, सब कुछ खाना पीना, मोटर दौड़ाना, अथवा पच्छिम-निवासियों का अन्धानुसरण करना स्वतंत्रता नहीं है। सतीत्व स्त्री का सर्वोत्तम अलंकार है। सतीत्व की सीमा पार करने, मनुष्य की तरह व्यवहार करने से नारी अपनी कोमलता, बुद्धि मत्ता, प्रताप तथा सुन्दरता का नाश करती है।

स्त्रियां किसी प्रकार भी मनुष्य से हीन नहीं हैं। वे उत्कृष्ट व्यक्तित्व रखती हैं। वे स्वभावतः धैर्य्यवान, सहनशील भक्तिभाव पूर्ण होती हैं। वे मनुष्य से अच्छे गुण रखती

हैं। वे मनुष्य से अधिक आत्मबल रखती हैं। उनका देवी रूप में सम्मान तथा आदर करना चाहिये किंतु फिर भी उनको अपने पतियों की आज्ञाकारिणी होना चाहिए। यह सब कुछ उनके प्रताप, तेज तथा पतिव्रत धर्म को और उज्वल करेगा।

पत्नी मनुष्य की अर्धाङ्गिनी होती है। कोई यज्ञ अथवा धार्मिक कृत्य उसके बिना सफल न होगा। वह मनुष्य की जीवन साथिन है। ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि जब पत्नी भक्ति और पवित्रता के कारण अपने पति की गुरु बन जाती है यदि मनुष्य अपनी पत्नी को अपनी दासी, हीन मान कर यह सोचता है कि स्त्री केवल भोजन बनाने तथा भोग के लिए है तो वह अत्यधिक दारुण तथा अक्षम्य अपराध करता है।

स्त्रियों को शिक्षा देनी चाहिये। सभ्य नारियां समाज के निमित्त आशीर्वचन के समान होती हैं। किन्तु अत्यधिक स्वाधीनता तथा स्वच्छता का फल अत्यन्त भयानक होता है। यह दैहिक जीवन महत्व पूर्ण है। मध्यमार्ग ही सर्वोत्तम है। किसी वस्तु का अतिक्रमण बुरा होता है। स्त्रियों को गीता, भागवत, रामायण तथा अन्य धार्मिक पवित्र ग्रंथों का ज्ञान होना चाहिए। स्वास्थ्य विज्ञान, गृह-चिकित्सा, परिचर्या कर्म, बाल शिक्षण, आहार शास्त्र तथा संतान शास्त्र आदि का ज्ञान होना चाहिए।

स्त्रियां प्रकृतित: अच्छी मातायें होती हैं। ईश्वरीय महान उपक्रम में उनको इतना महान् कार्य करना होता है। दैवी-उपक्रम में यही सोचा गया था। यही ईश्वरीय इच्छा है। स्त्रियां अपना अलग मनोवैज्ञानिक विशिष्ट, स्वभाव, सामर्थ्य, गुण तथा संस्कार रखती हैं। नारी, समाज में अपना अलग क्षेत्र रखती है तथा मनुष्य अलग। वे मनुष्य से प्रतियोगिता

नहीं कर सकतीं और न उनको करना चाहिए। उनको मनुष्य का काम न करना चाहिए। अवश्य वे शिक्षित हों उनको अपने धार्मिक-ग्रन्थों का ज्ञान होना चाहिये। माता-पिता का कर्त्तव्य है कि अपनी पुत्रियों को समुचित शिक्षा दिलावें। यह अत्याव-श्यक है। अच्छी माताओं का समाज में पूजनीय स्थान होता है। अच्छी मातायें सभी से सम्मानित तथा आदर का पात्र होती हैं। समाज में अतुलनीय, स्थिति अपूर्व स्थान तथा पद की अधिकारिणी हैं।

भारतीय नारी की महानता

यद्यपि काल प्रभाव से भारतीय नारियों का प्राचीन आदर्श बहुत कुछ मिट गया है, परिवर्तित हो गया है, तो भी प्राचीन संस्कारों के कारण अब भी एक साधारण भारतीय नारी में जो विशेषताएं मिलती हैं, संसार के किसी भी अन्य भाग में मिल सकनी असंभव हैं। अब भी भारतीय नारियों में जितना सतीत्व, श्रद्धा, त्याग का भाव पाया जाता है उसका उदाहरण किसी भी देश में मिल सकना कठिन है।

बचपन से ही नारी में भोलापन होता है। उसमें सहन शीलता, सुकुमारता, लज्जा, उदारता आदि गुण स्वाभाविक होते हैं और साथ ही होती है आत्मसमर्पण की प्रबल साधना। यह जिसे आत्म-समर्पण करती है उसके दोषों को नीलकण्ठ की तरह जीवन भर बूंद-बूंद करके पी जाने में सतत प्रयत्नशील रहा करती है और उसे मानती है अपना वास्तविक देवता। वह उसे अपने हृदय से कभी विलग नहीं करना चाहती। साथ ही साथ आत्म समर्पण के बाद वह अपने जीवन-धन के प्रत्येक कार्य की जानकारी चाहती है—केवल घर के कार्यों से ही बस

नहीं, वह तो अपने पतिदेव के सम्बद्ध सभी बाहरी कार्यों का भी लेखा चाहती है। यह सब क्यों ? इसीलिए कि वह अपना सब कुछ उसे समर्पित करके उसकी अर्धांगिनी बन गयी है और अपने दूसरे अंग के विषय में चिन्ता करना उसका स्वाभाविक अधिकार है। इसके औचित्त को न मानना पुरुषों की नासमझी होगी।

इस प्रकार नारी प्रारम्भ से ही अपने जीवन को उत्सर्ग के मार्ग पर ले जाती है, उसका आदान भी अवसर आने पर उत्सर्ग के लिए हो जाता है। संसार में अपने लिये उसका कुछ नहीं। उसके पास जो कुछ है वह सब दूसरों के लिए—पति, परिवार और देश के लिए।

आदान के विषम में, वह गर्भ धारण करती है यह सबसे बड़ा उदाहरण दिया जाता है। परन्तु यदि गम्भीरता से सोचा जाय तो उससे उसको अपने लिए क्या मिलता है—वह तो हो जाती है देश और समाज के लिए महान देन।

वह अपना रक्त पिला-पिला कर गर्भ का पालन करती है, नौ, मास तक अनावश्यक बोझा ढोती है, घुमरी, मचलाहट, खुमारी आदि के प्रकोप से दिन रात परेशान रहती है, चलते समय अचानक गिर पड़ती है और कभी-कभी तो गर्भप्रसव की असह्य पीड़ा से अन्त में जान तक खो देती है। और यदि बच्चा सकुशल पैदा भी हो गया तो वह देश और समाज का होता है न कि उसका, क्योंकि बड़ा होने पर वह अपनी इच्छा के अनुसार मार्ग पकड़ लेता है। तब भला इसे आदान कैसे कहा जाय ? शरीर भी, जिसे वह अपना कह सकती, गर्भ के कारण क्षीण हो जाता है। तब उसे मिला क्या ? वह तो शुक्र की कुछ बूंदे ग्रहण करती है और उसके साथ अपने शरीर के रक्त की

सहस्त्रों बूंदें मिला कर समाज के लिये एक नयी सन्तति का महान दान करती है। फिर आदान कैसा ?

बच्चा पैदा होता है और वह उस समय का काल के गाल से निकले हुए पीत शरीर को लेकर सप्ताहों चारपाई पर पड़ी रहती है। कराहती है, छटपटाती है और अपने को असमर्थ देखकर चुपचाप शय्या पर लेटी रहती है। इस व्यापार में गर्भ धारण करना आदान कैसे कहा जाय? यह तो जगत् को एक महान दान देने का बहाना है। अतएव गर्भाधान एक उदाहरण हो सकता है महान उत्सर्ग का, न कि आदान का।

और आगे सोचिए तो नारी की महत्ता और भी निरख उठती है। बच्चे बड़े होते हैं और वह उन्हें प्रसन्न रखने के लिए भैया, लाला, बाबू कह कर पुचकारती हुई खाना पीना भूल जाती है। यदि उसका परिवार गरीब हुआ अथवा किसी कारण वश उसके भोजनालय में भोजन की कमी रही तो वह सारे परिवार को खिला पिला कर स्वयं निराहार सो जायगी, किसीसे उसके विषय में कुछ सहना या शिकायत करना उसके स्वभाव की बात नहीं। दूसरे दिन संयोग से यदि पर्याप्त भोजन न हुआ तो वह सबको खिला-पिला कर पुनः भूखी रह सकती है यह क्यों ? क्या उसे भूख नहीं सताती ?

भूख उसे भी सताती है, उसी तरह जैसे सारे मानव प्राणी को ? फिर वह वैसा क्यों करती है ? इसीलिए कि वह दूसरों के लिए अपना उत्सर्ग करना बालापन से सीख चुकी है औरयह गुण उसमें स्वाभाविक होगया है।

यदि कभी पतिदेव किसी कारणवश घर से नाराज हो कर कहीं चले गये तो कौन रात-रात भर बैठी हुई उनके लिए रोती रह जाती है ? आपसी कलह के समय पति की गलती

रहने पर भी उनसे कौन स्वयं क्षमा मांगती, रूठने पर मनाती और पग पग पर बलैया लेती फिरती है ? कौन अपनी मर्यादा की रक्षा के लिये चीमूर की स्त्रियों की तरह कुए और नदी में कूद कर जान दे देता है ? किसे अपने अस्तित्व को खोकर जीवन भर दूसरे के वश में रहना खुशी से अंगीकार है ? कौन बारह-एक बजे रात में अतिथि के आ जाने पर शय्या और आलस्य त्याग कर उन्निद्र रहने पर भी उसके अशन वसन के सम्बन्ध में जुटा रह सकता है ?

उक्त सभी प्रश्नों का एक स्वर से उत्तर मिलेगा—भारतीय नारी। धर्म और संस्कृति की प्रतीक स्वरूप भारतीय नारी किसका हल नहीं रखती। वह दानव को भी मानव, हत्यारे को भी धर्मात्मा और निर्दय को भी सदय बना सकती है। उसके आंसुओं में धर्म है, क्रीड़ा में संस्कृति और हास्य में सुख का राज्य। मानव धर्मों का सच्चे अर्थ में केवल वही पालन भी कर सकती है।

मनुजी ने धर्म के दस लक्षण गिनाये हैं—

धृति–क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्य सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।

इनमें से प्रत्येक को नारी किस तरह निभाती है, इस पर संक्षेप में दृष्टि डालना अधिक समीचीन होगा।

संसार का कोई भी मानव दस लक्षण सम्पन्न धर्म का पूर्णरूपेण शायद ही पालन कर पाता हो, यदि कोई करता भी होगा तो उसे ऐसा करने में असीम साधना करनी पड़ी होगी। परन्तु नारी के जीवन में उक्त दसों बातें स्वभाव बन गयी है। उनके बिना उसे चैन ही नहीं पड़ता। वह उन बातों का कठोरता से पालन करके सारे संसार की पथ प्रदर्शिका बन गयी है।

कठिन से कठिन परिस्थितियों में आपदाओं से घिरी रहने पर भी वह धैर्य के साथ पति की अनुगामिनी बनी रहती है। पति उसके साथ घोर से घोर अत्याचार कर डालता है, उसको पशु की तरह डण्डों से पीट लेता है वेश्यागमन और शराब खोरी से उसका जीवन दूभर बना देता है, उसके जेवर बेच कर जूआ खेल लेता है, पर ज्योंही उसे विपन्नावस्था में घर आया देखती है वह सब कुछ भूल कर सहानुभूति के साथ उसकी सहायता में तत्पर हो जाती है। अपनी बीती पीड़ाओं के बदले में एक भी शब्द पति के विरुद्ध कहना उसके बूते का नहीं। वह अपने हृदय और स्वभाव से मजबूर है। कोमलता छोड़कर कठोर बनना उसे भाता नहीं। उसका शील हृदय क्षमा के अतिरिक्त और कुछ जानना नहीं चाहता। वह अपने में ही पूर्ण है।

दम के विषय में उसकी तितीक्षा-इच्छा रहते हुए भी अच्छी वस्तुओं और आहार स्वयं न खाकर परिवार वालों को खिला देना, अपनी पीड़ा भूल कर दूसरे की पीड़ा में सम वेदना प्रकट करना, क्रोध न करके सदैव सरस बनी रहना--ही पर्याप्त है।

शौच और इन्द्रिय निग्रह के लिए उसका प्रतिदिन आचरण अनुकरणीय है। कुटुम्ब, साधु और पति की सेवा करने, उदार हृदय से पीड़ितों और दुखियों को सहारा देने और अपने सुख दुख की बिना परवाह किये रात-दिन गृह कार्यों में निरत रह कर 'गृहणी' पद की जिम्मेदारी निभाने से बढ़ कर शौच और इन्द्रिय निग्रह होगा ही क्या ?

नारियों का समाजोत्थान में भाग

आधुनिक विद्वानों ने संसार की विभिन्न जातियों की

सभ्यता की जाँच करने में जिन विधियों से काम लिया है, उनमें 'स्त्रियों की स्थिति' एक विशेष स्थान रखती है। संसार में ऐसे देश बहुत कम हैं जिनमें प्राचीन काल से स्त्रियों को उच्च स्थान दिया गया है। अनेक देशों में तो स्त्रियों को सर्वथा दास का ही दर्जा दिया गया था। पर प्राचीन भारत वासियों ने समाज-निर्माण में स्त्रियों के महत्व को अनुभव करते हुए उनको इतना उच्च स्थान दिया था कि वे पूजा के योग्य मानी गई थीं।

भारतीय संस्कृति में स्त्री व पुरुष दोनों को एक गाड़ी के दो पहियों की तरह माना गया था। दोनों पहिये साथ साथ और बराबर चलेंगे तभी जीवन रूपी गाड़ी भली प्रकार अग्रसर हो सकती है। इसी दृष्टि से स्त्री को पुरुष की अर्धांगिनी कहा गया था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि "पत्नी पुरुष की आत्मा का आधा भाग है। इस लिए जब तक पुरुष पत्नी को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक प्रजोत्पादन न होने से वह अपूर्ण रहता है।" महाभारत के आदि पर्व (७४-४०) में लिखा है "भार्या पुरुष का आधा भाग व उसका श्रेष्ठतम मित्र है। वही त्रिवर्ग की जड़ है और वही तारने वाली है।" मनु भगवान ने तो स्पष्टतः ही कह दिया है कि 'जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है वहाँ देवता रहते हैं।" इस व्यवस्था में इसी बात की आशंका नहीं थी कि पुरुष अपनी शक्ति का घमण्ड करके स्त्री पर अपना अधिकार दिखला सके। जबकि स्त्री उसी का आधा अंग है तब अधिकार का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। वे दोनों ही बराबर हैसियत रखते हैं। स्त्री व पुरुष एक ही पारिवारिक जीवन के दो विभिन्न पहलू हैं। पारिवारिक जीवन में दो प्रकार की जिम्मेदारियां रहती हैं। एक घर के भीतर की और दूसरे घर के बाहर की।

इनमें एक का संचालन विशेषतः स्त्री द्वारा होता है और दूसरे का पुरुष द्वारा। पारिवारिक अभ्युदय के लिए दोनों पहलुओं का सुचारु रूप से संचालन होना आवश्यक है। यदि दो में से किसी एक में कमी रही तो जीवन दुखमय हो जाता है।

स्त्री-पुरुष के एक साथ रहने से ही पारिवारिक जीवन का श्री गणेश होता है। ज्यों-ज्यों संतान वृद्धि होती है, या अन्य प्रकार से परिवार के सदस्यों की संख्या बढ़ने लगती है, त्यों-त्यों उसका आन्तरिक जीवन भी विकसित होने लगता है। इस जीवन का संबंध पूर्णतया स्त्री से ही रहता है। प्राचीन समाज में उसे ही परिवार के छोटे-बड़े सब सदस्यों की चिन्ता करनी पड़ती थी। उसे अपने घर को साफ-सुथरा रखना, भोजन की व्यवस्था करना और अतिथि सत्कार के उत्तरदायित्व को पूरा करना पड़ता था। उसे अपनी संतान का पालन पोषण करके उन्हें योग्य नागरिक बनाने का प्रयत्न भी करना पड़ता था। इसी लिये उसे गृहणी के पद पर सुशोभित किया गया था। महाभारत के शांति पर्व (१४४-६६) में लिखा है "घर, घर नहीं है, वरन् गृहणी ही घर कही जाती है।" प्राचीन सामाजिक जीवन में गृहणी पद अत्यन्त महत्वपूर्ण था, क्योंकि उस समय पारिवारिक जीवन स्वावलम्बन के सिद्धान्त पर स्थित था। इस लिये स्त्री को ऊपर लिखे कार्यों के अतिरिक्त सूत कातने, कपड़ा बुनने, गाय दुहने, खेती सम्बन्धी बहुत से कार्यों की जिम्मेदारी भी उठानी पड़ती थी। यदि स्त्री घर के इन सब कार्यों की जिम्मेदारी अपने ऊपर न उठाये तो स्पष्ट है कि पुरुष को कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

गृहणी पद के अतिरिक्त प्रकृति ने स्त्री को मातृपद के योग्य भी बनाया है। 'माता' शब्द तो पारिवारिक जीवन के

लिये मानो अमृत का भंडार है। माता, परिवार के लिये त्याग, तप और प्रेम की त्रिवेणी ही है। माता और पुत्र का जो प्रेम परस्पर रहता है, उसी से पारिवारिक जीवन अधिक सुखी बनता है। माता समाज-सेवा के ऊँचे से ऊँचे आदर्शों की साक्षात् मूर्ति ही है। अपने बच्चों को पालने पोसने में वह सब कष्टों को हँस हँस कर झेलती है। प्राचीन भारत में माता की महिमा सब से अधिक बतलाई गई थी और सूत्र तथा स्मृति ग्रन्थों में इस संबन्ध में वहुत कुछ लिखा गया है।

स्त्री को उपरोक्त दो पदों के अतिरिक्त एक और पद प्राप्त था और वह था पुरुष की सहचरी का। गृहिणी और माता की जिम्मेवारियों से उसका जीवन नीरस न हो जाय, और घर के बाहरी झंझटों में फँस कर उसके पति का भी जीवन कटु न हो ज़ाय, इस लिये वह अपने पति की सहचरी बनकर उसे जीवन-सौख्य का आनन्द प्रदान करती थी। प्रकृति ने उसे जो सौन्दर्य और माधुर्य दिया है, उसे वह अपने प्रयत्नों से-ललित कला में परिणत करके जीवन के दुःखों को भुलाने में समर्थ होती थी। उसका सौन्दर्य और माधुर्य युक्त प्रेम, जो उसमें अंग-अंग से टपकता था, उसके पति की दिन भर की चिन्ताओं और झंझटों को दूर करने में समर्थ होता था। विवाह के समय जो वेद-मंत्र पढ़े जाते थे उनमें स्त्री के गृहिणी, माता और सहचरी के पदों का उल्लेख है। ये भाव पहले से ही वधू के मन पर अङ्कित कर दिये जाते थे, जिससे नये जीवन मे प्रवेश करने के पहले वह अपनी जिम्मेदारियों को भली प्रकार समझ ले। विवाह स्त्री और पुरुष को एक आजीवन वन्धन में बाँध देता था।

नारी-जागरण और वर्तमान सामाजिक स्थिति

इस सचाई से तो कोई इनकार नहीं कर सकता कि प्राचीन

भारत में स्त्रियों की स्थिति पर्याप्त उच्च और संतोषजनक थी। आज भी हम बड़े गर्व के साथ वैदिक काल की विदुषियों, बौद्धकाल की धर्म प्रचारिकाओं और मुसलमान काल की वीरांगनाओं के नाम लेते रहते हैं। पर इसमें सन्देह नहीं कि एक हजार वर्ष की गुलामी के फल स्वरूप जहाँ अन्य अनेक विषयों में भारतीय समाज का पतन हुआ वहाँ स्त्रियों की स्थिति भी बहुत गिर गई। अब नवयुग का आविर्भाव होने पर समाज के हितैषियों का ध्यान इस त्रुटि की तरफ गया है और स्वयं अनेक स्त्रियां ही अपने अनुचित बन्धनों को ढीले करने का प्रयत्न कर रही हैं। ऐसी महिलाओं को हम दो विभागों में बांट सकते हैं। एक तो वे जो भारतीय संस्कृति की उपासिका हैं और पतनकाल में उत्पन्न हुई कुप्रथाओं को दूर करके नारियों को पूर्वकाल के उन्नत और उत्तरदायित्वपूर्ण आदर्श की ओर लेजाना चाहती हैं। दूसरे विभाग में उनकी गणना की जा सकती है, जो पश्चिमीय शिक्षा और आदर्शों से अनुप्राणित होकर भारतीय महिलाओं को पूर्ण स्वतन्त्र और पुरुषों की समानता करने वाली बताने की पक्षपातिनी हैं। इन में से दूसरे विभाग का मत तो प्रायः सभी समाज हितैषियों ने त्याज्य बतलाया है पर प्रथम विभाग वाली विदुषी नारियों का मत विचारणीय और अधिकांश में मानने योग्य है। नीचे हम उसी की विवेचना करेंगे।

हमारे पूर्वजों ने समाज की रचना इस प्रकार की कि कोई किसीको पराधीन न बना सके। स्नेह और कर्त्तव्य के बन्धन इतने मजबूत हैं कि मनुष्य एक दूसरे के साथ अपनी सहज प्रकृति के साथ सहज ही बँधजाता है और परस्पर एक दूसरे के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने

को तैयार होजाता है। माता अपने बालक के लिए बड़े से बड़ा त्याग कर सकती है। अपनी जान को भी जोखिम में डाल सकती है पर नौकरानी से वह आशा कितना ही लोभ और भय दिखाने पर भी नहीं की जा सकती।)

(नर और नारी के सहयोग से सृष्टि के आरम्भ काल में परिवार बने और समाज की रचना की व्यवस्था करने वालों ने यह पूरा ध्यान रखा कि यह दोनों ही सहयोगी एक दूसरे के लिए अधिक से अधिक सहायक हों, (एक दूसरे को पराधीन बनाने का अनैतिक प्रयत्न न करे।) उसी दृष्टिकोण के अनुसार जन समाज की रचना हुई। नर और नारी लाखों करोड़ों वर्षों तक एक दूसरे के सहायक, मित्र और स्वेच्छा से सहयोगी बनकर जीवन व्यतीत करते रहे, इससे स्वस्थ समाज का विकास हुआ उन्नति, प्रगति, प्रसन्नता और सुख शान्ति के उपहार ही इस व्यवस्था ने दिये।)

(विश्व के, विशेषतया भारत के, प्राचीन इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट प्रकट है कि नारी ने नर के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य किया है और जीवन की अनेक समस्याओं को सरल करने में, ज्ञान और विज्ञान की महत्वपूर्ण प्रगति में भारी योग किया है।) एक ने दूसरे को अपनी अपेक्षा अधिक सम्माननीय समझा और घनिष्टता के आत्मीय बन्धनों को दिन-दिन मजबूत बनाते हुए हर लौकिक दृष्टि से एक दूसरे पर कोई पराधीनता लादने का प्रयत्न नहीं किया। स्वस्थ विकास और सच्चे प्रेम भाव का तरीका भी इसके अतिरिक्त और कोई न था। भारतीय इतिहास के पृष्ठों पर नर और नारी, निश्छल शिशुओं की तरह किलकारियां मारते हुए परस्पर खेलते कूदते

दीखते हैं। विश्व का अधिक विकास इन्हीं मंगल मयी भावनाओं के साथ हुआ है।

देवगण, ऋषि और राजाओं से लेकर साधारण गृहस्थ और दीन-हीनों के जीवन में नर और नारी की एकता और समता ऐसी गुथी पड़ी है कि यह निर्णय करना कठिन पड़ता है कि दोनों पक्षों में से किसे प्रथम माना जाय। देव वर्ग में लक्ष्मी दुर्गा, सरस्वती आदि का जो स्थान है उसे किसी पुरुष देवता से किसी भी प्रकार कम नहीं कहा जा सकता। देवताओं के साथ भी नारी असाधारण रूप से गुथी हुई है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र आदि किसी भी देवता को लें उनकी धर्म पत्नियां उनके समकक्ष ही कार्य और उत्तरदायित्व सँभालती दीखती है। सीता और राधा को राम, कृष्ण के जीवन में से अलग नहीं किया जा सकता। अनुसूया, अरुन्धती गार्गी, मैत्रेयी, शतरूपा, अहिल्या, मदालसा आदि ऋषिकाओं का महत्व भी उनके पतियों जैसा ही है। गान्धारी, सावित्री, शैव्या, आदि असंख्यों महिलाऐं योग्यता और महानता की दृष्टि से अपने पतियों से किसी भी प्रकार पीछे नहीं थीं। वैदिक काल में ऋषियों की भांति अनेक ऋषिकाओं में उनका समुचित स्थान रहा है। यज्ञ में तो नारी की अनिवार्य आवश्यकता मानी गई है।

नर और नारी समान रूप से अपना विकास करते हुए आगे बढ़ी है। और संसार को आगे बढाया है। भारतीय संस्कृति का समस्त तत्व-ज्ञान और इतिहास इस बात का साक्षी है कि नर ने कदापि कहीं भी यह प्रयत्न नहीं किया है कि नारी को अपने से पिछड़ी हुई, दुर्बल, अविश्वस्त माने और उसके साधनों को शोषण करके, उसे अपंग बनाकर अपनी मनमर्जी पर चलने

के लिए विवशता एवं पराधीनता को लादें। यदि ऐसी बात रही होती तो इतिहास के पृष्ठ दूसरी ही तरह लिखे गये होते—जगत्गुरु कहलाने, विश्व का नेतृत्व करने और विश्व में सर्वत्र आशा और प्रकाश की किरणें फैलाने में जो श्रेय भारत को प्राप्त हुआ था वह कदापि न हुआ होता।

आज भारतवर्ष में स्त्री जाति का सामाजिक स्थान बहुत पिछड़ा हुआ है। उसके व्यक्तित्व को इतना अविकसित बना दिया गया है कि वह सब प्रकार परमुखापेक्षी और लुञ्ज पुञ्ज हो गयी है। रसोई और प्रजनन इन दो कार्यों को छोड़ कर किसी क्षेत्र में उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह गई है। शहरों में अब कन्याओं को लोग थोड़ा सा इसलिये पढ़ाने लगे हैं कि पढ़े लिखे लड़कों के साथ उसकी शादी करने में सुविधा हो। विवाह होते ही वह शिक्षा समाप्त हो जाती है और फिर जीवन भर और आगे की पढ़ाई तो दूर जो कुछ पढ़ा था उसका उपयोग करने का भी अवसर नहीं आता। आर्थिक दृष्टि से नारी सर्वथा परावलम्बी है। जब कोई वैधव्य आदि की दुर्घटना घटित हो जाती है और कोई उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति नहीं होती तो बालकों को पालना कठिन हो जाता है। यदि संतान न हुई तो भी उस बेचारी को घर भर का कोप भाजन बनना पड़ता है, कई बार तो उसी अपराध में पति देव दूसरा विवाह कर लेते हैं और उसे विधवा जैसा दुख सधवा होते हुए भी सहना पड़ता है। इसी प्रकार घर के पिंजड़े में बन्द, बाह्य क्षेत्रों से सर्वथा अपरिचित होने के कारण उसे इतना भी ज्ञान नहीं होता कि जीवन धारण करने की आवश्यक समस्याओं को सुलझाने में भी समर्थ हो सके। जीवन को सफल

या समुन्नत बनाने वाले कोई पुरुषार्थ कर सकना तो उसके लिये असंभव ही है।)

(यह विपन्न अवस्था आज की नारी के लिए एक दुर्भाग्य ही है कि वह व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन के विकास में अपनी शक्ति, सामर्थ्य और प्रतिभा का कोई उपयोग नहीं कर सकती, आपत्ति आने पर अपना और अपने बच्चों के सम्मान पूर्ण जीवन की रक्षा भी नहीं कर सकती। एक और भारी लांछन उस पर यह है कि वह चरित्र की दृष्टि से सर्वथा अविश्वस्त समझी जाती है। उसके ऊपर कम से कम पहरेदार हर समय रहना चाहिये। अपनी पुत्रियों, बहिनों और माताओं के प्रति ऐसी अविश्वास की भावना रखना, पुरुषों की अपनी नैतिक दुर्बलता का चिन्ह है, 'चोर की दाढ़ी में तिनका' वाली कहावत के अनुसार वे अपनी चरित्र हीनता का आरोपण नारी में देखते हैं जो कि वस्तुतः पुरुष की अपेक्षा स्वभावतः अनेक गुनी चरित्रवान होती है।)

(नारी पर अनेक प्रकार के बन्धन लगाकर उसे शिक्षा, स्वास्थ्य, अर्थ उपार्जन, सामाजिक ज्ञान, लोक सेवा आदि की योग्यताओं से वंचित रखना, एक ऐसी बुराई है जिससे आधे राष्ट्र को लकवा मार जाने जैसी स्थिति पैदा होजाती है। अविकसित पराधीन और अयोग्य नारी का भार पुरुष को वहन करना पड़ता है फलस्वरूप उसकी अपनी उन्नति भी रुद्ध होजाती है। यदि नारी को सभ्य बनने दिया जाय तो वह पुरुष के ऊपर भार न रह कर उसके स्वास्थ्य, अर्थ व्यवस्था, शिशु विकास से लेकर अनेक अन्य कार्यों में भी सहायक होकर उन्नति के अनेक द्वार खोल सकती है। पर्दे में—पिंजड़े में बन्द रखकर पुरुष यह सोचता है कि इस प्रकार उसे व्यभिचार से

रोका जा सकेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि नारी इतनी पतित है कि बन्धन के बिना यह सदाचारिणी रह ही नहीं सकती। यह मान्यता भारतीय नारी का भारी अपमान है और इन आदर्शों एवं भावनाओं के सर्वथा प्रतिकूल है जो अनादिकाल से भारतीय संस्कृति में नारी के प्रति समाहित की गई है।)

(अनेक नारियाँ ऐसी हैं जिनके पास पर्याप्त समय है, पर उन्हें अवसर नहीं दिया जाता जिसमें वे अपने जीवन को बन्दी से अधिक कुछ बना सकें। विधवाऐं और परित्यक्ताऐं घर वालों के लिए एक भार रहती हैं पर वे उन्हें शिक्षा, लोक सेवा आदि किसी भी क्षेत्र में बढ़ने देने के लिए बन्धन ढीले नहीं करते। इन्हें अवसर दिया जाय तो अपने समय का सदुपयोग करके अपने व्यक्तिगत जीवन में भारी उत्कर्ष करके नारी रत्नों की श्रेणी में पहुँच सकती है और अपनी योग्यता से संसार को वैसा ही लाभ पहुँचा सकती है जैसा अनेक नर रत्न, महापुरुष पहुंचाते हैं।)

(भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान की पुनीत वेला में महिलाओं की न्याय पुकार भी सुनी जानी चाहिए। नारी चाहती है कि उसके बन्धन ढीले किये जांय, उसे विना पहरेदारों के भी सदाचारिणी रह सकने जितना विश्वासी माना जाय, उसकी शिक्षा की व्यवस्था की जाय ताकि वह मनुष्यता की जिम्मेदारी को समझ सके, उसे जानकारी प्राप्त करने दी जाय ताकि वह पुरुष की परेशानी को सरल करने और उन्नति की प्रगति में सहायक हो सके. उसे योग्य बनने दिया जाय ताकि वह अपने परिवार की आर्थिक सुस्थिरता में हाथ बँटा सके। बदलते हुए युग में नारी अपने को एक जीवित लाश मात्र की स्थिति में रखे जाने से असंतुष्ट है वह भी आगे बढ़कर राष्ट्र निर्माण और समाज

में कुछ योग देना चाहती है। भारतीय संस्कृति में इन महान आकांक्षाओं के प्रति समुचित सहानुभूति एवं प्रेरणा का तत्व मौजूद है। वर्तमान के अनेक संस्कारों में से ही एक बुराई नारी की अनावश्यक पराधीनता है।

भावी युग में नारी का स्थान

आज नव निर्माण का युग है और इस नव निर्माण में नारी का सहयोग वांछनीय है अथवा यों कहें कि आने वाले युग का नेतृत्व नारी करेगी तो भी अतिशयोक्ति न होगी। नव निर्माण एवं युग परिवर्तन कहाँ से और कैसे आरम्भ होगा व नारी का उसमें क्या योग रहेगा—इस विषय का अध्ययन करने से पूर्व जरा प्रस्तुत विश्व स्थिति पर दृष्टिपात किया जाय। संक्षेप में आज का मानव जीवन जिन भीषण परिस्थतियों से गुजर रहा है उसका अनुमान लगाना भी भयङ्कर है। आज का वैयक्तिक जीवन, पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन इतना अशांतिमय एवं अभा-वग्रस्त हो गया है कि मनुष्य को पलभर को चैन नहीं। तृतीय विश्व युद्ध के कगार पर खड़ी मानवता विज्ञान को कोस रही है और सुरक्षा एवं शान्ति के लिये त्राहि २ कर रही है। भौतिक-वाद के नाद में एक देश दूसरे देश को, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को हड़पने की ताक में बैठा है, युद्धीय अस्त्र शस्त्रों की होड़ ने, तथा विषैले बमों ने विश्वशांति को खतरे में डाल रखा है। जीवन में जो अनास्था आ गई है उसका कोई अन्त नहीं। जीवन के हर क्षेत्र में हम पिछड़ गये हैं और अधःपतन की ओर जा रहे हैं। सामाजिक विशृङ्खलता, नैतिक पतन, राजनैतिक विप्लव, धार्मिक अन्धानुकरण व अधार्मिकता, नैष्ठिक पतन आज के जीवन में घुन की भांति लग गये हैं।

ऐसी पृष्ठभूमि में आज विश्व की मांग है और वह मांग भारत पूरी कर सकता है। वह मांग है शान्ति की, प्रेम की, सुरक्षा की तथा संगठन की। आज के युग की सबसे बड़ी मांग है नवनिर्माण की, प्रस्तुत परिस्थितियों मे आमूल परिवर्तन एवं क्रांति की। आज हम युग परिवर्तन के प्रहरी बन कर विश्व को शांति का दीप दिखायेंगे, फिर से हमें अपने भारतीय ऋषि, मुनियों की परम्परा को जीवित करना होगा, फिर से धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, नैतिक एवं नैष्ठिक पुनरोत्थान की भावना को जन २ में भर देना होगा। आज हमें भारतीय होने के नाते प्रत्येक नरनारी को देश के नवनिर्माण में प्राणपण से जुट जाना होगा। इस युग परिवर्तनकारी आन्दोलन में और जागरण की स्वर्णिम वेला में भारतीय नारी प्रथम उत्तरदायित्व है कि वह इस दिशा में कदम उठाये। आज की नारी सजग है, वह स्वतंत्रता, धार्मिकता एवं मर्यादा की प्रहरी है।

आज भारतीय नारी हर क्षेत्र में कार्य कर रही है, वह युग का निर्माण करने के लिए सन्नद्ध है। युग करवट ले रहा है—परिस्थितियों का घटना क्रम तीव्र गति से घूम रहा है—मानवता के अर्धभाग को छोड़ कर कोई देश, व समाज उन्नति नहीं कर सकता। अपने कर्त्तव्यों एवं अधिकारों के पोषण के लिये भारतीय नारी कटिबद्ध होकर कार्य क्षेत्र में उतर रही है। नारी की शिक्षा का प्रतिशत बढ़ाने के साथ २ उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व को ढालना होगा, दासता की श्रृङ्खलाओं से मुक्त करना होगा और पुरुष समाज को समझना होगा कि नारी उपभोग एवं वासना की वस्तु नहीं, एक जीती जागती आत्मा है, उसमें भी प्राण है, मान है और है स्वाभिमान की भावना। मनु ने नारा लगाया था 'यत्र नार्यस्तु, पूज्यते रमन्ते तत्र देवता' नारी

आज हर कदम पर नई प्रेरणा देगी, उसकी अगम शक्ति को फिर से प्रतिस्थापित करना होगा (वह ममतामयी मां है, स्नेहमयी भगिनी है, पतिपरायण पत्नी है किन्तु दूसरी ओर 'वह चंडी है, दुर्गा है, काली है। नारी ही वीर पुत्रों को जन्म देती है। ध्रुव, प्रह्लाद, अभिमन्यु, शिवाजी, राणाप्रताप को जन्म देने वाली मातायें भारत में ही हुईं, रण चंडी दुर्गा की भांति मर्यादा और मान के लिये जूझने वाली क्षत्राणियां और वीर झांसी की रानी यहीं हुई—किन्तु हम भूल गये उन सतियों के तेज को, उन वीर प्रसविनी जननियों को, उन कुल ललनाओं को और नारी का तेज आभूषणों की चमक व रेशमी परिधानों में धूमिल पड़ गया) इस चतुर्मुखी निर्माण की वेला में नारी की प्रेरणा लेनी होगी, उसमें फिर से आत्मबल लाना होगा। जो आज की शिक्षित नारियां हैं वे आर्थिक स्वतन्त्रता एवं पाश्चात्य सभ्यता को अपना कर भारतीय गौरव को कलुषित न करे, वरन् वे घर-घर जाकर नारी समाज को उसकी गुप्त शक्तियों का ज्ञान करावें। देश में कन्याओं की शिक्षा पर लड़कों की शिक्षा से अधिक बल दिया जाय। ये भावावेश की बात नहीं, यह एक स्वयंसिद्ध सत्य है। नारियां शिक्षित होगी तो पुरुष समाज तो स्वत: सुधर जायेगा, माताओं और पत्नियों के संस्कार से पुरुष समाज अपने आप सुसंस्कृत होगा। देश की मान मर्यादा की रक्षा करने वाली नारी जब नवविहान का स्वर गुंजा देगी तो कोई संदेह नहीं हमारे देश में आज फिर (हरिश्चन्द्र, प्रताप, राम, भीम और अर्जुन पैदा होंगे।)

(आज सम्पूर्ण नारी जाति का कर्तव्य है कि निन्दनीय वातावरण को छोड़कर, परवशता की ग्रंथियां काट कर आगे बढ़े और समाज सुधार का, नैतिक उत्थान का, धार्मिक पुनर्जा-

गरण का, संदेश मानवता को दे। पुरुषों से कंधा मिलाकर घर और बाहर दोनों क्षेत्रों में नारी को कार्य करना होगा। आज भारत की मांग है—आज भारत की मांग है—अध्यात्म एवं वैदिक धर्म का पुनुरुत्थान और भारतीय धर्म एवं संस्कृति का पुनस्र्थापन। जब घर घर में पुनः वेदों की वाणी गूंज उठेगी तब भारत फिर से अपने प्राचीन जगद्गुरु के गौरव को प्राप्त करेगा। हर क्षेत्र में, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, नैतिक, शैक्षणिक एवं नैष्ठिक पुनर्संङ्गठन करते हुए आज की शिक्षित नारी जिस पथ का निर्माण करेगी वह पथ बड़ा सुगम एवं आध्यात्मिक होगा। फिर से भारत में ऋषियों की परम्परा जागृत होगी, फिर से नारी की मातृशक्ति रूप में पूजा होगी, और हम सम्पूर्ण विश्व को एक मौलिक प्रकाश एवं नवीन संदेश देंगे। नारी ही घर-घर में ऐसा वातावरण उत्पन्न कर सकती है जो भारतीय संस्कृति पर आधारित हो। वह आज सबला बन कर चेतना, प्रेरणा, मुक्ति एवं आध्यामिकता को साकार मूर्ति के रूप में अवतरित हो रही है। नारी का सहयोग परिवार में, समाज में आरम्भ होगा—एक ऐसा वातावरण बना होगा जहाँ फिर से दधीचि, कर्ण और राम पैदा होंगे। नारी की सबल प्रेरणा पुरुष को नवशक्ति से भर देगी किन्तु इसके लिये आवश्यक है कि उसे आत्म-बल, चरित्र-बल, तप-बल में महान बनाया होगा।

नारी विश्व की चेतना है, माया है, ममता है, मोह और मुक्ति है—किंतु समय समय पर उसकी अवतारणा भिन्न-भिन्न रूपों में होती है। आज हमें उन क्षत्राणियों की आवश्यकता है जो समय पड़ने पर समरांगण में उतर पड़ें साथ ही यह न भूलना चाहिये कि उसे पारिवारिक इकाई से विस्तृत क्षेत्र की

ओर बढ़ना है। गहनों से लदी रहने वाली भोग-विलासनियों की आवश्यकता नहीं, आज तो ऐसी कर्मठ महिलाओं की आवश्यकता है जो पुरुष-समाज एवं जाति तथा संपूर्ण देश को भारत की संस्कृति का पावन संदेश देकर देश में, घर-घर में फिर से प्रेम, त्याग, बलिदान, पवित्रता एवं माधुर्य का सदेश दें। अफलातून नामक यूनानी दार्शनिक ने कहा था, नारी स्वर्ग और नरक दोनों का द्वार है—बस आज फिर से नारी जाति कटिबद्ध होजायें और अपने बल से पृथ्वी पर ही स्वर्ग की अवतारणा करें।

राष्ट्रीयता में नारियों का स्थान

जिस संकुचित वातावरण में रह कर स्त्रियां स्वयं संकुचित विचारों वाली बन गई थीं और जिस वातावरण के कारण पुरुषों के अन्तर भी स्त्रियों के बारे मे संकुचित विचार पैदा हो गये थे, उन सबको मिटाकर आज सुधरे हुए संसार मे यह बात सिद्ध की जाचुकी है कि स्त्री और पुरुष दोनों मानव समाज के दो अंग हैं, जिन पर समाज की समान जिम्मेदारी है।

मनुष्य जीवन में स्त्री की जो जिम्मेदारियां हैं, उनको अंगीकार करके हमें स्त्रियों की ओर से अपना विशिष्ट भाग प्रदान करना है। अब तक गृह—जीवन स्त्रियों के हाथ में था और बाहर का सारा व्यवहार पुरुषों के हाथ में था। इसके दो परिणाम स्पष्ट रूप से आज हमारे सामने हैं। एक तो यह कि आज समाज में पुरुषों के सभी व्यवहारों को एक प्रकार की श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा प्राप्त है और स्त्रियों के काम को जनाना समझकर उन्हें हीन दृष्टि से देखा जाता है। आज भी कहीं बाहर जाकर काम करने मे स्त्रियां विशेष गौरव का अनुभव

करती हैं जबकि घर में रहने वाली और घर सम्हालने वाली बहनें अपने मन में यही समझती हैं कि हम कुछ नहीं करतीं, और हमारा जीवन व्यर्थ ही बीत रहा है।

दूसरा परिणाम यह हुआ कि बाहर के सब व्यवहारों पर पुरुषों की छाप पड़ी हुई है। आज हम जिस जगत में रह रहे हैं, वह आदि से अन्त तक पुरुषों की सृष्टि है। व्यापार, व्यवहार, कानून-कायदा, राजनीति, धर्म नीति, उद्योग धन्धे, सभी कुछ पुरुषों के बनाये हुए हैं। स्त्रियां आज इन कामों मे कितना ही भाग क्यों न लें तब भी वे पुरुष बनकर यानी पुरुषों द्वारा ठहराये हुए तरीके से, उनके द्वारा विकसित की गई पद्धति से ही, उन सब कामों को करती हैं। स्त्रियां आज कितनी ही आगे क्यों न बढ़ जांय, कितने ही विभिन्न क्षेत्रों को क्यों न पदाक्रांत करलें और पुरुषों की बराबरी करने का कितना ही आत्म-संतोष क्यों न अनुभव करें—तथापि आखिरकार उनको रहना तो उसी दुनियां में है, जिसका विधाता पुरुष है।

जो काम स्त्रियों को कुदरत की ओर से सौंपा गया है, और जिसे वे भली-भांति कर सकती है उसी बालशिक्षा के काम को यदि वे पूरी तरह सम्हाल लें, तो वे एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी को सँभाल लेंगी।

स्त्रियां कह सकती हैं कि इसमे आपने नयी बात क्या कही? आज न जाने, कितने युगों से हम घर की और बच्चों की ही गुलामी करती आयी हैं और रात दिन उन्हीं का पाखाना पेशाब उठाती हैं, फिर उसी को करने मे विशेषता क्या है? पहली विशेषता तो भावना है। नारियों को समझना चाहिये यह काम सिर पर आकर पड़ा हुआ कोई बोझ नहीं है। और पुरुष

जितने भी काम करते हैं उनमें से किसी से किसी प्रकार हल्का नहीं है। इस भावना से यदि हम इन कामों को करें तो इनमें हम रस की घूंटें पी सकती हैं। इसमें संदेह नहीं कि भावना के रंग से रंग कर हमारे सब काम अधिक सजीव और प्रकाशित हो उठेंगे।)

दूसरी विशेषता है इन्हीं कामों को करने के तरीकों की। परंपरागत तरीकों से बच्चों की परवरिश करना एक बात है, और इस संबन्ध के शास्त्रों का अध्ययन करके स्वयं प्रयोगों द्वारा उन तरीकों में उन्नति करना दूसरी बात है। यदि स्त्रियां बाल-संगोपन संबन्धी शास्त्रों का अध्ययन करें, गहराई के साथ इन विषयों का चिंतन और मनन करें, और इस प्रकार अपने अनुभवी विचारों की भेंट समाज के चरणों में चढ़ाती रहें तो यह काम आज इतना हीन और गौण माना जाता है, उतना न स्वय स्त्रियों को ही हीन और गौण मालूम होगा, और न पुरुषों को ही गौण लगेगा।)

(यदि हमारी बहनें बाल-मनोविज्ञान, बाल-शिक्षा शास्त्र, बाल-शरीर और बाल-मानस के विकास का और ऐसे अन्य विषयों का गंभीर अध्यन करके तदनुसार इस दिशा में भली भांति काम करने लगें तो पुरुषों के दिल में कभी ख्याल उठेगा ही नहीं कि चूंकि स्त्रियां उनकी तरह बाहर जाकर नौकरी नहीं करती, इस लिये वे कोई कम महत्व का काम करती हैं। एक कहावत है कि 'जिसके हाथ में पालने की डोरी है वही संसार का उद्धारकर्ता भी है।' यह कहावत या तो केवल लेखों और निबन्धों में प्रयुक्त होती है अथवा मातृ दिन के उत्सव पर दोहरा दीजाती है। पर

यदि वहनें मन में धार लें तो कल यह चीज पूरे अर्थों में सत्य और सार्थक हो सकती हैं।)

(दूसरी बात यह कि संसार का मानवी व्यवहारों में स्त्री को स्त्री के नाते ऐसा परिवर्तन करना चाहिए जो उसके विचारों और वृत्ति के अनुकूल हो। आजकल जिस तरह व्यवहार देश-देश और जाति-जाति के बीच में होरहा है उसमें कई प्रकार का जंगलीपन भरा हुआ है, पशुता भी है, हृदय शून्यता और अमानुषता भी है, पुरुषों की इस दुनियां में यह एक सामान्य धारणा बनी हुई है कि जहां-जहां व्यवहार का सम्बन्ध आता है, वहाँ-वहाँ उसकी नींव असत्य पर ही बनी होनी चाहिए। मनुष्य को दुनियां में यही सोचकर चलना चाहिए कि जो कुछ है सो बुरा ही बुरा है जितने हक या अधिकार पाने हैं, वे सब लड़-झगड़ कर ही पाते हैं। ये और ऐसे अन्य अनेक अलिखित नियम आज मनुष्यों के आपसी व्यवहार में प्रचलित हैं।)

(यह सच है कि यदि स्त्रियां पुरुषों का अनुकरण करना छोड़ दें और जो कुछ उनके मन को अच्छा जँचे वैसा ही करने लगें, तो मनुष्यों के व्यवहार में वे बहुत कुछ परिवर्तन कर सकती हैं और उसको अभीष्ट रूप भी दे सकती हैं। इसमें शक नहीं कि जो संस्कार पीढ़ियों और सदियों से पुराने हैं, उनके दूर होने या बदलने में भी काफी समय लगेगा। फिर भी, दुनियां में कोई ऐसी चीज नहीं, जो असंभव हो, आजकल की स्त्री रोगों से ग्रस्त हैं। एक रोग तो यह है कि वह चाहें या न चाहें, तो भी उनका मन यह मानना चाहता है कि पुरुष जो कहता है वही ठीक है, पुरुषों के ठहराये हुए—नियम उनके बनाए हुए विधि विधान, उनके तैयार किये हुए कानून कायदे

और उनके द्वारा प्रचारित रीति रिवाज, जो कुछ भी हैं सो सब उसको सोलहों आने ठीक मालूम होते हैं?

स्त्री का दूसरा रोग है तंगदिली अर्थात हृदय की संकुचितता। आज स्त्री महान बातों का उतनी ही महानता के साथ विचार नहीं कर पाती। उसके लिए यह बहुत जरूरी है कि वह अपने हृदय को विशाल बनावे और दुनियां को विशाल दृष्टि से देखे।

यद्यपि नर और नारी भगवान की सृष्टि में समान महत्व रखते हैं, तो भी प्रकृति ने नारी पर संतानोत्पादन तथा उसके पालन के रूप में जो विशेष उत्तरदायित्व रखा है, उसके कारण उसका महत्व अवश्य बढ़ जाता है। नारी का कर्त्तव्य है कि सबसे पहले अपने इस उत्तरदायित्व को भली प्रकार और अधिकार पूर्वक निवाहे। वह आज अगर अबला बनी है और अनेक बार उसे पुरुष का दुर्व्यवहार सहन करना पड़ता है तो इसमें कुछ त्रुटि उसकी भी है। वह संतान के प्रति, विशेषतः पुत्रों से आवश्यकता से अधिक मोह रखती है, और उनको सुयोग्य तथा कर्तव्य परायण बनाने की तरफ कम ध्यान देती है। इसी का परिणाम है कि पुरुषों में अनेक दोष पैदा होजाते है और वे मातृ जाति के प्रति गर्वित व्यवहार करने में भी संकुचित नहीं होते। यदि नारियों ने अपने को पुरुष की दासी का पद ग्रहण करने के बजाय उसकी निर्मात्री के पद का कर्तव्य का पालन किया होता तो आज संसार की दशा कुछ और ही होती।

मुद्रक—श्री दाऊदयाल गुप्त, सस्ता साहित्य प्रेस, मथुरा।

गायत्री तपोभूमि—एक महान् धर्म संस्थान

गायत्री तपोभूमि, मथुरा शहर से १ मील आगे—वृन्दावन रोड पर परम शांतिमय वातावरण में बना हुआ एक सुन्दर आश्रम है, जहाँ गायत्री माता का भव्य मन्दिर, भारतवर्ष के लगभग २४०० तीर्थों के जल-रज का एक तीर्थ सम्मेलन-गृह, १२५ करोड़ हस्तलिखित गायत्री-मन्त्रों का संग्रह-कक्ष, निवास के लिए २३ कमरे, एक प्रवचन हाल, तीन बड़ी यज्ञ-शालाऐं, प्रधान यज्ञशाला में कभी न बुझने दी जाने वाली अखण्ड-अग्नि की स्थापना, नित्य गायत्री-मन्त्र की एक हजार आहुतियों का हवन, तुलसी का उपवन, हजारों धार्मिक पुस्तकों का विशाल पुस्तकालय, लगभग ६० पत्र-पत्रिकाऐं आने वाला वाचनालय, बिना मूल्य चिकित्सा के लिए कल्प चिकित्सालय यह सब देखकर कोई भी दर्शक संस्था की गति-विधियों का सहज ही अनुमान लगा सकता है। गायत्री तपोभूमि में सदा अनेक धार्मिक भावना वाले व्यक्ति शिक्षा, तीर्थ-यात्रा, साधना.तपश्चर्या एवं विभिन्न कठिनाइयों के सम्बन्ध में आचार्यजी से परामर्श करने आते हैं। आगन्तुकों को तपोभूमि में निवास, भोजन आदि की समुचित सुविधा प्राप्त होती है।

गायत्री तपोभूमि द्वारा देश भर में गायत्री महायज्ञों एवं सांस्कृतिक सम्मेलनों की सुविस्तृत शृंखला चल रही है। सन् '५६ और '५७ में १००० बड़े गायत्री महायज्ञ तथा सांस्कृतिक सम्मेलन करने का निश्चय किया था। सो उस संकल्प से भारतवर्ष के कोने-कोने से हजारों यज्ञ हुए जिनमें से १०१ कुण्डों वाले, २५ कुण्डों वाले, ९ कुण्डों वाले विशाल यज्ञों की संख्या १००० थी। इनमें से कुछ यज्ञों में तो ५० हजार तक जनता एकत्रित हुई। ये यज्ञ अ० भा० गायत्री-परिवार की देश में फैली हुई १२०० शाखाओं द्वारा सम्पन्न हुये थे। इन यज्ञों और सम्मेलनों का उद्देश्य जनता में धर्म, सदाचार, नैतिकता,

मानवता, सदाचार, संयम आदि विश्व-कल्याणकारी सत्प्रवृत्तियों को बढ़ाना है।

गायत्री तपोभूमि द्वारा इन दिनों सामूहिक 'गायत्री ब्रह्मास्त्र अनुष्ठान' देश भर में गायत्री-उपासकों के सहयोग से चल रहा है, जिसके अन्तर्गत प्रतिदिन २४ करोड़ गायत्री-जप, २४ लाख आहुतियों का हवन, २४ लाख मन्त्र-लेखन, २४ लाख गायत्री पाठ एवं धर्म-प्रचार का कार्य-क्रम चल रहा है। इसकी पूर्णाहुति कार्तिक सुदी १२ से १५ सं० २०१५ में १००० कुण्डों की १०१ यज्ञशालाओं में १ लाख होताओं द्वारा होगी। आगुन्तकों के ठहरने तथा भोजन की निःशुल्क व्यवस्था रहेगी। इतना बड़ा यज्ञ इस युग में अभी तक कहीं नहीं हुआ है।

गायत्री-तपोभूमि के संचालक श्री आचार्यजी ने गायत्री सम्बन्धी हजारों ग्रन्थों के अध्ययन का सार, अपनी ३० वर्षों की साधना एवं व्यक्तिगत अनुभव का ज्ञान, सर्व साधारण के कल्याणार्थ लगभग ८० पुस्तकों के रूप में प्रकाशित कर दिया है। इन पुस्तकों के आधार पर साधारण व्यक्ति भी गायत्री महाशक्ति के रहस्यों एवं विधानों को जानकर घर रहते हुए योगियों की जैसी सफलताएँ प्राप्त कर सकता है। गायत्री-तपोभूमि की मुख-पत्रिका 'अखण्ड-ज्योति' विगत १९ वर्षों से मासिक रूप में निकल रही है और ग्राहक संख्या की दृष्टि से 'कल्याण' के बाद धार्मिक पत्रों में 'अखण्ड-ज्योति' का ही नम्बर है। गायत्री-तपोभूमि की सारी हल-चलों, योजनाओं तथा आचार्यजी की विचारधारा का परिचय 'अखण्ड-ज्योति' पढ़कर ही प्राप्त किया जा सकता है।

आपको मथुरा कभी पधारना हो तो तपोभूमि अवश्य देखिये। पत्र-व्यवहार द्वारा भी आप आवश्यक विषयों पर जवाबी पत्र भेजकर परामर्श प्राप्त कर सकते हैं।

पता—गायत्री तपोभूमि, मथुरा।

मुद्रक—रमनलाल बंसल, पुष्पराज प्रेस, मथुरा।

गृहलक्ष्मी की प्रतिष्ठा

श्रीराम शर्मा आचार्य

लेखक—
श्रीराम शर्मा आचार्य
गायत्री तपोभूमि, मथुरा।

ॐ भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि
धियो योनः प्रचोदयात् ।

प्रकाशक—
"अखण्ड ज्योति" प्रेस, मथुरा।

प्रथम बार] सन् १९५८ [मूल्य ।)

गृह-लक्ष्मी की प्रतिष्ठा

गायत्री का छठा अक्षर 'रे' गृह लक्ष्मी के रूप में नारी की प्रतिष्ठा की शिक्षा देता है—

रे रेव निर्मला नारी पूजनीया सता सदा।
यतो हि सैव लोकोऽस्मिन साक्षाल्लक्ष्मी मता बुधै॥

अर्थात्—"नारी सदैव नर्मदा नदी के समान निर्मल है। वह पूजनीय है, क्योंकि संसार में उसे साक्षात लक्ष्मी माना गया है।"

जैसे नर्मदा का जल सदा निर्मल रहता है उसी प्रकार ईश्वर ने नारी को स्वभावतः निर्मल अन्तःकरण दिया है। परिस्थिति के दोषों के कारण अथवा दुष्ट संगति के प्रभाव से उसमें विकार पैदा हो जाते हैं, पर यदि कारणों को बदल दिया जाय तो नारी हृदय पुनः अपनी शाश्वत निर्मलता पर लौट आता है।

नारी लक्ष्मी का अवतार है। भगवान मनु स्पष्ट शब्दों में कह गये हैं कि जहाँ नारी का सम्मान होता है वहाँ देवता निवास करते हैं। अर्थात् उस स्थान में सुख, शांति का निवास रहता है। सम्मानित और संतुष्ट नारी अनेक सुविधाओं और सुव्यवस्थाओं का घर बन जाती है, उसके साथ गरीबी में भी अमीरी का आनन्द बरसता है। धन, दौलत तो निर्जीव लक्ष्मी है, किन्तु स्त्री तो लक्ष्मी की सजीव प्रतिमा है। उसके समुचित आदर, सहयोग और संतोष का सदैव ध्यान रखना चाहिये।

नारी में नर की अपेक्षा सहृदयता, दयालुता, उदारता, सेवा, परमार्थ और पवित्रता की भावनाएँ अधिक होती हैं। उसका कार्य क्षेत्र संकुचित करके घर तक ही सीमाबद्ध कर देने

के कारण संसार में स्वार्थपरता, निष्ठुरता, हिंसा, अनीति और विलासिता की बाढ़ आई है। यदि राष्ट्र और समाज की बागडोर नारियों के हाथ में हो तो उनका मातृ-हृदय अपने सौजन्य और सहृदयता के कारण सर्वत्र सुख शांति की स्थापना कर सकता है।

नारी के द्वारा अनन्त उपकार और असाधारण सहयोग प्राप्त करने के उपरान्त नर का यह पवित्र उत्तरदायित्व हो जाता है, कि वह उसे स्वावलम्बी, सुशिक्षित, स्वस्थ, प्रसन्न और संतुष्ट बनाने के लिये सदैव प्रयत्नशील रहे। उसके साथ कठोर अथवा अपमानजनक व्यवहार किसी प्रकार उचित नहीं।

नारी के सहयोग के बिना नर अपूर्ण रहता है

प्रत्येक जीव के जीवन में यौवन के उभार के समय एक ऐसा अवसर आता है, जब वह धीरे २ इस बात का अनुभव करने लगता है कि उसके पास कुछ वस्तुओं, गुणों, स्वाभाविक विशेषताओं की कमी है। पुरुषमें यौवनका उभार आने पर जहाँ उसका पुरुषत्व विकसित होता है, वहां उसके अन्तर्मन में कामावेग भी उत्पन्न होता है। वह किसी पर अधिकार करने के लिये प्रेमोपासना करने लगता है, पुरुष स्त्री की ओर सहज भाव से रस लेने लगता है। उसमें उसे कुछ अजीव आकर्षण प्रतीत होने लगता है। उसके हाव-भाव उसे आकर्षक लगते हैं। इसी प्रकार नारी जीवन में भी प्रणय की गुप्त इच्छाएँ धीरे-धीरे विकसित होने लगती हैं। अपनी कोमलता, तितिक्षा, कला, लज्जा इत्यादि के कारण वह मनोभावों के आत्म समर्पण के लिये उन्मुख होती है। वह अपने भेद गुप्त रखने में कुशल होती है किन्तु उसका सहज ज्ञान क्रमशः प्रकट होने लगता है। नर नारी की ये स्वभावगत विशेषताएँ हैं, जो समाज का निर्माण करती हैं।

पृथक-पृथक स्त्री-पुरुष अधूरे और अपूर्ण हैं। यदि स्त्री-

पुरुष पृथक रहेंगे, तो वे समाज के लिये उपयोगी अपरिपक्व, अविकसित रहेंगे। स्त्री और पुरुष दोनों के मिलने से नर-नारी की स्वाभाविक अपूर्णता दूर होती है। एक दूसरेकी कमी जीवन-सहचर प्राप्त करने से हो पाती है। जैसे धनात्मक और ऋणात्मक तत्वों के मिलने से विश्व बनता है, वैसे ही स्त्री तथा पुरुष के मिलने से "मनुष्य" बनता है। यही पूरा मनुष्य-समाज के उत्तरदायित्वों को पूर्ण करता है।

विवाह की उपयोगिता।

आधुनिक मनोविज्ञान इच्छाओं को पार करने का मार्ग दर्शाता है, उनका दमन मानसिक बीमारियाँ उत्पन्न करता है। इसीसे अनेक बार मानसिक नपुंसकता उत्पन्न होती है। मनुष्य के अन्तस्थल में अनेक वासनाऐं दब कर अन्तर्प्रदेश में छिप जाती हैं। इनसे समय-समय पर अनेक बेढंगे व्यवहार, गाली देने की प्रवृत्ति, कुशब्दों का उच्चारण, आत्म हीनता की भावनाग्रन्थि की उत्पत्ति, स्मरण-विस्मरण, पागलपन तथा प्रलाप, हिस्टीरिया इत्यादि अनेक मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। मानसिक व्यापारों में एक विचित्र प्रकार का संघर्ष चला करता है मन की अनेक भावनाएँ विकसित नहीं हो पातीं, मनुष्य शिकायत करने की मनोवृत्ति का शिकार बना रहता है। दूसरे के प्रति वह अनुदार रहता है, उसकी कटु आलोचना किया करता है। अधिक उग्र या असन्तोषी, नाराज प्रकृति, तेज स्वभाव का कारण वासनाओं का समुचित विकास एवं परिष्कार न होना ही है। इस प्रकार का जीवन गीता में निंद्य माना गया है।

प्रत्येक स्त्री पुरुष के जीवन में एक समय ऐसा आता है, जब उसे अपने जीवन साथी की तलाश करनी होती है। आयु, विचार, भावना स्थिति के अनुसार सद्गृहस्थ के लिये उचित

जीवन साथी की तलाश होनी चाहिये। उचित शिक्षा एवं आध्यात्मिक विकास के पश्चात् किया हुआ विवाह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ठीक है। आजन्म कौमार्य या ब्रह्मचर्य महान है। उनका फल अमित है किन्तु साधारण स्त्री-पुरुषों के लिये यह सम्भव नहीं है। इससे मन की अनेक कोमल भावनाओं का उचित विकास एवं परिष्कार नहीं हो पाता। वासना को उच्च स्तर एवं उन्नति भूमिका में ले जाने के लिये एक-एक सीढ़ी चढ़ कर चलना होता है। एक सीढ़ी को लाँघ कर दूसरी पर कूद जाना कुछ इच्छाओं का दमन अवश्य करेगा, जिससे फलस्वरूप मानसिक व्याधि हो सकती है। अतः प्रत्येक सीढ़ी पर पांव रख कर उन्नत जीवन पर पहुँचना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिये।

एक पिता तथा माता के हृदय में जो नाना प्रकार के स्वर झंकृत होते हैं, उन्हें भुक्त भोगी ही जान सकता है। दो हृदयों के पारस्परिक मिलन से जो मानसिक विकास सम्भव है, वह पुस्तकों के शुष्क अध्ययन से नहीं प्राप्त किया जा सकता। विवाह कामवासना की तृप्ति का साधन मात्र है, ऐसा समझना भयंकर भूल है। वह तो दो आत्माओं के, दो मस्तिष्कों, दो हृदयों और साथ ही साथ दो शरीरों के विकास, एक दूसरे में लय होने का मार्ग है। विवाह का मर्म दो आत्माओं का स्वरैक्य है, हृदयों का अनुष्ठान है, प्रेम, सहानुभूति, कोमलता, पवित्र भावनाओं का विकास है। यदि हम चाहते हैं कि पुरुष-प्रकृति तथा स्त्री-प्रकृति का पूरा पूरा विकास हो, हमारा व्यक्तित्व पूर्ण रूप से खिल सके तो हमें अनुकूल विचार, वुद्धि, शिक्षा एवं धर्म वाली सहधर्मिणी चुननी चाहिये। उचित वय में विवाहित व्यक्ति आगे चल कर प्रायः सुशील, आज्ञाकारी, प्रसन्नचित्त, सरल, मिलनसार, साफसुथरे, शान्तचित्त, वचन के पक्के, सहानुभूति-पूर्ण, मधुरभाषी, आत्म विश्वासी और दीर्घजीवी पाये जाते हैं।

विवाह आत्म-विकास का प्रधान साधन है ?

हिन्दूधर्म में जिन षोडश संस्कारोंका विधान है उनका ध्येय मनुष्य को पशुत्व से देवत्व की ओर उन्मुख करना है। वह जैसे २ बड़ा होता है उसका आत्म-भाव उभरता है और आत्म: विस्तार प्रारम्भ होता है। ज्यों-ज्यों वह आत्म-दमन करता है, अपने ऊपर नियन्त्रण लगाता है, त्याग करता है, त्यों-त्यो उसमें आत्मीयता का भाव बढ़ता जाता है। बड़ा होने पर उसका विवाह संस्कार होता है। यह होने पर मनुष्यके ऊपर अनेक जिम्मेदारियां आ पड़ती हैं। यहाँ तो देह-भाव-विलोपन और आत्म-बलिदान का पाठ पूरा-पूरा सीखना पड़ता है। कालान्तर में जो संतान प्राप्ति होती है, उसकी सेवा बिना आत्म-त्याग और बलिदान के सम्भव नहीं। साथ-साथ अपने जीवन सहचर के व्यक्तित्व में जो अपने व्यक्तित्व को मिलाना होता है—वह भी बिना आत्मोत्सर्ग के सम्भव नहीं। कदाचित् अपने जीवन-सहचर के व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व को हमें विलीन भी करना पड़ता है—होमना भी पड़ता है—और यह देह-भाव को बनाए रखकर नहीं बन सकता। इस जीवन मे तो इच्छा निरोध, आत्म-संयम की पूरी-पूरी साधना करनी पड़ती है क्योंकि बिना इसके अपने जीवन-सहचर के साथ पूर्णतया घुल-मिल जाना नहीं बनता। अतएव विवाह मे आत्म-विलीनीकरण परमावश्यक है और यह आत्म-विलीनीकरण देह-भाव का यह उच्छेद-पशुत्व को दबाने और देवत्व को जगाने का एक साधन है। अतएव विवाह पशुत्व से देवत्व की ओर बढ़ने का एक मार्ग है।

विवाह भौतिक दृष्टि के अतिरिक्त, आध्यात्मिक जीवन के क्रमिक विकास की दृष्टि से भी जीव के बाल्य काल के पश्चात् स्वाभाविक रूप से ही आवश्यक है। बाल्य-काल के उपरान्त

आध्यात्मिक सोपान पर आगे चढ़ने के लिए जो अगली सीढ़ी हो सकती है वह विवाह-बन्धन ही है। बाल्यकाल के उपरान्त एक दम संन्यास धर्म में पहुँचना सब के लिए सरल नहीं और न अपेक्षित ही है। बाल्य-काल में सदा खाते-पीते, सोते-जागते सुखों का उपभोग ही होता है—इन्द्रियों की तृप्ति का प्रयत्न ही चलता रहता है। इच्छाओं का निरोध नहीं होता, किंतु इसके ठीक विपरीत संन्यास में एक दम त्याग ही त्याग है। अतएव विवाह ही एक ऐसी बीच की अवस्था है जो मनुष्य को विरक्ति और भोग की अवस्था के ठीक बीचों-बीच रखकर विरक्ति और त्याग के साथ-साथ ही सुख-भोग की शिक्षा देती है। मध्यम-मार्ग इस जीवन में ही संभव है। राग-द्वेष से वियुक्त होकर सुखोपभोग करना इस जीवन के अतिरिक्त न तो बाल्यावस्था में संभव है और न संन्यासावस्था में। इसलिए विवाह एक पवित्र बंधन है और विवाहित जीवन को योग्यतापूर्वक निबाहने में ही मनुष्य का आध्यात्मिक कल्याण है।

सफल विवाहित जीवन ईश्वर से सम्मिलन की पूर्वावस्था है। जायसी आदि संतों ने ईश्वर-प्रेम कैसा होना चाहिए उसकी एक क्षुद्र झांकी पति-पत्नी के प्रेम को माना है। जब लौकिक प्रेम के निबाहने में इतने बलिदान की आवश्यकता होती है तो ईश्वर-प्रेम तो फिर सिर का सौदा है, सिर हथेली पर रखकर चलना है। अतएव लौकिक प्रेम ही ईश्वर से सामंजस्य लाभ करने का मार्ग प्रशस्त करता है। शास्त्रकारों की दृष्टि में विवाहित जीवन पवित्र जीवन है। तैत्तरीयोपनिषद् में तो "प्रजातंतु मा व्यवच्छेत्सीः" ऐसा उपदेश है। अतएव जहां पवित्र जीवन है वहाँ पापमय उत्पत्ति कहाँ हो सकती है। फिर हम ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर भी सत्यकाम जाबाल और समुग्वारैक्व जैसे ब्रह्म ज्ञानियों को भी विवाह करते देखते हैं। इससे भी विवाहित

जीवन की पवित्रता ही प्रतिपादन होती है। केवल आत्म-संयम का होना न होना ही विवाहित जीवन को पवित्र या अपवित्र बना देता है। पुनश्च भगवान कृष्ण ने भी तो कहा है "धर्मा-विरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ" अर्थात् प्राणियों में स्थित मैं धर्म अविरुद्ध काम हूँ।

ऋग्वेद का वचन है।

"समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसाहसति।"

अर्थात् "हमारा आचरण समान हो, हमारे हृदय समान हों, हमारे मन समान हों और हम एक दूसरे की सहायता के लिए सदा तत्पर रहें।" यदि हम अपने जीवन-सहचर के साथ भी एकात्मता और अभिन्नता का अनुभव नहीं कर सकते तो वेद में वर्णित समाज के साथ इतनी अभिन्नता हो सकना तो बहुत दूर की बात है। इस दृष्टि से भी विचार करें तो विवाह बन्धन उत्कृष्ट सामाजिक तथा आध्यात्मिक जीवन यापन करने के लिए उत्तम शिक्षण-स्थल है। विवाह आध्यात्मिक विकास के लिए सुअवसर प्रदान करता है।

विवाहित जीवन बहुतों के लिए दुःखमय प्रतीत होता है। किंतु इसका कारण केवल आत्म-संयम और पुरुपार्थ की कमी है। कठिनाइयाँ केवल हमारी चरित-गत तथा पुरुपार्थ संबंधी न्यूनताओं की ओर ही संकेत करती हैं और मानों हमें उन पर विजय प्राप्त करने के लिए उद्‌बोधित करती हैं। जो लोग पलायन-मनोवृत्ति लेकर विवाह-बंधन से बच निकलते हैं वे दुख और कठिनाइयों से भी भले ही बच निकलें, किंतु कठिनाइयों से बच निकलना ही जीवन का लक्ष्य नहीं है। इससे उद्‌देश्य की सिद्धि नहीं होती। जीवन का लक्ष्य है अपनी आत्म-शक्ति बढ़ाना और अपनी उन चरित्रगत तथा पुरुपार्थ संबंधी न्यूनताओं

को दूर करना, जो कठिनाइयों को जन्म देती हैं और जिनके रहते हुए कठिनाइयाँ प्रतीत होती हैं। विवाहित जीवन की उपेक्षा कर तथा अपनी चरित्र-गत न्यूनताओं के ज्ञान से अपरिचित रह कर पूर्ण आनन्द भोगने का दावा करना भ्रम मात्र है। पूर्ण आनन्द तो पूर्णतया पुरुपार्थी और दोप-मुक्त होने पर ही प्राप्त हो सकता है। विवाह पुरुपार्थी और पूर्णतया दोष-मुक्त होने का बढ़िया साधन है। अतएव जिनके जीवन मे कोई दोप नहीं है और जो पूर्ण पुरुपार्थी हैं केवल वे ही इस बीच की सीढ़ी-विवाहित जीवन की उपेक्षा करने के अधिकारी हैं- क्योंकि उनको विवाहित जीवन फल-आत्म-विजय पहले प्राप्त ही रहता है।

मनुष्य ने अपने विकास काल में जिस सर्वोत्तम तत्व को विकसित किया है वह माता-पिता का हृदय ही है। इसमें जिस सुकोमलता का निवास है वह मनुष्य को देवोत्तम बना सकता है। इसी के कारण मनुष्य इस हिंसक विश्व में सर्वोपरि सुशोभित हो रहा है। इस प्रेम-मय हृदय की प्राप्ति के लिए विवाह ही द्वार को उन्मुक्त करता है।

हमारा वैवाहिक जीवन कैसे सुखी हो सकता है ?

विवाह को आत्म-विकास और चरित्र विकास का एक बड़ा साधन माना गया है। इसमें सन्देह नहीं कि विवाह हमारी जीवन-यात्रा में एक बहुत बड़े मोड़ या परिवर्तन की तरह होता है। इसलिये यदि उसे पूर्ण सफल और सुखी बनाना है तो उसके सम्बन्ध मे पहले ही से पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर लेना हमारा कर्तव्य है। खेद है कि आजकल अनेक नवयुवक और नवयुवतियाँ इस नियम पर ध्यान न देकर केवल क्षणिक आवेश में अथवा ऊपरी टीमटाम को देखकर विवाह सूत्र में आबद्ध हो

जाते हैं। जिसका अन्तिम परिणाम स्वभावतः दुखदाई होता है।

सफल विवाहित जीवन मनुष्य के सुख की एक आधार शिला है। यदि सच्चा दाम्पत्य प्रेम हुआ तो वह दोनों की अन्तरात्मा का केवल विकास ही नहीं करता, वरन् उसमें निहित उस अमूल्य भावना की सिद्धि का कारण होता है जो पुरुष नारी के प्रति तथा नारी, पुरुष प्रति अनुभव करती है। वास्तव में सच्चे दाम्पत्य प्रेम का आधार ही सुखी वैवाहिक जीवन है। अब हमें देखना है कि इस सुखी वैवाहिक जीवन के मूल तत्व क्या हैं। सच तो यह है कि वैवाहिक आनन्द का कोई निश्चित मापदण्ड नहीं है और न कोई ऐसा निरपेक्ष नियम ही है जिसके अनुसार इस अत्यन्त कलापूर्ण क्षेत्र में मानवीय सम्बन्धों का नियन्त्रण होता हो। अनेक स्त्री और पुरुष ऐसे जीवनमें भी सुखी रहते हैं जो अन्य स्त्री पुरुषोंके दुःख और निरुत्साहका कारण बन जाता है। कई दम्पति सन्तान के अभाव में दुःखी हैं, तो कई बिना सन्तान के ही पूर्ण सुखी हैं। कई अपनी गरीबी में सुखी हैं, तो कइयों की आर्थिक अवस्था ही उनके दुःख की जड़ है। शारीरिक प्रतिकूलता जहाँ एक दम्पति के दुःख का कारण है, वहीं दूसरे के सुन्दर सहयोग का आधार है। अनेक ऐसी बातें हैं, जिनको वैवाहिक जीवन के आरम्भ मे कोई महत्व नहीं दिया जाता, परन्तु समय बीतने पर वे ही सुख या दुःख का कारण बन जाती हैं। अनेक दम्पति जो आरंभ में सब प्रकार से सुखी होते हैं, बाद को दुःखी रहने लगते हैं, क्योंकि मनुष्यों का मानसिक और आध्यात्मिक विकास विभिन्न गतियों से होता है।

की ठोस बुद्धि, मानसिक परिपक्वता, शारीरिक स्वास्थ्य, दृष्टिकोण में मनोवैज्ञानिक स्वतन्त्रता, प्रेमकला तथा लैंगिक ज्ञान, पारिवारिक उत्तरदायित्व की परिपक्वभावना, वस्तु स्थिति के अनुकूल आचरण करने की योग्यता, काल्पनिक आदर्श से मुक्ति, विस्तृत एवम् उदार मानवीय प्रवृत्ति तथा सहयोग के आधार पर आगे बढ़ने, कष्ट उठाने और जीवन-सुखमें भाग लेने की क्षमता आदि। ये ही दिन-प्रतिदिन की वैवाहिक समस्याओं को सफलता पूर्वक के मूल मन्त्र हैं। अपने वैवाहिक साथी की परिस्थिति से पूर्ण आत्मीयता तथा उसे निरन्तर उत्साहित करते रहने की तत्परता, दाम्पत्य जीवन की साधारण बाधाओं को सहज ही में दूर कर देती है। साथ ही यदि दोनों समान रूप से शिक्षित हुए और दोनों की समाज के लिये उपयोगी काम धन्धों में भी समानता हुई, तो सोने मे सुगन्ध आ जाती है। अन्त मे थोड़ी बहुत आर्थिक स्वतन्त्रता और धार्मिक तथा सामाजिक साम्यता यदि उपलब्ध हो, तो वह वैवाहिक जीवन को सुखद बनाने में बड़े ही सहायक होते हैं।

परन्तु बहुत कम ऐसे व्यक्ति हैं, जो उपरोक्त आदर्श साधनों के साथ विवाह संबंध में प्रवेश करते हैं। यही कारण है कि जीवन में हमें अनेक बेजोड़ गठ-बन्धन जैसे किसी निर्दयी पुरुष और अबला स्त्री में, किसी जबरदस्त मर्दानी और स्त्रैण पुरुषमें, किसी स्वतन्त्र एवं साहसी पुरुष तथा कायर एवं मूर्ख स्त्री में, किसी स्वस्थ और मोटी स्त्री और सूखे हुये कितात्री कीड़े पुरुष मे किसी बालिका और वृद्ध में, किसी अशिक्षित तथा गंवार स्त्री और शिक्षित पुरुष में, किसी सुन्दर युवक और कुरूप स्त्री या सुन्दर स्त्री और कुरूप पुरुष में देखने को मिलते हैं।

अब यदि हम वैवाहिक असफलता के कारणों पर किंचित दृष्टिपात करें तो देखेंगे कि बेजोड़ विवाह न होने पर भी लैंगिक

विज्ञान और प्रेमकला की अनभिज्ञता वैवाहिक असफलता का एक प्रधान कारण है। जीवन के आरम्भ से ही हमें चलने, बोलने अभिवादन करने तथा कायदे से कपड़े पहनने आदि की शिक्षा दी जाती है हमारी पढ़ाई-लिखाई के साथ-साथ हमे खेलने-कूदने, लोगों से मिलने-जुलने तथा अन्य सामाजिक शिष्टाचारों की शिक्षा दी जाती है। जीविकोपार्जन करके हम अपना निर्वाह कर सकें, इसके लिये कुछ उद्योगोंकी भी शिक्षा हमें दी जाती है, परन्तु शायद ही कोई ऐसा पुरुष या स्त्री हो, जिसे किसी कुशल शिक्षक द्वारा इस बात की शिक्षा दी गई हो कि एक सफल प्रेमी, आदर्श पति अथवा पत्नी कैसे बना जा सकता है।

हमारे आधुनिक जीवन का अभिशाप यह है कि अश्लील आख्यानों से भरे हुये उपन्यासों, कामोद्दीपक चित्रों और लेखों से पूर्ण समाचार पत्रों तथा लम्पटता-पूर्ण दृश्यों मे भरे हुए नाटकों और चलचित्रों की प्रबल धारा में बहाकर हम अपने नौजवानों का दिमाग अनेक गलत धारणाओं से भर ही नहीं देते, वरन् उनकी स्वाभाविक एवं सामान्य काम-वृत्ति को बुरी तरह उत्तेजित और विकृत भी बना देते हैं। जहाँ एक तरफ हम अपने ही हाथों इतने उत्तेजित वातावरण की सृष्टि करते है, वहाँ दूसरी तरफ लैंगिक-ज्ञान (सेक्स) के ऊपर एक गुप्त और अपवित्रता का झूँठा पर्दा डालकर अपने बच्चों को जीवन की इस अमूल्य जानकारी से वञ्चित रखते हैं। जिस समय लड़की को यह विश्वास कराया जाता है कि उसके जीवन का एक मात्र लक्ष्य विवाह को सफल बनाना तथा एक सुन्दर घर बसाना है, काम-वृत्ति और गर्भाधान संबन्धी अत्यन्त उपयोगी जानकारी उससे छिपा कर रखी जाती है। वैवाहिक जीवन को सफल बनाने के लिए इस अज्ञान को दूर करना आवश्यक है।

वैवाहिक नैराश्य का दूसरा प्रधान कारण स्त्री और पुरुष

के वीच प्रभुता और शान के लिये प्रतिद्वन्द्विता है। इस प्रतिद्व-न्द्विता को आज हम बड़े स्पष्ट रूपमें विशेष कर शिक्षित दम्पत्तियों में देख सकते हैं। कुछ अंशों में हम इसे उस आन्दोलन की ही एक शाखा कह सकते हैं जो आधुनिक शिक्षित नारी आज के शक्तिशाली पुरुष की निरंकुशता के विरुद्ध चला रही है। व्यक्ति-वादी समाज के व्यापारिक कार्यों मे एक जीवन-दायिनी शक्ति के रूप में प्रतिद्वन्द्विता को चाहे हम जो भी महत्व दें, परन्तु प्रेम और वैवाहिक जीवन के लिये तो प्रतिद्वन्द्विता मृत्यु के समान है अथवा वह छिपी हुई चट्टान है, जिससे टकराकर अनेक विवाह विचूर्ण हो चुके हैं।

लोग इसे एक मनोवैज्ञानिक आदेश की भांति ग्रहण करें कि जिस भी व्यक्ति ने अपने स्त्री या पुरुष साथी पर प्रभुत्व जमाना चाहा या उसकी निन्दा की तथा उसके आत्म सम्मान को ठेस पहुँचाई, उसने सदा के लिए अपने वैवाहिक आनन्द पर कुठाराघात कर लिया।

वास्तव में लोगों का वैवाहिक जीवन अधिक सफल होता यदि दाम्पत्य वाह्य आकर्षण और सुन्दरता पर आधारित प्रेम की बात कम सोचते तथा अपनी आर्थिक परिस्थिति, संतान पालन के सिद्धांत, खाली समय का पारस्परिक सदुपयोग, एक दूसरे की भावनाओ का समुचित ध्यान,साथ मिलकर जिम्मेदारी उठाने की योग्यता आदि आवश्यक विषयों पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर अपनी जीवन नौका को कुशलता के साथ खेते। कितनी विचित्र बात है कि यदि कोई आदमी व्यापार या साभे-दारी में केवल इसलिये शामिल होने को लालायित हो उठता है कि उस व्यवसाय विशेष के दफ्तर की कुर्सी और मेज उसे बहुत पसंद है तो लोग उसे वेवकूफ बनाते हैं, परन्तु यदि वही आदमी एक लड़की से केवल इसलिये शादी करले कि वह देखने में सुंदर

है, नाच अच्छा करती है तथा पार्टियों में जाने की शौकीन है तो उसके मित्र उसे बधाई देते नहीं थकते। ऐसे गुणों तथा वाह्य सुंदरता और आकर्षण पर आधारित प्रेम बिल्कुल अस्थाई रहता है। अवस्था के साथ २ यौवन ढलने पर ऐसा प्रेम प्रायः हवा हो जाता है। प्रेम का सच्चा बंधन तो आन्तरिक सुंदरता पर अवलम्बित है। प्रत्येक व्यक्ति में कोई न कोई गुण अवश्य होता है। दम्पित को एक दूसरे की आन्तरिक सुंदरता और विशिष्ट गुणों की खोज कर प्रेम पूर्वक जीवन निर्वाह करना चाहिये। हाँ विवाह बंधन में फँसने के पूर्व इस बात का ध्यान रहे कि स्त्री और पुरुष दोनों में प्रत्येक दृष्टिकोण से अधिक से अधिक साम्य रहे। शुरू की जरासी भी जल्दबाजी और असावधानी सारे वैवाहिक जीवन को दुःखद बना सकती है।

अन्त में यह बात ध्यान रखना आवश्यक है कि विवाहित जीवन को सुखमय बनाने का सबसे सुन्दर नियम वास्तव मे यह है कि विवाह करने के पहले अपने साथी को भली भाँति समझ लीजिये तथा विवाह के बाद उसे वही समझिये जो वह वास्तव में है और आदर्श कल्पना को त्याग कर उसी का सन्तोष पूर्वक प्रसन्नता के साथ उत्तम से उत्तम उपयो कीजिये।

वैवाहिक जीवन का उत्तरदायित्व

सांसारिक कार्यों में विवाह कदाचित सबसे अधिक उत्तरदायित्व का काम है। इसलिए वैवाहिक जीवन मे प्रवृष्टि होने के पूर्व जितना ही अधिक सोच विचार करके निर्णय किया जाय उतना ही उत्तम है। आज कल जो हर प्रकार से संतुष्ट, सन्तुलित, सुखी विवाहित जोड़े बहुत कम दिखाई पड़ते हैं उसका कारण प्रायः यही होता है कि अधिकांश लोग प्रायः अज्ञान में अथवा आवेश मे विवाह सम्बंध कर डालते हैं। आजकल के

अनेक नवयुवक तो विवाह के पूर्व अपनी पत्नी के विषय में सिनेमा की प्रेम-लीला जैसी सुमधुर कल्पनाएँ करके गगन-विहार किया करते हैं। उन्हे प्रायः विवाहित जीवन में भारी निराशा का सामना करना पड़ता है। पश्चिमी देशों में तलाकों की संख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि का एक मुख्य कारण भी यही है।

इस मनोवृत्ति का शिक्षित युवक जब विवाह करता है तो उसके मन में अपनी पत्नी का एक आदर्श रूप उपस्थित रहता है। वह उसे पुष्प सी कोमल, चन्द्रमा सी सुन्दर, विद्या में चतुर, सङ्गीत नृत्य विद्याओं में निपुण हर प्रकार से सरल साधु मीठे स्वभाव की कल्पना करता है। वह सिनेमा के चलचित्रों में कार्य करने वाली नर्त्तकियों को देखते २ एक ऐसा आदर्श मनमें बना लेता है जो कभी पूर्ण नहीं हो पाता। वह बड़ी बड़ी आशाएँ, स्वप्नों के महल कपोल कल्पनाएँ, रोमांस, मनोरञ्जन की आशाएँ लेकर वैवाहिक जीवन मे प्रविष्ट होता है। मनोविज्ञान का यह अटूट नियम है कि दूर से स्त्री को पुरुप तथा पुरुप को स्त्री आकर्पक प्रतीक होती है। विवाह के कुछ मास एक प्रकार के उन्माद में व्यतीत होते हैं। तत्पश्चात उसका मन ऊबने लगता है। पुरुप स्वभाव से नवीनता का उपासक है। समीप रहने वाली वस्तु उसे पुरानी, नीरस, आकर्पण-विहीन फीकी-सी प्रतीत होने लगती है। यही दाम्पत्य जीवन के असन्तोप का कारण है। जिसकी वजह से तलाक जैसी अप्रिय बातें होती हैं। इसी वृत्ति से सङ्घर्ष कर उस पर विजय प्राप्त करने की आवश्य-कता है।

विवाह से पूर्व स्त्री को पुरुष तथा पुरुष को स्त्री को देख लेने, परखने, उसके विपय में दूसरों से सलाह लेने, यदि सम्भव हो सके तो परीक्षा करनें, हर प्रकार की सतर्कता, दूरदर्शिता

वरतने की गुंजायश है। वर-वधू को चाहिये कि झूंठी शर्म त्याग कर एक दूसरे के गुण, कर्म स्वभाव का ज्ञान प्राप्त करें। एक जैसा न हो, तो दूसरे साथी को उसका सन्तुलन करना होता है। एक सी रुचि के दो व्यक्ति जीवन में सरलता से चल सकते हैं। एक शिक्षित तथा दूसरा अशिक्षित होने से अनेक बार दृष्टिकोण में विभिन्नता तथा कटुता उत्पन्न होकर दाम्पत्य माधुर्य को नष्ट कर देती है। अतएव वर-वधू को प्रारम्भ में अति सावधानी एवं सतर्कता वरतने की आवश्यकता है।

अपने साथी के शरीर, मस्तिष्क, विचार तथा स्वभाव का ज्ञान प्राप्त कीजिये। वह नीरस प्रकृति है या हँसमुख मजाकिया? वह गम्भीर अध्ययनशील है, या सदैव जल्दबाजी में रहने वाला, या तीव्र भावों में वहजाने वाला? वह उदार है या संकुचित, जिद्दी, निश्चयी, पुरुपार्थी, मस्त या स्फूर्तिवान? वह किसी कार्य को लगातार करता है या बीच में ही छोड़ भागने का अभ्यस्त है? प्रेम के सम्बन्ध में उसके क्या विचार है? उसकी आर्थिक स्थिति तथा आवश्यकताएँ कैसी हैं? इन तथा इसी प्रकार के अनेक प्रश्नों पर विवाह से पूर्व ही खूब देख भाल विचार विनियम करने के की आवश्यकता है।

उत्तरदायित्व का निर्वाह।

विवाह के पश्चात् आप पर एक बड़ी जिम्मेदारी आ जाती है। पति को पत्नी के स्वास्थ्य आराम, मानसिक तथा शारीरिक सुख का ध्यान रखना है, तथा पत्नी को पति के कार्य, पेशे, भोजन मनोरञ्जन, बच्चों की देख भाल, गृहप्रवन्ध इत्यादि में अपने पृथक-पृथक उत्तरदायित्व का निर्वाह करना है। पतिका कार्य क्षेत्र अधिकतर घर के बाहर संघर्ष पूर्ण कार्यस्थल है जहाँ उसे जीविका उपार्जन करने के हेतु कठोर परिश्रम, कार्यदक्षता,

कौशल प्रदर्शित करना होता है। उसका उत्तरदायित्व अधिक है, क्योंकि उसे जीविका कमाने का कार्य तत्परता से करना होता है। पत्नी अपने गृहप्रबन्ध, मृदुल सहानुभूति पूर्ण व्यवहार, तथा सौन्दर्य से घर को स्वर्ग बनाती है।

हमें अपने विवाहित जीवनमें अपनी जिम्मेदारी निभानी है, अपने जीवन-साथी की निर्बलताओं को सहानुभूति पूर्ण ढङ्ग से निकालना है, उसके स्थान पर उत्तम गुणों का समावेश करना है। हम सब तरह के असन्तोषों को दूर करेंगे, परस्पर एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझेंगे, आपसी गलतफहमियों को न बढ़ने देंगे,—यह मान कर दाम्पत्य जीवन में प्रविष्ट होना श्रेयस्कर है। यह समझाने की भावना सुखमय दाम्पत्य जीवन का मूल मन्त्र है।

कौन पति-पत्नी नहीं झगड़ते? विचारों में अन्तर कहाँ नहीं है? एक से स्वभाव कहाँ मिलते हैं? ऐसा कौन है जिसमें कमजोरियाँ, दुर्गुण, शारीरिक या मानसिक दुर्बलताएं नहीं हैं। यदि आप एक दूसरे की दुर्बलताओ पर कलह करेंगे, तो अल्प-काल में असन्तोष नामक महाभयंकर राक्षस आपका विवाहित जीवन कटु बना देगा। आपका सौन्दर्य और प्रेम पिपासु मन एक स्त्री की सुन्दरता छोड़ दूसरी,दूसरी से तीसरी, चौथी दसवीं न जाने कहां कहां मारा मारा फिरेगा। मन की बागडोर ढीली न कीजिए। अपने जीवन-साथी में ही सरलता, सौन्दर्य, कौशल चतुरता, माधुर्य, खोज निकालिये, उसकी अपूर्णता को पूर्ण बनाइये। अशिक्षित है तो शिक्षित कीजिये, पुस्तकें, समाचार-पत्र कहानियाँ, उपन्यास पढ़ाइये, यदि स्वास्थ्य खराब है, तो स्वास्थ्य रक्षा, व्यायाम, पौष्टिक भोजन और दुश्चिन्ताओं को दूर कर उसे सुन्दर बनाइये, किन्तु उसे त्यागने का भाव कदापि मन में उदित न होने दीजिये। त्यागने की बात सोचना, एक दूसरे की

सहायता न करना, शील सौन्दर्य की अभिवृद्धि न करना, विद्या प्रदान न करना पति के लिए लज्जा के विषय हैं।

एक विद्वान ने सुखमय विवाहित जीवन की कुञ्जी इन शब्दों में भरदी है। वे कहते हैं—"जिस प्रकार जिस उद्यान का माली उसका ध्यान नहीं रखता तो वहाँ घास-फूस उग आती है, काँटे उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार जब पति-पत्नी दाम्पत्य प्रेम की सतर्कता और ध्यानपूर्वक रक्षा नहीं करते तो वे कटु भावों (मनोमालिन्य, ईर्ष्या, ऊँच-नीच का भाव, शिक्षा अशिक्षा, सन्देह, गलतफहमी, असन्तोष, मनमानापन) में परिवर्तित हो जाता है। प्रत्येक कार्य आलस्य, नीरसता, रोग परपुरुष या परस्त्री का दाह, के रूप में दाम्पत्य सुख को हानि पहुँचाने की धमकी देने लगता है।

दो स्वर्ण सूत्रः—

इस स्थिति पर विजय प्राप्त करने के दो मार्ग हैं—प्रथम यह है जो दाम्पत्य जीवन का सच्चा सार है—अर्थात् यह दृढ़ प्रतिज्ञा और उसका निर्वाह कि 'हम दोनों पति-पत्नी एक दूसरे का परित्याग नहीं करेंगे, हम प्रत्येक प्रेम, सहानुभूति, त्याग, शील, आदान प्रदान, सहायता के टूटे हुए तार को गांठ लेंगे, हम विश्वास, आशा, सहिष्णुता, अवलम्ब, उपयोगिता की गिरी हुई दीवार के प्रत्येक भाग की निरन्तर प्रयत्न और भक्ति से मरम्मत करेंगे, हम एक दूसरे से माफी माँगने, सुलह और समझौता करने को सदैव प्रस्तुत रहेंगे।

दूसरा उपाय है पति-पत्नी की एक दूसरे के प्रति अनन्य भावना। पति-पत्नी एक दूसरे में लीन होजांय, समा जांय लय हो जांय, आधीनता की भावना छोड़ समभाव की पूजा करें।

मानसिक और आत्मिक सम्बन्ध है। इसमें दो आत्माएँ ऐसी मिल जाती है कि इस पार्थिव जीवन तथा उच्च देवलोक में भी मिली रहती हैं। यह दो मस्तिष्कों, दो हृदयों, दो आत्माओं तथा साथ ही साथ दो शरीरों का एक दूसरे में लय हो जाना है। जब तक यह स्वरैक्य नहीं होता विवाह का आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। विवाहित जोड़े का परस्पर वह विश्वास और प्रतीति होना आवश्यक है, जो दो हृदयों को जोड़कर एक करता है। जब दो हृदय एक दूसरे के लिये आत्म समर्पण करते हैं, तो एक या दूसरे को कोई तीसरा व्यक्ति बिगाड़नेनहीं पाता है। केवल इस प्रकार ही वह आध्यात्मिक दाम्पत्य अनुराग सम्भव हो सकता है, जिसका समझना उन व्यक्तियों के लिये कठिन है, जो अपने अनुभव से इस प्रेम और समझौते के, इस पारस्परिक उत्तरदायित्व तथा सम्मान के, आसक्ति और आत्म सन्तोष के, मानव तथा दिव्य प्रेरणाओं के विस्मयोत्पादक संयोग को, जिसका नाम सच्चा विवाह है, नहीं जानते।

गृहस्थ-जीवन की सफलता

शास्त्रों में कहा है कि "न गृहं गृह मित्याहु गृहिणी गृहं मुच्यते" घर को घर नहीं कहते वरन् गृहिणी को ही घर कहते हैं, और लोक में प्रसिद्ध है कि 'बिन घरनी घर भूत को डेरा।' लोक और शास्त्र की बात का समर्थन व्यवहार द्वारा होजाता है।

मनुष्य जीवन का आधार प्रेम है। जहां प्रेम है वहां स्वर्ग है, सुख है। जिस घर मे प्रेम नही वहां रहने की इच्छा नहीं होती, ठहरने की आकांक्षा नहीं रहती। प्रेम में एक आकर्षण है, एक खिचाव है।

जब तक मनुष्य अपनी ही अपनी बात सोचता है तब तक कहीं से भी उसे आकर्षण प्राप्त नहीं होता। आकर्षण या

खिंचाव उसी समय उसे अनुभव होता है जब वह अपने को भूलकर औरों के प्रति अपना उत्सर्ग कर देता है। जब स्वार्थ को खत्म करके परम स्वार्थ-परमार्थ की शरण लेता है।

कौन मानव जानबूझकर दुःख की ओर कदम बढ़ाता है, परेशानी को मोल लेना चाहता है। जीवन का क्रम ही है सुख की ओर बढ़ना, शान्ति की ओर चलना। लेकिन अपने सुख की चिन्ता नहीं, जब तक दूसरों के सुख की चिन्ता न होने लगे तब तक सुख पास नहीं आता। इसी से तो हम कहते हैं कि दूसरे के लिए त्याग करना ही मानव का परम स्वार्थ है। दूसरे के लिए सुख खोजने की प्रवृत्ति उत्पन्न करने से अपने लिए सुख पाने का राजपथ तैयार किया जाता है। इस प्रवृत्ति का जनक है—गृहस्थ जीवन। वह एक ऐसी पाठशाला है जहां इस हाथ देकर उस हाथ पाने की तात्कालिक शिक्षा प्राप्त होती है।

विवाहित जीवन के लिए एक नारी को पराये घर से लाते हैं, और अपना घर और उसकी ताली कुञ्जी दे देते हैं तो ठण्डी सांस लेते हैं। उसे उस घर की मालकिन बना देने पर ही मानव के सुख की शुरूआत कर देते हैं। और तब फिर पुरुष का सारा व्यापार अपने लिए न होकर उस नारी के लिए होता है, जो कि अपनी नहीं थी पर जिसके लिए सब कुछ उत्सर्ग कर दिया गया। घर लाई हुई नारी को सुखी रखना एक मात्र यही कर्त्तव्य पुरुष का रह जाता है और इसका परिणाम यह होता है कि वह आई हुई नारी अपना सर्वस्व पुरुष के प्रति समर्पित कर देती है। स्वयं दुःख उठाकर भी वह पुरुष को सुखी देखना चाहती है। स्वयं भूखी रहकर भी वह पुरुष को तृप्त कर देना चाहती है। यह परस्पर का आत्मसमर्पण ही गृहस्थ जीवन के सुख की कुंजी है।

परन्तु यह सुख उस समय मिट्टी में मिल जाता है जब एक

दूसरे के प्रति त्याग की भावना समाप्त हो जाती है या समाप्त होने के लिए कदम बढ़ाती है। जब एक दूसरे को शङ्का की नजर से देखते हैं या एक दूसरे को अपने आधीन रखने के प्रयत्न में लग जाते है। आप जानते हैं, इसमें कौन सी भावना काम करने लगती है ? वह भावना होती है दूसरे को कम देना और अधिक पाने की इच्छा रखना। यह इच्छा जिस दिन अंकुरित होती है सुख और शान्ति की भावना का उसी दिन से तिरोभाव आरंभ हो जाता है। और एक नया शब्द जन्म लेता है जिसके द्वारा दूसरे को अपने काबू में रखने के लिए मानव चेष्टा करता है। वह शब्द है—"अधिकार।" अधिकार दूसरे से कुछ चाहता है परन्तु दूसरे को देने की बात भूल जाता है। इस मॉग और भूख की लड़ाई में ही गृहस्थ जीवन का सुख विदा मांगना आरम्भ कर देता है।

हम पहले ही बतला चुके हैं कि प्रेम के जीवन में सुख है और प्रेम त्याग और समर्पण का पाठ पढ़ाता है। वहां अधिकार नामक शब्द के प्रवेश का निषेध है। वहां तो एक ही शब्द जा सकता है जिसका नाम कर्त्तव्य है। अपना कर्त्तव्य करते चलो। जो तुम्हारा प्राप्य है वह अपने आप मिल जायगा। लेकिन कर्त्तव्य की बात भूल कर प्राप्य की बात को सामने रखने से प्राप्य के प्राप्त करने में कठिनाई रहती है। समस्त झगड़े-बखेड़ों की यही एक मात्र जड़ है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि दुनियाँ का कार्य स्वयं ही आदान-प्रदान से चल रहा है, जब कुछ दिया जाता है तब तुरन्त ही कुछ मिल जाता है। देना बन्द होते ही मिलना बन्द हो जाता है। इसलिए लेने की आकॉक्षा होने पर देने की भावना पहले बना लेना जरूरी होता है। अधिकार में लेने की भावना भरी रहती है, देने की नहीं। इसलिए आपस का प्रेम

कम होना आरम्भ हो जाता है । जिस दिन ये अधिकार की लालसा गृहस्थ जीवन में प्रविष्ट हो जाती है, गृहस्थ जीवन कलह का अखाड़ा बन जाता है । आज यही कारण है कि अधिकांश मानव इसी के शिकार हो रहे हैं और अपने जीवन को अशान्त और दुखी बनाये हुए हैं । अपने ही हाथो उन्होंने अपनी सुख-सुविधा को लात मार दी है ।

अधिकार की मंशा है दूसरों को अपने अधीन रखना, अपनी इच्छा के अधीन रखना, अपने सुख का, भोग का यंत्र बनाना । जब किसी भावना का प्रवाह एक ओर से चलना आरम्भ हो जाता है तो उसकी प्रतिक्रिया दूसरी ओर से भी होना आरम्भ हो जाती है । जब एक दूसरे को अपने भोग का यंत्र बनाना चाहता है तो दूसरा भी पहले को यंत्र बनाने की धुन में लग जाता है ।

पुरुप ने जिस दिन से स्त्री को अपने भोग का उपकरण बनाना विचारा, उसी दिन से स्त्री ने भी पुरुप को अपनी तृप्ति का साधन बनाने की ठानी । एक दूसरे को सुख देने, प्रसन्न रखने की भावना का लोप हो गया । प्रेम की जगह भोग ने आश्रय लिया । घरनी की जगह रमणी की प्रतिष्ठा हुई । घर भूत का डेरा बनने लगा । गृहिणी जो आत्म साधिका थी, लिपस्टिक, जम्फर, जार्जेट, विलायती तरीके के जूतों की शौकीन बनी । दिखावट बढ़ी, रुपयों की मॉग बढ़ी, स्वच्छन्दता बढ़ी और पुरुप ने उसे दबाकर रखने की मॉग को बढ़ाया । इस तरह गृहकलह जन्मा, भोग और अधिकार के प्रश्न ने, सेवा को खोया, प्रेम को खोया और आज घर २ में चितायें जल रही हैं ।

एक युग था पति के बिना नारी घर में न रह सकती थी, पति के सुख को ही अपना सुख मानने वाली नारी पति के साथ वन जाकर—

"भूमि सयन, वल्कल वसन, असन कन्द फलमूल ।
तकि सदा सब दिन मिलहिं, समय-समय अनुकूल" ॥

पाकर भी बन में सुखी रही । और आज अधिकार का प्रश्न उठाने वाली महल में स्वच्छन्द रहने पर भी एक टीस, एक वेदना, लिए जिन्दा है ।

भावना बदलते ही जिन्दगी बदल गई । जिन्दगी की तृप्ति और शान्ति दोनों बिदा लेगये । मानव जीवन का जो श्रेयस्कर मार्ग था उसे छोड़कर भ्रष्ट पथ होने का पुरस्कार हजारों नर-नारी रात दिन भोग रहे हैं इसलिए यह आवश्यक है कि उन्हें फिर से आर्य-पथ पर चलने की तैयारी करनी चाहिए ।

अधिकार मांगने से नहीं, देने से मिलता है । कर्त्तव्य कर्म करने से स्वयं उसका बदला मिल जाता है । भारतीय दर्शन में "कर्त्तव्य" का नाम ही धर्म है । पुरुष धर्म और नारी धर्म दोनों का आदि स्रोत समर्पण हैं । दोनों की भावनाओं में, दिल में और दिमाग में समर्पण की उत्सर्ग की, भावना के बीजों को आरोपित करने से फिर से शान्ति, तृप्ति और सुख का समावेश हो जायेगा—विवाहित जीवन का जो उद्देश्य है वह सफल होगा ।

दाम्पत्य-जीवन में कलह से बचिये !

अनेक परिवारों में स्त्री पुरुषों के मध्य वैसे मधुर संबंध नहीं देखे जाते जैसे कि होने चाहिए । अनेकों घरों में आये दिन संघर्ष, मनोमालिन्य और अविश्वास के चिन्ह परिलक्षित होते रहते हैं । कारण यह है कि पति—पत्नी में से एक या दोनों ही केवल अपनी-अपनी इच्छा, आवश्यकता और रुचि को प्रधानता देते है । दूसरे पक्ष की भावना और परिस्थितियों को न समझना ही प्रायः कलह का कारण होता है ।

जब एक पक्ष दूसरे पक्ष की इच्छानुसार आचरण नहीं करता तो उसे यह बात अपना अपमान, उपेक्षा या तिरष्कार प्रतीत होती है, जिससे चिढ़ कर दूसरे पक्ष पर कटुवाक्यों का प्रहार या दुर्भावनाओं का आरोपण करता है। उत्तर-प्रत्युत्तर, आक्रमण-प्रत्याक्रमण, आक्षेप-प्रत्याक्षेप का सिलसिला चल पड़ता है तो उससे कलह बढ़ता ही जाता है। दोनों में से कोई अपनी गलती नहीं मानता, वरन् दूसरे को अधिक दोषी, प्रधान दोषी, प्रथम दोषी सिद्ध करने के लिए अपनी जिद को बढ़ाते रहते हैं। इस रीति से कभी भी झगड़े का अन्त नहीं हो सकता। अग्नि में ईंधन डालते जाने से तो और भी अधिक प्रज्वलित होती है।

जो पति पत्नी अपने संबंधों को मधुर रखना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि दूसरे पक्ष की योग्यता, मनोभूमि, भावना, इच्छा, संस्कार, परिस्थिति, एवं आवश्यकता को समझने का प्रयत्न करें और उस स्थिति के मनुष्य के लिए जो उपयुक्त हो सके ऐसा उदार व्यवहार करने की चेष्टा करें तो झगड़े के अनेकों अवसर उत्पन्न होने से पहले ही दूर हो जावेंगे। हमें भली प्रकार समझ रखना चाहिए कि सब मनुष्य एक समान नहीं हैं, सबकी रुचि एक समान नहीं है, सबकी बुद्धि, भावना और इच्छा एक जैसी नहीं होती। भिन्न वातावरण, भिन्न-परिस्थिति और भिन्न कारणों से लोगों की मनोभूमि में भिन्नता हो जाती है। यह भिन्नता पूर्णतया मिटकर दूसरे पक्ष के बिलकुल समान हो जावे यह हो नहीं सकता। कोई स्त्री-पुरुष आपस में कितने ही सच्चे क्यों न हों, उनके विचार और कार्यों में कुछ न कुछ भिन्नता रह ही जायगी।

अनुदार स्वभाव के स्त्री-पुरुष क्रूर, एवं संकीर्ण मनोवृत्ति के होने के कारण यह चाहते है कि हमारा साथी हमारी किसी

भी बात में तनिक भी मतभेद न रखे। प्रति अपनी स्त्री को प्रतिव्रत का पाठ पढ़ाता है और उपदेश करता है कि तुम्हें पूर्ण प्रतिव्रता, इतनी उग्र पतिव्रता होना चाहिए कि पति की किसी भी भली बुरी विचारधारा, आदत कार्य प्रणाली में हस्तक्षेप न हो। इसके विपरीत स्त्री अपने पति से आशा करती है कि पति के लिए भी यह उचित है कि स्त्री को अपना जीवन-संगी, आधा अङ्ग समझ कर उसके सहयोग एवं अधिकार की उपेक्षा न करे। यह भावनाऐं जब संकीर्णता और अनुदारता से संमिश्रित होती है तो एक पक्ष सोचता है कि मेरे अधिकार को दूसरा पक्ष पूर्ण नहीं करता। बस यहीं से झगड़े की जड आरम्भ हो जाती है।

इस झगड़े का एक मात्र हल यह है कि स्त्री, पुरुष को, और पुरुष, स्त्री को, अपने मन की अधिकाधिक उदार भावना से बरते। जैसे किसी व्यक्ति का एक हाथ या एक पैर कुछ कमजोर, रोगी, या दोष पूर्ण हो तो वह उसे न तो काट कर फेंक देता है न कूट डालता है और न उससे घृणा, असंतोष, विद्वेष आदि करता है अपितु उस विकृत अङ्ग को अपेक्षाकृत अधिक सुविधा देने और उसके सुधारने के लिए, स्वस्थ भाग की भी थोड़ी उपेक्षा कर देता है। यही नीति अपने कमजोर साथी के बारे में बरती जाय तो झगड़े का एक भारी कारण दूर हो जाता है।

झगड़ा करने से पहले आपसी विचार विनिमय के सब प्रयोगों को अनेक बार कर लेना चाहिए। कोई वज्रमूर्ख और घोर दुष्ट प्रकृति के मनुष्य तो ऐसे हो सकते हैं जो दण्ड के अतिरिक्त और किसी वस्तु से नहीं समझते। पर अधिकांश मनुष्य ऐसे होते हैं जो प्रेम भावना के साथ, एकान्त स्थान में सब ऊँच नीच समझाने से बहुत कुछ समझ और सुधर जाते हैं। जो

थोड़ा बहुत मतभेद रह जाय उसकी उपेक्षा करके उन बातों को ही विचार क्षेत्र में आने देना चाहिए जिनमें मतैक्य है। संसार में रहने का यही तरीका है कि एक दूसरे के सामने थोड़ा-थोड़ा झुका जाय और समझौते की नीति से काम लिया जाय। महात्मा गाँधी, उच्चकोटि के आदर्शवादी और संत थे, पर उनके ऐसे भी अनेकों सच्चे मित्र थे जो उनके विचार और कार्यों से मतभेद ही नहीं विरोध भी रखते थे। यह मतभेद उनकी मित्रता में बाधक न होते थे। ऐसी ही उदार समझौता वादी नीति के आधार पर आपसी सहयोग संबंधों को कायम रखा जा सकता है।

इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि साथी में दोष, दुर्गुण, हो उनकी उपेक्षा की जाय और उन बुराइयों को अबाध रीति से बढ़ने दिया जाय। ऐसा करना तो एक भारी अनर्थ होगा। जो पक्ष अधिक बुद्धिमान, विचारशील एवं अनुभवी है उसे अपने साथी को सुसंस्कृत, समुन्नत, सद्‌गुणी बनाने के लिए भरसक प्रयत्न करना चाहिए। साथ ही अपने आपको भी ऐसा मधुर-भाषी, उदार, सहनशील एवं निर्दोष बनाने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए कि साथी पर अपना समुचित प्रभाव पड़ सके। जो स्वयं अनेक बुराइयों में फँसा हुआ है वह अपने साथी को सुधारने में सफल कैसे हो सकता है? सती सीता परमसाध्वी उच्चकोटि की पतिव्रता थीं, पर उनके पतिव्रता होने का एक कारण यह भी था कि वे एक पत्नी व्रतधारी अनेक सद्‌गुणों से सम्पन्न राम की धर्मपत्नी थीं। रावण स्वयं दुराचारी था उसकी स्त्री मंदोदरी सर्वगुण सम्पन्न एवं परम बुद्धिमान होते हुए भी पति-व्रता न रह सकी। रावण के मरते ही उसने विभीषण से पुनर्विवाह कर लिया।

जीवन की सफलता, शान्ति, सुव्यवस्था इस बात पर

निर्भर है कि हमारा दाम्पत्य जीवन सुखी और संतुष्ट हो। इसके लिए आरम्भ में ही बहुत सावधानी बरती जानी चाहिए और गुण कर्म स्वभाव की समानता के आधार पर लड़के लड़कियों के जोड़े चुने जाने चाहिए। अच्छा चुनाव होने पर भी पूर्ण समता तो हो नहीं सकती, इसलिए हर एक स्त्री-पुरुष के लिये इस नीति को अपनाना आवश्यक है कि अपनी बुराइयों को कम करे, साथी के साथ मधुरता उदारता और सहन शीलता का आत्मीयतामय व्यवहार करे, साथ ही उसकी बुराइयों को कम करने के लिए धैर्य, दृढ़ता और चतुरता के साथ प्रयत्न शील रहे। इस मार्ग पर चलने से असंतुष्ट दाम्पत्य जीवनों में संतोष की मात्रा बढ़ेगी और सतुष्ट दम्पति स्वर्गीय जीवन का आनन्द उपलब्ध करेंगे।

विवाहित जीवन में ब्रह्मचर्य का पालन

अविवाहित रह कर ब्रह्मचर्य का पालन करने के समान, विवाहित होते हुए भी ब्रह्मचर्य पालन करना सम्भव है, वरन् बहुत हद तक सुगम भी है। जो लोग विवाहित हैं उन्हे समझना चाहिये कि—पत्नी गृहस्थ धर्म का मूल है। उसे कामोपभोग की सामिग्री या ब्रह्मचर्य का विघ्न समझना भूल है।

साधारणतया पत्नी से दूर रहने से नारी जाति के प्रति वासनामय विचारों की सृष्टि होती है। दूरी में सदैव एक आकर्षण रहता है जो समीपता में नष्ट हो जाता है। जिन्हे दाम्पत्य जीवन अप्राप्य है उन्हें वह अप्राप्य वस्तु बड़ी आकर्षक और सरस दीखती है और उसकी प्राप्ति के लिए उनके मनः क्षेत्र में बड़ी घुड़दौड़ मचती रहती है। किन्तु जो पति-पत्नी साथ-साथ रहते हैं वे यदि चाहे तो स्वाभाविक और सरल जीवन व्यतीत करते हुए उन विकारमय विचारों से सहज ही बच सकते हैं।

जब तक परीक्षा की कसौटी न हो तब तक यह नहीं जाना जा सकता कि किस की साधना किस हद तक परिपक्व हो चुकी है। जो लोग अविवाहित रह कर ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उनकी निष्ठा किस हद तक परिपक्व हो चुकी है इसका ठीक प्रकार पता नहीं चलता। वे प्रलोभन के समय फिसल सकते हैं। परन्तु जो प्रलोभन से नित्य संघर्ष करते है उन्हें पता रहता है कि वे कितने संयमशील हो चुके हैं। साधन सामने रहते हुए जो त्याग कर सकता है उसी का त्याग परीक्षित है। अभाव को त्याग मान कर सन्तोष कर लेना, एक कच्चा आधार ही रहता है।

पति-पत्नी यदि वासना पर विजय प्राप्त करते हुए संयमशील जीवन बितावें तो वासना के स्थान पर एक अत्यन्त शक्तिशाली आध्यात्मिक तत्व का अविर्भाव होता है जिसे 'पतिव्रत' कहते है। यह तत्व दाम्पत्य जीवन की पूर्णता, पारिवारिक सुव्यवस्था, उत्तम संतति एवं आत्म शांति के लिये बहुत ही उपयोगी एव आवश्यक होता है। यह तत्व मानव जीवन की एक अपूर्णता को पूरा कर देता है।

द्वैत को मिटाये विना, अद्वैत ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। स्त्री से दूर रहने वाला; उससे घृणा करने वाला व्यक्ति, उसे अपने से भिन्न एवं विपरीत मानता है ऐसी दशा में उसकी द्वैत बुद्धि मजबूत होती जाती है और उसे अद्वैत ब्रह्म की प्राप्ति मे भारी बाधा दिखाई देती है। अद्वैत की प्राप्ति के लिए अपनी पत्नी (अर्धाङ्गिनी) को अभिन्न मानने की आवश्यकता है। जैसे अपने ही सौन्दर्य पर कोई मोहित नहीं होता, जैसे अपने आपसे स्वयं ही वासना पूर्ति करने के भाव नहीं आते वैसे ही यदि पत्नी को अभिन्न मान लिया जाय तो वह बाधा सहज ही दूर हो जाती है, जिसके भय से ब्रह्मचारी लोग दूर-दूर भागते फिरते हैं। अपनी अर्धाङ्गिनी को आत्मरूप समझना अद्वैत तत्व की प्रार-

म्भिक साधना है। इसमें परीक्षित हो जाना पर आत्म-भावना का विश्वव्यापी विस्तार करना सुगम होता है।

शुद्ध 'प्रेम' को परमात्मा का प्रत्यक्ष रूप कहा है। यह प्रेम नर-नारी के पवित्र मिलन से सुगमता पूर्वक और अधिक मात्रा में उत्पन्न होता है। माता का पुत्र में, बहिन-भाई में, पति-पत्नी में जितने विशुद्ध प्रेम का उद्रेक होता है, उतना पुरुष-पुरुष में या स्त्री-स्त्री में नहीं होता। प्रकृति ने उभय लिंग के प्राणियों के सम्मिलन में एक सहज प्रेम धारा छिपा रखी है। यदि उसे स्वार्थ-परता या वासना से दूषित न किया जाय जो प्रकृति प्रदत्त एक स्वर्गीय निर्झरिणी के अमृत जल का रसास्वादन हर आत्मा कर सकती है। यह समझना भारी अज्ञान है कि काम सेवन से ही दाम्पत्य प्रेम बढ़ता है। सच बात तो यह है कि संयमी आत्मा ही 'प्रेम' को उत्पन्न कर सकती है और उसके रसास्वादन का आनन्द ले सकती हैं।

काम को 'मनसिज' कहा है। यह विकार मन में उत्पन्न होता है और यहीं से संहार लीला प्रारम्भ करता है। मन से यदि काम चिंतन करते रहा जाय और शरीर से ब्रह्मचर्य रखा जाय तो उसका कोई विशेष लाभ न होगा क्योंकि मन में उत्पन्न होने वाली वासना से मानसिक व्यभिचार होता रहेगा और आत्मिक बल सञ्चय न हो सकेगा। उसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति साधारण ग्रहस्थ धर्म का पालन करता है और मनसे निर्विकार रहता है तो उसका थोडा-सा शारीरिक स्खलन उतना हानिकारक नहीं होता, जितना कि अविवाहित का मानसिक उद्वेग। यों शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार का संयम रखा जाय तो सर्वोत्तम है।

'अर्धाङ्गिनी' और 'धर्मपत्नी' यह दोनो ही शब्द आत्मिक पूर्णता और धर्म प्रतिपालन के अर्थ बोधक हैं। पत्नी इन दोनों

कार्यों में सहायक होती है, इसलिये उसे अभिन्न अंग एवं जीवन सहचरी माना है। कामिनी, रमणी, रूपसि आदि की विकार ग्रस्त दृष्टि स्त्री के प्रति रखना नारी जाति के प्रति अपराध एवं अपमान व्यक्त करना है। स्वाभाविक एवं सरल दृष्टिकोण अपनाकर नारी को एक सच्चा साथी, मित्र एवं आत्म-भाग माना जाय तो उससे जिस प्रकार सांसारिक जीवन में सुविधा मिलती है, वैसे ही आत्म कल्याण के मार्ग में भी भारी सहयोग मिल सकता है। स्त्री ब्रह्मचर्य की बाधा नहीं। वह असंयम के विकारों को अनियंत्रित नहीं होने देती, और मनुष्य को सुसंयत जीवन व्यतीत करने में सहायता प्रदान करती है।

पत्नी का सदैव सम्मान कीजिए

बहुत से व्यक्ति अपने को स्त्री से बड़ा समझ कर अथवा लापरवाही से अपनी पत्नियों के साथ शिष्टता का व्यवहार करना अनावश्यक समझते हैं। पर यह एक बड़ी भूल है। जो लोग अपने दाम्पत्य-जीवन को सफल बनाने के इच्छुक हों उनको सदैव अपनी पत्नी के प्रति सम्मानयुक्त व्यवहार और वार्तालाप करना चाहिये। जो पुरुष अकारण उनसे कठोर व्यवहार करते हैं, अपनी आश्रित समझ कर तिरस्कार करते हैं, उनकी वेइज्जती करते रहते हैं, वे अ-शील हैं। गुप्त मन में उनकी स्त्रियाँ उन्हें दुष्ट राक्षस-तुल्य समझती हैं। ऐसा प्रसग ही मत आने दीजिए कि नारीको मारने-पीटनेका अवसर आये। उसे अपने आचार व्यवहार, प्रेम भरे सम्बोधन से पूर्ण सन्तुष्ट रखिये।

पत्नी की भावनाओं की रक्षा, उसके गुणों का आदर, उसके शील, लज्जा, व्यवहार की प्रशंसा मधुर सम्बन्धों का मूल रहस्य है। पत्नी आपकी जीवन सहचरी है। अपने सद्व्यवहार से उसे तृप्त रखिये।

पत्नी, पति की प्राण है, पुरुष की अर्धाङ्गिनी है, पत्नी

से बढ़कर कोई दूसरा मित्र नहीं, पत्नी तीनों फलों--धर्म, अर्थ, काम, को प्रदान करने वाली है और पत्नी संसार सागर को पार करने में सबसे बड़ी सहायिका है। फिर, किस मुँह से आप उसका तिरस्कार करते हैं ?

उससे मधुर वाणी में बोलिये। आपके मुँह पर मधुर मुसकान हो, हृदय मे सच्चा निष्कपट प्रेम हो, वचनों में नम्रता, मृदुलता, सरलता, प्यार हो। स्मरण रखिये, स्त्रियों का "अहं" बड़ा तेज होता है, वे स्वाभिमानिनी, आत्माभिमानी होती हैं। तनिक-सी अशिष्टता, या फूहड़पन से क्रुद्ध होकर आपके सम्बन्ध मे घृणित धारणाएँ बना लेती हैं। उनकी छोटी-मोटी मांगों या फरमाइशों की अवहेलना या अवज्ञा न करें। इसमें बड़े सावधान रहें। जो स्त्री एक छोटे से उपहार से प्रसन्न होकर आपकी दासता और गुलामी करने को प्रस्तुत रहती है, उसके लिये सब कुछ करना चाहिये। अतः पत्नी का आदर करें, उसके सम्बन्ध में कभी कोई अपमान सूचक बातें मुँह से न निकालें और उनकी उपस्थिति मे या अनुपस्थिति में उनकी हँसी न करें।

स्त्रियोचित शिक्षा की आवश्यकता

पत्नियों को वास्तविक अर्थ में गृह-लक्ष्मी बनाने के लिये उपयुक्त शिक्षा की बड़ी आवश्यकता है। शिक्षा के प्रभाव से ही मनुष्य का मस्तिष्क और मन विकसित होता है और वह अपने कर्तव्यों को पूरा करने योग्य बन सकता है। जीवन सङ्घर्ष में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का सम्पर्क अधिक होता है। पुरुष का काम तो कमाई के क्षेत्र तक ही सीमित है लेकिन स्त्रियां तो समाज का निर्माण करती हैं इसलिये यदि स्त्रियों की वास्तविक शिक्षा न हुई तो समाज में अशान्ति का वातावरण फैलना स्वा-

भाविक है। इसलिये पुरुषों की शिक्षा की अपेक्षा स्त्रियों की शिक्षा का महत्व अधिक है।

नारी को यदि रमणी बनाना हो तो कल्पना मूलक शिक्षा की आवश्यकता है। लेकिन नारी का चरम लक्ष्य मां बनना है। नारी समाज की निर्माता है, समाज मे भाई, पिता, पुत्र और बहिन, पत्नी, पुत्री रहते हैं। इसलिए घर में रहते हुए इन सबके यथायोग्य निर्माणका काम नारी को करना है। क्योंकि ये सबही आगे जाकर समाज के सदस्य बनेंगे और समाज संगठन में इनका व्यापक हाथ रहेगा, इसलिए यदि इनमें पिता, पुत्र, भाई, बहिन, माँ और पत्नी की कर्तव्य मूलक भावना जाग्रत होगी तो यह दुनियां थोड़े दिनों मे ही नन्दनवन बनकर चारों ओर शान्ति का प्रवाह प्रवाहित कर सकेगी।

बालपन की जिन्दगी पराश्रित जिन्दगी होती है, इसमें उसके सिर पर किसी प्रकार की जिम्मेदारी नहीं होती यहॉ तक कि खाना और खेलना ये ही दो काम रहते है। लेकिन जीवन मे बालपन ही नहीं रहता, जवानी भी आती है और बुढ़ापा भी आता है। ऐसा समय भी आता है, जब कि जीवन की शक्तियाँ विकसित होती हैं और जवाब भी दे जाती हैं। इसलिए जो शिक्षा शक्तियों का व्यावहारिक उपयोग करना सिखाती है, जीवन के सङ्घर्ष में विजय दिलाती है, वही जीवन में निर्माण और शान्ति का कारण होती है।

आजकल स्त्रियों को जो शिक्षा दी जाती है, उससे भावनाओं और वासनाओं को तो उत्तेजन मिलता है लेकिन कर्मठता एवं कर्तव्य के लिये कोई स्थान नहीं होता। इसका परिणाम यह निकल रहा है कि पढ़ी लिखी लड़कियॉ स्कूल तथा कालेजों से एक इस प्रकार के कल्पनामय जगतको लेकर बाहर आती हैं जिसका निर्माण करना उन्हे नहीं सिखाया गया है। जिन्हे यदि कुछ

सिखाया गया है तो उपभोग करना। बिना निर्माण किये उपभोग के लिए स्थान ही कहाँ हो सकता है। लेकिन उन्हें इसका ज्ञान ही नहीं होता। परसी हुई पातर पर खाने की कल्पना के कारण जब उन्हें परसी हुई पत्तल नहीं मिलती तो वे बौखला उठती हैं और अपनी जिम्मेदारियों से बचती हुई अपने लिये दुःखों की अजेय सुदृढ़ दीवार खड़ी कर लेती हैं।

अनेक शिक्षित स्त्रियाँ विवाह-बन्धन से बचना चाहती हैं। विवाह को वे पुरुष के अधीन होना मानती है,जबकि किसी के अधीन होकर रहना उन्हें सिखाया ही नहीं जाता। लेकिन भारतीय वातावरण में बिना विवाह किये रहना सम्भव नहीं है इसलिये जबरदस्ती विवाह के फन्दे में फँस जाने के कारण जीवन भर उनमें छटपटाहट भरी रहती है। आनन्द के स्रोत विवाहित जीवन को वे दुःख से भर डालती हैं और जिस घर को स्वर्ग बनाकर जहां अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहिये वहाँ कल्पना जगत मे विचरण करने के कारण उस घर को नरक बना देती है। साथ ही जीवन भर तड़फते-तड़फते अपनी जीवन लीला समाप्त कर डालती है।

धर्म शास्त्रों और विज्ञजनों का यह कथन पूर्णतया सत्य है कि गृहस्थ-जीवन का, और इस दृष्टि से मनुष्य-समाज का सुचारु रूप से संचालन, सद्गुणी पत्नियों पर ही आधार रखता है। इसलिये स्त्रियों को सुयोग्य गृहिणी बनाना, और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उनको उचित साधन और अधिकार देना हमारा परम कर्तव्य है। समाज का कल्याण मुख्य रूप से कर्तव्य परायण पत्नियों पर ही निर्भर है।

मुद्रक—हरीहर इलैक्ट्रिक मशीन प्रेस, मथुरा।

जीवन को सुख-शान्तिमय बनाने वाला साहित्य

(मूल्य प्रत्येक पुस्तक का छः-छः आना है)

१-सूर्यचिकित्सा विज्ञान २-प्राणचिकित्सा विज्ञान ३-स्वस्थ बनने की विद्या ४-भोग में योग ५-बुद्धि बढ़ाने के उपाय ६-आसन और प्राणायाम ७-तुलसी के अमृतोपम गुण ८-महान जागरण ९-तुम महान हो १०-घरेलू चिकित्सा ११-दीर्घ जीवनके रहस्य १२-नेत्रों की प्राकृतिक चिकित्सा १३-स्वप्न दोष की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा १४-दूधकी आश्चर्यजनक शक्ति १५-उन्नति का मूलमन्त्र ब्रह्मचर्य १६-उपवासके चमत्कार १७-स्त्री रोग चिकित्सा १९-बालरोग चिकित्सा २०-कब्ज की चिकित्सा २१-निरोग जीवन का राजमार्ग २२-चिरस्थाई यौवन २३-सौन्दर्य बढ़ाने के ठोस उपाय २४-मनुष्य शरीर की बिजली के चमत्कार २५-पुत्र-पुत्री उत्पन्न करने की विधि २५-हमारी पारिवारिक समस्याएँ २६-मन चाही सन्तान २७-दाम्पत्ति जीवन का सुख २८-हमारी आन्तरिक शत्रु २९-क्याखायें ? क्योंखायें ? कैसेखायें ? ३०-हमारे सभ्यताके कलङ्क ३१-धनवान बनने के गुप्त रहस्य ३२-मरने के बाद हमारा क्या होता है ? ३३-मित्रभाव बढ़ानेकी कला ३४-आकृति देखकर मनुष्य की पहिचान ३५-हमें स्वप्न क्यों दीखते हैं ? ३६-विचार करने की कला ३७-हम वक्ता कैसे बन सकते हैं ? ३८-सफलताके तीन साधन ३९-जिंदगी कैसे जिएँ ४०-प्रसिद्धि और समृद्धि ४१-ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ? ४२-क्या धर्म ? क्या अधर्म ? ४३-ईश्वर और स्वर्ग प्राप्ति का सच्चा मार्ग ४४ भारतीय संस्कृति का बीज मंत्र यज्ञोपवीत ४५-यज्ञोपवीत द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति ४६-मैं क्या हूँ ? ४७-वशीकरण की सच्ची सिद्धि ४८-ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग।

'अखण्ड-ज्योति' प्रेस, मथुरा।

आत्म बल बढ़ाने वाला अमूल्य साहित्य

१.	गायत्री महाविज्ञान (प्रथम भाग)	३॥)
२.	गायत्री महाविज्ञान (द्वितीय भाग)	३॥)
३.	गायत्री महाविज्ञान (तृतीय भाग)	३॥)
४.	गायत्री यज्ञ विधान (प्रथम भाग)	२)
५.	गायत्री यज्ञ विधान (द्वितीय भाग)	२)
६.	गायत्री चित्रावली (प्रथम भाग)	१॥)
७.	गायत्री चित्रावली (द्वितीय भाग)	२)
८.	गायत्री का मन्त्रार्थ	१॥)
९.	सूक्त संहिता	१॥)
१०.	वेदों की स्वर्णिम सूक्तियाँ	।=)
११.	संस्कार पद्धति	२॥)
१२.	भारतीय संस्कृति की रूप-रेखा	२)
१३.	व्रत और त्यौहार	१)
१४.	संक्षिप्त रामायण	॥)
१५.	प्रेरणाप्रद दृष्टान्त	२)
१६.	सरल चिकित्सा विज्ञान	२)
१७.	कल्प चिकित्सा	२)
१८.	गायत्री पुस्तकालय सैट (५२ पुस्तकें)	१३)

घर घर गायत्री ज्ञान-मन्दिर (गायत्री पुस्तकालय) स्थापित करने के लिये ।) मूल्य की ५२ अत्यन्त सुन्दर, सस्ती, बढ़िया ग्लेज कागज पर तिरंगे सुन्दर टाइटिलों की ५२ पुस्तकें छापी गई हैं। इनमें से २६ गायत्री साधना एवं विज्ञान सम्बन्धी और २६ में गायत्री-मन्त्र के एक-एक अक्षर में सन्निहित पूर्ण धर्म-शिक्षाओं का दिग्दर्शन कराया गया है।

६) से अधिक की पुस्तकें लेने पर डाक खर्च माफ।

पता—"अखण्ड-ज्योति" प्रेस, मथुरा।

प्रकृति का अनुसरण

ज्योति प्रेस

लेखक—
श्रीराम शर्मा आचार्य
गायत्री तपोभूमि, मथुरा।

ॐ भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि
धियो योनः प्रचोदयात्।

प्रकाशक—
"अखण्ड ज्योति" प्रेस, मथुरा

प्रथम वार] सन् १६५८ [मूल्य

प्रकृति का अनुसरण

गायत्री का आठवां अक्षर 'ण्य' प्रकृति के सहचर्य में रह कर तदनुकूल जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देता है—

न्यस्यन्ते ये नराः पादान् प्रकृत्याज्ञानुसारतः।
स्वस्थाः सन्तुस्तु ते नूनं रोगमुक्ता भवन्ति हि॥

अर्थात्—"जो मनुष्य प्रकृति के नियमानुसार आहार-विहार रखते हैं वे रोगों से मुक्त रह कर स्वस्थ जीवन को बिताते हैं।"

स्वास्थ्य को ठीक रखने और बढ़ाने का राजमार्ग प्रकृति के आदेशानुसार चलना, प्राकृतिक आहार-विहार को अपनाना, प्राकृतिक जीवन व्यतीत करना है। अप्राकृतिक, अस्वाभाविक, कृत्रिम, आडम्बर और विलासितापूर्ण जीवन बिताने से लोग बीमार बनते है और अल्पायु में ही काल के ग्रास बन जाते हैं।

मनुष्य के सिवाय सभी जीवजन्तु, पशु-पक्षी प्रकृति के नियमों का आचरण करते हैं। फल स्वरूप न उन्हें तरह-तरह की बीमारियाँ होती हैं और न वैद्य डाक्टरों की जरूरत पड़ती है। जो पशु-पक्षी मनुष्यों द्वारा पाले जाते हैं और अप्राकृतिक आहार-विहार के लिये विवश होते है वे भी बीमार पड़ जाते हैं और उनके लिए पशु चिकित्सालय खोले गये हैं। परन्तु स्वतन्त्र रूप से जङ्गलों और मैदानों में रहने वाले पशु-पक्षियों में कहीं बीमारी और कमजोरी का नाम भी नहीं दिखाई पड़ता। इतना ही नहीं किसी दुर्घटनावश अथवा आपस की लड़ाई में घायल और अध-मरे हो जाने पर भी वे स्वयं ही चङ्गे हो जाते हैं। प्रकृति की

आज्ञा पालन स्वस्थ्य का सर्वोत्तम नियम है।

प्राकृतिक जीवन स्वास्थ्य का मूलमन्त्र है।

पृथ्वी पर रहने वाले पशुओं का अध्ययन कीजिये। गाय, भैंस, वकरी, भेड़, घोड़ा, कुत्ता, विल्ली, ऊँट इत्यादि जानवर अधिकतर प्रकृति के साहचर्य में रहते है, उनका भोजन सरल और स्वाभाविक रहता है, खान-पान तथा विहार में संयम रहता है। घास या पेड़ पौधों की हरी ताजी पत्तियाँ या फल इत्यादि उनकी क्षुधा निवारण करते हैं, सरिताओं और तालावों के जल से वे अपनी तृपा निवारण करते हैं, ऋतु काल मे विहार करते है। प्रकृति स्वयं उन्हें काल और ऋतु के अनुसार कुछ गुप्त आदेश दिया करती है, उनकी स्वयं-वृत्तियाँ उन्हें आरोग्य की ओर अग्रसर करती रहती हैं। उन्हें ठीक मार्ग पर रखने वाली प्रकृति माता ही है। यदि कभी किसी कारण से वे अस्वस्थ हो भी जांय, तो प्रकृति स्वयं अपने आप उनका उपचार भी करने लगती है। कभी पेट के विश्राम द्वारा, कभी धूप, मालिश, रगड़, मिट्टी के प्रयोग, उपवास द्वारा, कभी ब्रह्मचर्य द्वारा, किसी न किसी प्रकार जीव-जन्तु स्वयं ही स्वास्थ्य की ओर जाया करते है।

पक्षियों को देखिये। संसार में असंख्य पक्षी हैं। हम उन्हें इधर-उधर पेड़ पौधों पर उड़ता, फुदकता, चहकता, आनन्द मंगल करता देखते हैं, उनका मधुर गुञ्जन हमारे हृदय सरोवर को तरङ्गित कर देता है। उनका रङ्ग, भाव भगी, शरीर की बनावट हमारे मन को मोह लेती है। कौन इन्हे इतना सुन्दर, फुर्तीला सुरीला रखता है? कौन इनके स्वास्थ्य की खैर खबर रखता है? कौन इन्हें आरोग्य के सम्बन्ध में पाठ पढ़ाता है? और जब ये वीमार पड़ते हैं, तो कौन इन की दवा-दारू करता है? हमने

पक्षियों को बीमारी से अकाल में मरते नहीं देखा। अधिकांश को अन्य पक्षी या मनुष्य मार कर खाते है। वे स्वयं अपनी मूर्खता से बीमारी बुला कर बहुत कम मरते हैं। उनमें पूर्ण स्वस्थ्य रहने और आरोग्य का मधुर आनन्द लाभ करने की सामर्थ्य है। प्रकृति उनके शरीर की रक्षा करती है स्वयं शरीर के अन्दर एकत्रित हो जाने वाले विषों को निकालने का प्रयत्न करती है, शरीर के सवंर्धन का पूरा-पूरा विधान रखती है। वही उनका डाक्टर, हकीम या वैद्य है।

प्रकृति मे प्रचुरता है, हर प्रकार की प्रचुरता है। आनन्द स्वास्थ्य, आरोग्य की इतनी अधिकता है कि हम उसकी सीमा बन्धन नहीं कर सकते। स्वास्थ्य की उस अधिकता के कारण ही प्रकृति के अनेक पशु-पक्षी जीव-जन्तु जीवन का आनन्द लेते हैं, जल, वायु, प्रकाश, भोजन से जीवन तत्व खींचकर वे दीर्घ जीवन के सुख लूटते हैं।

प्रकृति के कण-कण में, पत्तियों, फलों, पौधों तथा जल की प्रत्येक बूँद में आरोग्य भरा हुआ है। वायु के प्रत्येक अंश को, जिसे हम अन्दर खींचते हैं, जल के प्रत्येक घूँट में, जिसे हम पीते हैं, फल और तरकारियो के कण-कण मे स्वास्थ्य और बल हमारे लिये संचित है। प्रकृति के पास जीवन को सर्वाङ्ग-रूप से स्वस्थ्य रखने के लिए सभी उपकरण है।

प्रकृति में वैचित्र्य है। अपने २ स्वभाव, रुचि, काल, अवस्था परिस्थिति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति, जीव-जन्तु, पक्षी प्रकृति से जीवन-शक्ति खींचता है, उसके द्वारा जैसा भी शरीर उसे मिला है, उसे स्वस्थ और सुन्दर बनाता है, अपनी समस्त शक्तियों को कार्यशील रखता है। प्रकृति के भण्डार में सभी कुछ है। शहद जैसा मधुर पदार्थ क्या कभी मनुष्य बना सकता था? दुग्ध जैसा अमृत-सदृश्य पदार्थ क्या किसी रासायनिक

लैब्रेटरी में तैयार किया जा सकता था ? मेवे, फल, तरकारियाँ, गन्ना, प्रकृति ने इस प्रचुरता से उत्पन्न किये हैं कि प्रत्येक जीव को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उचित मात्रा में ये भोजन के पदार्थ उपलब्ध हो जाते हैं। सर्प अपना विष एकत्रित करता है, मधुमक्खी शहद जुटाती है, नीबू खटाई के तत्व पृथ्वी से खींचना है तो करेला कड़ुवाहट एकत्रित करता है। प्रकृति में षट-रस का विधान है। इन षट-रसों में जो जिसे रुचे वह उसी से अपना स्वास्थ्य स्थिर रखता है।

प्रकृति मे किसी भी लक्ष्य की पूर्ति के लिए सभी साधन विद्यमान हैं। आपको वाह्य उपचारों की आवश्यकता नहीं। आप जैसा भी काम करना चाहें उसके लिए सभी उपकरण एकत्रित कर सकते हैं। भाँति २ की जड़ी बूटियाँ, पौष्टिक पदार्थ, अमृतोपम दिव्य पदार्थ हमारे लिए संचित है। मिट्टी से लेकर धूप, जल, वायु, सूर्य-किरण इत्यादि तक को यह शक्ति दी गई है कि वे हमारे शरीर को सबल और स्वस्थ्य बना सकें।

प्राकृतिक सौंदर्य

प्रकृति में वास्तविक सुन्दरता है। आजकल के फैशन के भार से युक्त पुरुष या स्त्री को लोग सुन्दर समझते हैं उसकी प्रशंसा करते नहीं थकते। यह भ्रम-मात्र है। वास्तविक सौंदर्य तो पूर्ण रूप से विकसित परिपुष्ट और स्वस्थ शरीर मे है। प्रत्येक पुट्ठे और मांसपेशी में स्वाभाविक सौंदर्य है। जिस युवक या युवती के शरीर में लाल २ रक्त प्रवाहित होता है, जिसके शरीर में स्वाभाविक लालिमा वर्तमान है जिनका डीलडौल संतुलित है, न कोई अङ्ग पतला है, न कोई मोटा, न वादी न चर्वीयुक्त, न पेट ही वढ़ा हुआ है, नेत्र सुन्दर और चमकदार हैं, त्वचा कोमल और लाल है, फेफड़े परिश्रम सहन कर लेते हैं और गहरी नींद

और आराम देते हैं, शुद्ध जल से (सोडालेमन शराब चाय शरबत से नहीं) जिनकी प्यास शान्त हो जाती है, चूरण-चटनी पर जिनकी जिह्वा नहीं लपलपाती, जिनके स्वभाव में न चिड़-चिड़ापन है, न क्रोध, उतावलापन, उदासी या निरुत्साह है, ऐसे स्वस्थ मनुष्य को ही पूर्ण सुन्दर कहना युक्तिसंगत है।

एक प्रकृतिप्रेमी के शब्दों में "मोर के नीले हरे पंख, सिंह की अयाल, बारहसिंहा के उलझे हुए लम्बे सींग, सांड के चौड़े कंधे, मुर्गे की कलंगी, साँप का चौड़ा फन, बिलाव की लम्बी मूँछ को सुन्दर मानने से कौन इनकार कर सकता है ? पशु-पक्षियों में सारी सुन्दरता नर-वर्ग को मिली है। प्रकृति ने जहाँ नर वर्ग को सुन्दरता प्रदान की वहाँ शक्ति भी दी। वस्तुतः पुरुष का सौंदर्य उसकी शक्ति में निहित है। उसका सौंदर्य उसकी शक्ति द्वारा प्रस्फुटित होता है।"

पुरुष हो या स्त्री—यदि वह पूर्ण स्वस्थ और सुन्दर बना रहता चाहता है, या कुरूप से सुरूप होना चाहता है तो उसे प्रकृति का आश्रय ग्रहण करना होगा। प्रकृति के नियमों का पालन करना होगा। व्यायाम और प्राकृतिक भोजन के द्वारा, शरीर की प्रत्येक मांस पेशी को संतुलित रूप में विकसित करना होगा, शक्ति का अर्जन करना होगा—तभी हम सुन्दर बन सकेंगे। प्रकृति में ही वास्तविक सुन्दरता विद्यमान है।

चेहरे पर लाल रङ्ग, पाउडर, क्रीम पोतने से क्या लाभ ? वह तो पानी से धुल जायगा। यदि शरीर मे मांस, स्वस्थ रक्त, उत्तम स्वास्थ्य और आरोग्य नहीं तो उसे रेशमी कपड़ों या आभूषणों से अलंकृत करने से क्या सौंदर्य प्राप्त हो सकेगा ?

वास्तविक सौंदर्य, जो चिरस्थायी है, जिसमें ईश्वरत्व प्रकट होता है, वह प्राकृतिक सौंदर्य ही है।

प्रकृति हमारी भूलें सुधारती है।

हमारे शरीर की रचना ही कुछ ऐसी बनाई गई है कि प्रकृति अवांछनीय विजातीय द्रव्यों, संचित विषों, गंदी वस्तुओं या विषैले पदार्थों को भिन्न-भिन्न द्वारों से निकालकर बाहर करती रहती है। हमारी छोटी-मोटी भूलों—जैसे खान पान का असंयम, अत्यधिक थकान, चलते-फिरते, उठते-बैठते जीवन शक्तियों की न्यूनता—इत्यादि को प्रकृति स्वयं दुरुस्त करती है और प्रायः प्रकृति के इस उपयोगी कार्य का हमें पता भी नहीं चलता। सृष्टि के सभी जीव-जन्तु इन्हीं प्राकृतिक क्रियाओं से स्वस्थ रहते हैं। प्रकृति ने प्रत्येक शरीर में ऐसे २ गुप्त द्वार रक्खे हैं जिनके द्वारा विषैले पदार्थ स्वयं निकलते रहते हैं और हमारी आकृति में यथोचित सुन्दरता को अक्षुण्ण रखते हैं। यदि प्रकृति इस महान् कार्य को अपने आप स्वाभाविक गति से सम्पन्न न करती, तो हमारे शरीर बेढंगे हो जाते, अङ्गों में भद्दापन और विषमता उत्पन्न हो जाती, हम लोग रोज ही अपचन, कब्ज, स्थूलता, सूजन, फोड़े फुन्सी, गठिया, प्रमाद, सिर दर्द या अन्य ऐसे ही छोटे-मोटे रोगों के शिकार रहा करते। भाग्यवश ऐसा नहीं है। हमारे शरीर के अन्दर व्याप्त प्रकृति इन विषैले पदार्थों से निरंतर सङ्घर्ष करती रहती है, अनावश्यक पदार्थों को शरीर में ठहरने नहीं देती, और हमारे साधारण शारीरिक विकारों को दुरुस्त करती है।

प्राकृतिक रूप से स्वस्थ मनुष्य की पहिचान

प्रकृति ने मनुष्य को विश्व का सबसे सुन्दर, शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक शक्तियों से सम्पन्न, स्वस्थ, सशक्त,

सुडौल, दीर्घजीवी प्राणी बनाया है। आरोग्य और उत्तम स्वास्थ्य का मार्ग उसने बड़ा सरल और सीधा रक्खा है। मनुष्य तो क्या अल्पबुद्धि वाले पशुपक्षी भी उसे भली भांति समझ सकते हैं। प्राकृतिक जीवन की आधारशिला क्या है, इसके लिए कुछ ज्ञातव्य बातें यहां दी जाती हैं—

(१) डीलडौल—स्वस्थ मनुष्य का आकार संतुलित होना चाहिए। कद काफी ऊँचा हो, न शरीर पतला-दुबला अस्थिपिंजरवत् हो, न भारी भरकम मांस से लटकता हुआ, पोपला हो। प्रत्युत संतुलित रूप से प्रत्येक अंग विकसित हो, शरीर की मशीन का प्रत्येक कलपुर्जा ठीक काम करता हो। प्रशस्त उन्नत ललाट, चमकदार नेत्र, माथे व गालों पर स्वाभाविक रक्त की लालिमा हो, सिकुड़न का नाम तक न हो। पांव व जांघ मजबूत और शरीर का भार वहन कर सकने वाली हों। शरीर श्रम व मौसम के परिवर्तनों को सम्हाल सके, रोग से लड़ सके, आमाशय अपना कार्य उचित रीति से करता रहे।

(२) आन्तरिक अवस्था-पाचन क्रिया अपना कार्य ठीक से करे, शुद्ध लाल खून निर्मित हो, शरीर से मल-विसर्जन कार्य अपनी स्वाभाविक गति से होता रहे। जो भोजन खाया जाय, वह शरीर को परिपुष्ट एवं स्वस्थ रक्खे, अपच या दस्त से निकल न जाय। कभी अपच, कभी कब्ज, दस्त, पेट दर्द इत्यादि न हों। खाया हुआ भोजन चार पाँच घण्टे में पच जाय। खाना खाते समय रुचि एवं स्वाद स्वास्थ्य के सूचक हैं। भोजन के उपरान्त आलस्य या नींद नहीं आनी चाहिए। चटपटी चीजों पर मन न चले, साधारण भोजन में ही मजा आये।

(३) हृदय तथा फेफड़े—शरीर के दो महत्वपूर्ण अंग हृदय तथा फेफड़े हैं। स्वस्थ मनुष्य में ये दोनों ही बड़े मजबूत होने अनिवार्य हैं। तेज भागने में आप हांप न जाँय, मुख

में से श्वास न लेने लगें यह स्वस्थ फेफड़ों की पहचान है। सुपुप्तावस्था में मुंह से श्वास लेने की आदत कमजोर फेफड़ों की निशानी है। स्वस्थ फेफड़े बाहर से स्वच्छ वायु अन्दर लेकर रक्त की सफाई मे सहायता करते हैं और अशुद्ध वायु को वाहर निकाल देते हैं। हृदय दूषित रक्त की सफाई निरंतर किया करता है। स्वस्थ फेफड़े और मजबूत हृदय मनुष्य को परिश्रमी और स्वस्थ वनाते हैं।

(४) मल-विसर्जन कार्य—शरीर में जो कूड़ा करकट या गंदगी एकत्रित होती रहती है, उसे निकालने के लिए प्रकृति ने कई द्वार वना रक्खे हैं। मलमार्ग, मूत्रमार्ग, यकृत्, त्वचा, फेफड़ों के अतिरिक्त हमारे नेत्र और कान भी स्वास्थ्य के शत्रु, शरीर के अंग प्रत्यंगों में उत्पन्न हुए विकारों को निकाला करते हैं। जब तक हमारे शरीर के ये विकार स्वाभाविक गति से स्वयं वाहर न निकलते रहें, तव तक हम अपनी मल-विसर्जन इन्द्रियां को स्वस्थ नहीं कह सकते।

यदि मल विसर्जन कार्य में किसी भी प्रकार की पीड़ा होती है, तो आप स्वस्थ नहीं हैं। यदि मल या मूत्र के साथ रक्त आता है, तो उसके दो कारण हो सकते हैं (१) या तो शरीर के उस भाग मे कुछ चोट घाव या सूजन आ गई है, अथवा (२) आन्तरिक रूप से कुछ विकार हो गया है। मलमूत्र करने के पश्चात् एक प्रकार से शान्ति होनी चाहिए। यदि रक्त या पीव आवें; मल मार्ग से कीड़े आवें तो आन्तरिक विकारों के सूचक हैं।

(५) मानसिक स्थिति—स्वस्थ्य मनुष्य मधुर, तृप्त और उत्साही ही होता है, चिंताएँ उसे नहीं सतातीं चिड़चिड़ापन क्रोध, उतावलापन, उदासी, निरुत्साह, ये सब शरीर में संचित नाना प्रकार के विकारों के द्योतक है। अशान्त चित्त, अशुद्ध

विचारों से मुक्त मन, अतृप्त काम वासना से भरा हुआ अन्तः-करण मानसिक विक्षुब्धता के प्रतीक हैं।

अहंकार एक प्रकार की मानसिक बीमारी है, चित्त की व्यग्रता अतृप्त वासनाएँ, विघ्नबाधाओं से मिथ्या डर, कुत्सित कल्पनाएँ, कायरता आदि सब गिरे हुए स्वास्थ्य की निशानी है। इसके विपरीत निर्बल शरीर में भवबाधा, भूतप्रेत के भय, विकार, काम वासनाएँ, क्रोध, ईर्षा, मोह इत्यादि भरे पड़े रहते हैं,

स्वास्थ्य से पवित्र विचार आते है, मन प्रसन्न और शुभ कल्पनाओं, मधुर विचारों से परिपूर्ण रहता है। काम मे जी लगता है, आलस्य या उदासी नहीं सताती हृदय मुसकराते हुए पुष्पों को देखकर उत्फुल्ल होता है, चमचमाते हुए तारक-वृन्द को देखकर चमचमाता है। हम प्राकृतिक दृश्यों को देखकर मोहित हो जाते है। प्राकृति का सन्देश हमें हर फूल पत्ती और पुष्प सुनाता है।

यदि आप प्रकृति के नियमों का अतिक्रमण न करें, प्रकृति के परिवार के अन्य सदस्यों की भाँति सचाई और ईमानदारी से उनका पालन करते रहें, तो स्वाभाविक रूप से आप अपनी पूरी आयु का आनन्द ले सकेंगे। प्रकृति ने आपको बहुत उच्च-कोटि का जीव बनाया है। प्रसन्नता का स्रोत आपके हृदय में प्रवाहित होना चाहिए। आनन्द से आपका निकट सम्बन्ध होना अनिवार्य है। यदि आप प्रकृति के निकट रह सकें, तो निश्चय जानिये आपका स्वभाव सदैव शान्त और गंभीर रहेगा, आपका हृदय आन्तरिक आह्लाद से भरा रहेगा, और आप जीवन का स्वर्गीय आनन्द लूट सकेंगे।

स्वामी शिवानन्दजी के शब्दों में, 'प्रकृति का स्वभाव अत्यंत कठोर और दयालु है। वह अत्यन्त न्याय प्रिय है, वह न्याय मे क्षमा नहीं करना जानती। सदाचारियों के लिए प्रकृति परम

प्यारी माता है और दुराचारियों के लिए वह पूरी राक्षसी है। वह स्वयं राक्षसी कदापि नहीं है । वह परम दयालु जगतमाता है । केवल दुराचारियों को (जो प्रकृति के नियम तोड़कर अस्वाभाविक जीवन व्यतीत करते हैं) वह राक्षसी प्रतीत होती है। दण्ड में भी प्रकृति हमें सुधारने का काम करती है। ठोकर खाने पर ही मनुष्य सावधान होता है।"

प्रकृति तत्त्व से हमारी अनभिज्ञता के दुष्परिणाम

आज दवाई का इतना प्रचार हमारे अप्राकृतिक जीवन का द्योतक है । पहिले तो हम प्रकृति के नियमों को तोड़ते हैं। जब प्रकृति हमें रोग रूप में सजा देती है, तो हम तरह-तरह की दवाइयाँ खाते हैं। इस प्रकार क्या युवक और क्या युवतियाँ रसातल के मार्ग में जारहे हैं। गुप्त रोगों, मूत्र रोगों की संख्या दिन प्रतिदिन वृद्धि पर है। हमारा भोजन अप्राकृतिक हो चला है, हमारी रहाइश अस्वाभाविक हो चली है। हम दिन में सोते रात में सिनेमा, होटलों, नाचघरों में मजेदारियाँ करते फिरते हैं। अप्राकृतिक रोशनी में पढ़ते लिखते हैं और असमय ही नेत्र रोगों से पीड़ित हो जाते हैं। अतिगर्म चाय, और अति शीतल वर्फदार शर्बत या सोडालेमन पीकर हम दन्त रोगों के शिकार बनते हैं। आज के नव्वे प्रतिशत फैशनपरस्त नवयुवक नेत्र और दन्त रोगों से पीड़ित हैं। अस्वाभाविक मैथुन, वीर्यपात, और व्यभिचार के चक्कर में फँसे हुए नवयुवकों की संख्या का पता हमें गुप्त रोगों के बढ़ते हुए विज्ञापनों और चिकित्सकों से लगता है। कलकत्ता शहर की गली-गली में स्वप्नदोष या धातुक्षय का इलाज होता है।

अप्राकृतिक रीतियों से कच्ची आयु मे वीर्यपात का दुष्परिणाम बड़ा भयंकर होता है, शरीर जर्जर होता है, युवक भी

वृद्ध-सा दीखता है । भले ही हम कितनी ही चालाकी से पाप करें किन्तु प्रकृति बड़ी सतर्कता से सब कुछ देखती है। उसके दरबार में माफी नहीं है । क्या बड़ा, क्या छोटा सभी को वह समान रूप से दण्ड देती है। उसकी आँखों को आप धोका नहीं दे सकते, प्रत्येक नीच कर्म के लिए सजा का विधान है। प्रकृति माता अपने हाथ मे डंडा लिए, तुम्हारे मर्म स्थानों पर कठोर प्रहार करने के लिए तैयार रहती है। ज्यों-ज्यो तुम वीर्य नाश करोगे, त्यों-त्यों वह तुम्हे मारते-मारते बेदम व अधमरा कर देगी। तब भी यदि न चेतोगे या सुधरोगे, तब अन्त मे तुम्हारा इन्तजार करती हुई मृत्यु की ओर तुम्हें, सड़े फल की तरह फेंक देगी तुम्हें उठाकर नर्क कुण्ड में डाल देगी।

प्रकृति और दीर्घजीवन

विश्वास रखिये प्रकृति के नियम पालन करने से रोगी से रोगी व्यक्ति पुनः स्वास्थ्य और आरोग्य प्राप्त कर सकता है, दुबले पतले जर्जरित शरीर पुनः हृष्टपुष्ट और सशक्त बन सकते हैं । जो कार्य पौष्टिक दवाइयाँ भी नहीं कर सकतीं, वह प्रकृति के नियमानुसार रहने से अनायास ही प्राप्त हो सकता है। वेदो मे निर्देश किया गया है—

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतंसमाः (यजु० ४०।२)
अर्थात् "काम करते हुए सौ वर्षतक जीवितरहने की इच्छा करनी चाहिए।"

'पश्यम शरदः शतं । जीवेम शरदः शतं' ॥
शृणुयाम शरदः शतं। प्रब्रवाम शरदः शतं ॥
अदीन. स्याम शरदः शतं । भूयश्च शरदः शतात् ॥
(यजु० ३६।२४)

"हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीवें, सौ वर्ष तक सुनें, सौ वर्ष तक बोलें, सौ वर्ष तक समृद्धिशाली रहें ।"

उपरोक्त कथन में हमारे पूर्व पुरुषों ने यह माना है कि यदि हम सचाई से प्राकृतिक नियमों का पालन करें, और उनके अनुसार प्राकृतिक जीवन व्यतीत करें, तो हमें अपनी पूरी आयु (अर्थात् सौ वर्ष) तक जीने का अधिकार है, और यदि पुरुषार्थ करें तो हमें इससे भी अधिक जीना चाहिए।

यदि प्राकृतिक जीवन अपनाया जाय तो सौ वर्ष तक जीवित रहना कोई बड़ी बात नहीं। हमारे पूर्व पुरुष ऋषि मुनि इत्यादि प्रकृति के पुण्य प्रताप से बड़ी-बड़ी उम्रों वाले हुए हैं। ग्रीसदेश के इतिहास में उल्लेख है-"भारत में एक सौ चालीस वर्ष की आयु तक कई व्यक्ति जीते हैं, सौ वर्ष से ऊपर के मनुष्य को एक निराला नाम देने में आता है।" यह लेख आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व का है। यदि स्वाभाविक रीति से हम जीते चलें, प्रकृति के नियमों का पालन करते चलें, तो आयु क्षीण न होगी। दीर्घायु प्राप्त करने के लिए प्राकृतिक नियमों का पालन अत्यन्त आवश्यक है।

तत्वों की न्यूनाधिकता से रोगोत्पत्ति

रोगी होना और निरोग रहना प्राकृतिक तत्वों की स्थिति पर निर्भर करता है। आहार विहार की असावधानी के कारण तत्वों का नियत परिणाम घट बढ़ जाता है। फलस्वरूप बीमारी खड़ी हो जाती है। वायु की मात्रा में अन्तर आ जाने से गठिया, लकवा, दर्द, कम्प, अकड़न, गुल्म, हड़फूटन, नाडी विक्षेप आदि रोग उत्पन्न होते है। अग्नि तत्व के विकार से फोड़े फुन्सी, रक्त पित्त, हैजा, दस्त, क्षय, स्वांस, उपदंश दाह, खून फिसाद आदि बढ़ते हैं। जलतत्व की गड़बड़ी से जलोदर, पेचिश, संग्रहणी, बहुमूत्र प्रमेह, स्वप्नदोष, सोम, प्रदर, जुकाम खांसी, जैसे रोग पैदा होते हैं, पृथ्वी तत्वबढ़ जाने से फीलपांव तिल्ली जिगर, रसौली, मेदवृद्धि, मोटापा आदि रोग होते हैं।

आकाश तत्व के विकार से मूर्च्छा मृगी,उन्माद, पागलपन, सनक, अनिद्रा, वहम, घबराहट, दुःस्वप्न गूंगापन, बहरापन, विस्मृति, आदि रोगों का आक्रमण होता है। दो तीन या चार पाँच तत्वों के मिश्रित विकारों से विकारों की मात्रा के अनुसार अनेकानेक रोग उत्पन्न होते हैं।

अग्नि की मात्रा कम हो जाय तो शीत, जुकाम, नपुंसकता, गठिया, मदाग्नि, शिथिलता, सरीखे रोग उठ खड़े होते हैं और यदि उसकी मात्रा बढ़ जाय तो चेचक, ज्वर, फोड़े सरीखे रोगों की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार अन्य तत्वों की कमी हो जाना, बढ़ जाना अथवा विकृत हो जाना रोगों का हेतु बन जाता है। शरीर प्रकृति के पंच तत्वों का बना है, यदि सबतत्व अपनी नियत मात्रा में यथोचित् रूप से रहें तो बीमारियों का कोई कारण नहीं रहता। जैसे ही इनकी उचित स्थिति में अन्तर आता है वैसे ही रोगों का उद्भव होने लगता है। रसोई का स्वादिष्ट और लाभदायक होना इस बात पर निर्भर है कि उसमें पड़ने वाली चीजें नियत मात्रा मे हों। चावल, दलिया, दाल, हलुआ, रोटी आदि में यदि अग्नि ज्यादा कम लगे, पानी ज्यादा या कम पड़ जाय, नमक, चीनी, घी आदि की मात्रा बहुत कम या बहुत ज्यादा हो जाय तो वह भोजन का स्वाद गुण और रूप बिगड़ जाता है। यही दशा शरीर की है, तत्वों की मात्रा में गड़बड़ी पड़ जाने स्वास्थ्य में निश्चित रूप से खराबी आ जाती है।

जिस कारण से कोई विकार पैदा हुआ हो उस कारण को दूर करने से वह विकार भी दूर हो जाता है। कांटा लग जाने से दर्द हो रहा हो तो उस कॉटे को निकाल देने से दर्द भी बन्द हो जाता है। मशीन में तेल न होने के कारण वह भारी चल रही हो और आवाज कर रही हो तो उसके कल पुर्जों में तेल डाल देने से वह खराबी दूर हो जाती है। दीवार मे से ईंट निकल

जावें तो वहाँ ईंट लगानी पड़ती है और जहां से चूना निकल गया हो वहाँ चूना लगा देने से मरम्मत हो जाती है। यही वात स्वास्थ्य सुधार के वारे में भी है। जिस तत्व की न्यूनता अधिकता या विकृति से वह गड़वड़ी पैदा हुई हो उसे सुधार देने से सारा सङ्कट टल जाता है।

तत्व-चिकित्सा का यही आधार है, पंच तत्वों के वने शरीर को निरोग वनाने के लिए पच तत्वों द्वारा चिकित्सा करना ही सब से अच्छा उपाय है। इस उपाय से सुविधा पूर्वक-वीमारियों का निवारण हो जाता है।

मिट्टी का उपयोग

मिट्टी में विष को खींचने की अद्भुत शक्ति है। शरीर के जिस भाग को मिट्टी मे डाला जायगा, उसका विकार गीली मिट्टी में खिचकर चला जायगा। गीली मिट्टी को शरीर के किसी रोग युक्त अङ्ग पर वाँध दिया जाय और फिर थोड़े समय वाद उसे खोला जाय तो उस मिट्टी में मनुष्य शरीर का विष वहुत अधिक मात्रा में मिलेगा।

मिट्टी के उपयोग द्वारा स्वास्थ्य सुधार में हमें वहुत सहायता मिल सकती है उस लाभसे वंचित न रहना चाहिये। निर्दोष पवित्र भूमि पर नंगे पाँवों टहलना चाहिये। जहाँ हरयाली, छोटी-छोटी घास उग रही हो वहां टहलना तो और भी अच्छा है। सोने के लिए यदि मुलायम जमीन पर विस्तर लगाया जाय तो वड़ा अच्छा है। ऐसा न हो सके तो चारपाई को जमीन से वहुतऊँचा न रख समीपरखना चा हये, जिससे भूमि से निकलने वाली वाष्प अधिक मात्रा में प्राप्त होती रहे। पहलवान लोग चाहे, वे अमीर ही क्यों न हों रुई के गद्दों पर कसरत करने की वजाय मुलायम मिटटी के अखाड़ों में ही व्यायाम करते हैं ताकि

मिट्टी के अमूल्य गुणों का लाभ उनके शरीर को प्राप्त होता रहे।

आज कल साबुन से स्नान करने का फैशन चल पड़ा है परन्तु मिट्टी का प्रयोग साबुन की अपेक्षा हजार दर्जे अच्छा है। साबुन में पड़ने वाला कास्टिक सोडा त्वचा में खुश्की पैदा करता है और रोमकूपों को रोकता है किन्तु मिट्टी में यह बात नहीं है। वह मैल को दूर करती, तरावट लाती है, रोम कूपों को स्वच्छ करती है, विष को खींचती है और त्वचा को कोमल ताजा, चमकीली एवं प्रफुल्लित कर देती है। मिट्टी शरीर पर लगाकर स्नान करना एक अच्छा उबटन है, उससे गर्मी के दिनों में उठने वाली मरोड़ियाँ और फुन्सियाँ दूर हो जाती हैं। सिर के बालों को मुलतानी मिट्टी से धोने का रिवाज अभी तक मौजूद है। इससे मैल दूर होता है। बाल काले मुलायम और चिकने रहते हैं तथा मस्तिष्क में तरावट पहुँचती है। अशुद्ध हाथ साफ करने के लिए मिट्टी ही प्रयोग में आनी चाहिये। बर्तन आदि साफ करने के लिए तो इससे अच्छी और कोई चीज है ही नहीं।

बीमारियों में मिट्टी का प्रयोग 'गीली मिट्टी की पट्टी के रूप में करना चाहिये। साफ स्थान की कूड़ा-कचरा, कङ्कड़ आदि से रहित चिकनी मिट्टी चिकित्सा कार्य के लिए अच्छी होती है। कौन सी मिट्टी अच्छी है कौन सी खराब है इस लिए अधिक परेशान होने की जरूरत नहीं है। अपने आस-पास के किसी साफ स्थान से सूखी मिट्टी ले लेनी चाहिये। यह जितनी चिकनी होगी उतनी ही अच्छी है। बालू, रेत या बिखर जाने वाली भुसभुसी मिट्टी ठीक नहीं होती। चूल्हा पोतने के लिए जिस मिट्टी को स्त्रियाँ काम में लाती हैं वह ठीक है। मुलतानी मिट्टी जो सिर धोने के काम आती है और

गेरू खड़िया आदि बेचने वाले पंसारियों के यहाँ मिलती है, वह भी अच्छी है। मिट्टी को कूटकर महीन करके फिर उसे चलनी में छान लेना चाहिये जिससे यदि उसमें कूड़ा कचरा कंकड़ आदि हों तो निकल जावें।

इस छनी हुई मिट्टी में से अपनी आवश्यकता भर लेकर किसी चौड़े तसले, परात आदि वर्तन में रखना चाहिये और उसमें खौलता हुआ पानी इतनी मात्रा में मिलाना चाहिये कि मिट्टी उतनी ही गीली हो पावे जितनी कि कुम्हार की मिट्टी होती है या रोटी बनाने का आटा होता है। पानी डालकर उसे कुछ देर रक्खा रहने देना चाहिये जिससे मिट्टी भली प्रकार गल जाय और पानी की गर्मी ठण्डी हो जाय खौलता हुआ पानी डालने का प्रयोजन यह है कि उस मिट्टी में यदि कोई रोग कीटाणु किसी प्रकार पहुँच गये हों तो वे गर्मी के द्वारा नष्ट हो जायें।

मिट्टी की पट्टी प्रायः हर बीमारी में फायदा पहुँचाती है। ऐसा भय न करना चाहिये कि इससे ठंड लग जायगी, यह भ्रम अनेक परीक्षणों के बाद गलत साबित हुआ है। अन्दरूनी ऐसे गहरे विकार जहाँ तक दवा का असर ठीक तरह नहीं पहुँच सकता मिट्टी के उपचार से अच्छे हो जाते है। गुर्दे की खराबी मूत्राशय के रोग, पेट के भीतरी फोड़े, गर्भाशय के विकार दिल की धड़कन, फेफड़ों का क्षय, जिगर की सूजन आदि शरीर के अधिक भीतरी भाग में होने वाले रोगों में उदर या छाती पर मिट्टी की पट्टी बांधने से भीतरी विष धीरे-धीरे खिंच आता है और वे प्राण घातक रोग अच्छे हो जाते हैं।

अग्नि तत्व का प्रयोग

अग्नि तत्व जीवन का उत्पादक है। गर्मी के बिना कोई

जीव या पौदा न तो उत्पन्न हो सकता है और न विकसित होता है। चैतन्यता जहाँ कहीं भी दिखाई पड़ती है उसका मूल गर्मी है। गर्मी समाप्त होते ही क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है, शरीर की गर्मी का अन्त हो जाय तो जीवन का भी अन्त हो समझिये। अग्नि तत्व को सर्वोपरि समझते हुए आदि वेद ऋग्वेद में सर्व प्रथम मंत्र का सर्व प्रथम शब्द 'अग्नि" ही आया है। 'अग्नि मीले पुरोहितं" मंत्र में वेद भगवान् ने ईश्वर को अग्नि नाम से पुकारा है।

सूर्य अग्नि तत्व का मूर्तिमान प्रतीक है। इसीलिये सूर्य को जगत् की आत्मा माना गया है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जिन पेड़-पौदों और जीव-जन्तुओं को धूप पर्याप्त मात्रा में मिलती है वे स्वस्थ और निरोग रहते हैं इसके विपरीत जहाँ धूप की जितनी कमी होती है वहाँ उतनी ही अस्वस्थता रहती है। अँगरेजी की एक कहावत है कि 'जहाँ धूप नहीं जाती वहाँ डाक्टर जाते हैं।' अर्थात् प्रकाश रहित स्थानों में बीमारियाँ रहती हैं।

भारतीय तत्ववेत्ता अति प्राचीनकाल से सूर्य के गुणों से परिचित हैं, इसलिये उन्होंने सूर्य-उपासना की नाना विधि व्यवस्थाऐं प्रचलित कर रखी हैं। अब पाश्चात्य भौतिक विज्ञानवादी भी सूर्य के अद्भुत गुणों से परिचित होते जा रहे हैं। सूर्य की सप्त किरणों में अल्ट्रा बायलेट और अल्फा वायलेट किरणें स्वास्थ्य के लिये बड़ी ही उपयोगी साबित हुई हैं। मशीनों द्वारा कृत्रिम रूप से भी यह किरणें पैदा की जाने लगी हैं, पर जितना लाभ सीधे सूर्य से आने वाली किरणों से होता है। उतना मशीन द्वारा निर्मित किरणों से नहीं होता।

योरोप अमेरिका में अब रोगियों को धूप के उपचार द्वारा अच्छा करने का विधान बड़े जोरों से चलने लगा है।

वहाँ बड़े २ अस्पताल केवल सूर्य शक्ति से बिना किसी औषधि के रोगियों को अच्छा करते हैं। क्रोमोपैथी नामक एक स्वतन्त्र चिकित्सा पद्धति का आविष्कार हुआ है जिसमें रंगीन कॉच की सहायता से सूर्य की अमुक किरणों को आवश्यकतानुसार रोगी तक पहुंचाया जाता है। रोग कीटाणुओं का नाश करने की जितनी क्षमता धूप में है उतनी और किसी वस्तु में नहीं होती। क्षय के कीड़े जो बड़ी मुश्किल से मरते हैं, सूर्य के संमुख रखने से कुछ मिनटों में ही नष्ट हो जाते हैं। अनेक उच्चकोटि के सुप्रसिद्ध डाक्टरों ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में सूर्य किरणों की सुविस्तृत महिमा गाई है और बताया है कि सूर्य से बढ़कर किसी औषधि में रोग निवारक शक्ति नहीं है। सूर्य किरणों से निरोग और रोगी सभी को समान रूप से फायदा होता है, इसलिये यदि नित्य नियमित रूप से निम्न विधि से सूर्य स्नान किया जा सके तो स्वास्थ्य सुधार में आश्चर्य जनक सहायता मिल सकती है।

सूर्य स्नान के लिये प्रातःकाल का समय सबसे अच्छा है। उससे घटिया दर्जे का समय संध्याकाल है। इसके लिये हलकी किरणें ही उत्तम हैं तेज धूप में न बैठना चाहिये। सूर्य स्नान आरम्भ में आध घण्टे करना चाहिए। लज्जा निवारण का एक बहुत छोटा हलका, ढीला वस्त्र कटि प्रदेशमे रखकर अन्य समस्त शरीर को नंगा रखना चाहिए। यदि एकान्त स्थान हो तो कटि वस्त्र को भी हटाया जा सकता है। सूर्य स्नान करते समय शिर को रूमाल या हरे पत्तों से ढक लेना चाहिये। केला या कमल जैसा बड़ा और शीतल प्रकृति का पत्ता मिल जाय तो और भी अच्छा, अन्यथा नीम की पत्तियों का एक बड़ा-सा गुच्छा लिया जा सकता है जिससे सिर ढक जाय।

जल तत्व का प्रयोग

मनुष्य शरीर में जल का अंश ६० प्रतिशत और अन्य तत्व १० प्रतिशत हैं। इससे प्रतीत होता है कि अन्य तत्वों की अपेक्षा जल तत्व की सर्वोपरि आवश्यकता है। इसके कम हो जाने से देह सूखने लगती है, नाड़ियाँ जकड़ने लगती हैं, हड्डियाँ निकल आती हैं, खून गाढ़ा हो जाता है और दाह, प्यास, खुश्की आदि के अनेक उपद्रव होने लगते हैं।

जल शरीर को सींचता है। प्रतिदिन कई सेर पानी लोग पीते हैं ताकि शरीर में जल तव की स्थिरता रहे। ताजे जल में रहने वाले उपयोगी रासायनिक पदार्थों से शरीर का पोषण होता है। भीतरी अंगों में जो विकृतियाँ उत्पन्न होती है वे पसीना, मूत्र तथा अन्य मलों के साथ द्रवरूप में बाहर निकलती रहती हैं। जैसे वर्षा से पौदे प्रफुल्ल एवं चैतन्य होते हैं और पानी के अभाव में वे कुम्हलाते एवं सूखते है वही हाल शरीर का है। पर्याप्त मात्रा में उचित विधि से यदि अंग प्रत्यंगों को जल प्राप्त होता रहे तो शरीर की दृढ़ता एवं स्वस्थता ठीक प्रकार बनी रहती है।

जल द्वारा रोगों के निवारण में महत्वपूर्ण कार्य होता रहता है। स्नान को ही लीजिये, वह स्वास्थ्य को ठीक रखने मे अनुपम सहायता देता है। हिन्दू धर्म में हर उत्तम कार्य से पहले स्नान करने का विधान है। तीर्थ स्थान, माघ स्नान, वैसाख स्नान, कार्तिक स्नान, पर्व स्नान आदि नाना विधि विधानों में स्नान की महत्ता से लोगों को लाभ उठाने के अवसर, धर्म के नाम पर दिये गये हैं। स्नान करना दैनिक कृत्य समझा जाता है। हिन्दू विना स्नान किये भोजन नहीं करते। दैनिक कार्यक्रम में प्रातः काल के प्रारम्भिक कार्यों में

शौच के बाद स्नान का ही नम्बर है। विना भोजन किये रह सकते हैं पर विना स्नान किये नहीं रहते। हिन्दू धर्म एक वैज्ञानिक धर्म है, उसमें उन्हीं आचार-विचारों को स्थान दिया गया है जो शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिये उपयोगी एवं आवश्यक हैं।

हिन्दू धर्म शास्त्र अत्यन्त प्राचीन काल से कहता आ रहा है कि "अद्‌भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति" अर्थात् शरीर की शुद्धि जल से होती है। देह में जो विकार, दोष विष भरे हुये हैं उन अशुद्धियों को निकाल कर शुद्धता प्राप्त करनी है तो जल का उपयोग करो। इन शास्त्र वचनों पर लोग उतना ध्यान नहीं देते थे, पर जब साइन्स भी इस उपदेश का अनुकरण करने को बाध्य हुई तो लोगों का ध्यान इधर आकर्षित हुआ है। योरोपीय ठण्डे देशों में स्नान का उतना प्रचलन नहीं है, ठण्ड के कारण वहाँ सब कोई रोज़ नहीं नहाते। उन्हें स्नान का महत्व भी मालूम न था, पर अब जब कि वहाँ हर बात की नये सिरे से, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से, परीक्षा हो रही है तब स्नान का महत्व भी उनके सामने आया है इसके लाभों को देखकर वे लोग दंग रह गये हैं। अब अनेक विद्वानों ने स्नानको जीवन मूरि बताया है और उसी के आधार पर जल चिकित्सा का आविष्कार करके स्नान द्वारा सम्पूर्ण रोगों को निवारण करने के विज्ञान पर बड़े-बड़े मोटे ग्रन्थ लिखे हैं। भारतवासी इस बात को निर्विवाद रूप से मानते आ रहे हैं कि स्नान स्वास्थ्य के लिए बहुत ही उपयोगी है। भारतवर्ष गर्म देश होने के कारण यहां उसके लाभ और भी अधिक हैं। स्नान के महत्व को व्यवहारिक रूप से स्वीकार किये बिना इस देश में कोई मनुष्य स्वस्थ नहीं रह सकता।

दैनिक स्नान 'हर हर गंगा' करके दो लोटे सिर और पीठ पर लुढ़का लेने के साथ समाप्त न कर देना चाहिए। यह तो स्नान का एक उपहास होगा। बेगार टालने के लिए नहीं, वरन् शरीर की अशुद्धताओं के निवारण और देह के सिंचन पोषण के लिए स्नान होना चाहिए। कुआ, नदी, नहर, झरना, सोता का ताजा पानी उत्तम है। उन बड़े तालाबों का पानी भी ठीक है जिन्हें मनुष्य या पशुओं द्वारा गँदला नहीं किया जाता या जिनमें कोई हानिकारक पदार्थ न पड़ते हों। बहने वाले ताजे पानी में जो तत्व होते हैं वह रुके हुए, बर्तनों में भर कर रखे हुए पानी में नहीं रहते। बीमारों की विशेष आवश्यकता को छोड़कर साधारणतः सबको सह्य तापके ठंडे ताजे जलसे स्नान करना चाहिए। हर ऋतु के लिए ऐसा पानी ठीक है। कई व्यक्ति जाड़े के दिनों में गरम पानी से स्नान करते हैं यह ठीक नहीं। जरूरत हो तो धूप में रख कर उसमें थोड़ी गर्मी लाई जा सकती है। सिर पर गरम पानी डालना तो आँखों को नुकसान पहुँचाता है। बहुत तेज हवा में नहाना अच्छा नहीं। इसके लिए ऐसा स्थान रखना चाहिए जहां तेज हवा के झोंके न लगते हों। क्योंकि ठण्डे शरीर पर हवा की तेजी हर ऋतु में खराब असर डालती है।

स्नान करते समय मोटे खुरदरे तौलये से त्वचा को धीरे-धीरे खूब रगड़ना चाहिए, जिससे चमड़ी लाल हो जाय। इस प्रकार घर्षण करने से देह के भीतर की गर्मी को उत्तेजना मिलती है सेजै लोहे को गरम करके पानी में डाल कर लुहार लोग उसे मजबूत बना लेते हैं, उसी प्रकार घर्षण द्वारा गर्मी बढ़ा कर ठंडे जल से स्नान करने पर शरीर मजबूत होता है। दूसरे त्वचा में जो बारीक छिद्र हैं वे साफ हो जाते हैं और पसीना ठीक प्रकार निकलता है। त्वचा पर जमा हुआ मैल छूट जाने

मे वदवू, चिपचिपाहट, आलस्य और उदासी दूर हो जाती है। पीठ, रीढ़ की हड्डी, गरदन, कन्धे, जंघाऐं, चूतड़, गुप्त इन्द्रिय आदि कुछ स्थान ऐसे हैं जिनकी स्वच्छता पर स्नान के समय उचित ध्यान नहीं दिया जाता, यह ठीक नहीं, हर एक अङ्ग की सफाई पर पूरा ध्यान दिया जाना चाहिये। स्नान में जल्दबाजी से काम न लेना चाहिये। धीरे-धीरे प्रसन्नता पूर्वक हर अंग की उचित सफाई करते हुए नहाना चाहिए और इस कार्य में कम से कम २०-२५ मिनट लगाने चाहिए। स्नान के वाद शरीरको कपड़े से सुखा डालना चाहिये। जाड़े के दिनों में एक बार और अन्य ऋतुओं में सुवह शाम, दो वार नहाना चाहिये।

स्नान की नियमित और उचित रीति से व्यवस्था रखने पर रोगों के आक्रमण से वहुत बड़ी रक्षा होती रहती है, छोटे मोटे रोग तो बिना जाने ही इस उपचार से अपने आप अच्छे होते रहते हैं। फुहारे के नीचे वैठकर स्नान करने से क्रीड़ा मनोरंजन, और शीतलता अधिक प्राप्त होती है। नदी तालाब में तैर कर नहाना कई दृष्टियों से वहुत अच्छा है। दो-चार मेह पड़ जाने के वाद वर्षा में स्नान करना भी वड़ा आनन्ददायक होता है। मेह में ऐसी जगह नहाना चाहिये जहां कि मकान, छप्पर, आदि की गन्दी छींटें न आती हों। इसके लिए मैदान या घरकी सवसे ऊपर वाली छत ठीक रहती है।

वायु-तत्व का उपयोग

समस्त प्राकृतिक तत्वों में वायु वहुत सूक्ष्म है। पृथ्वी, जल, अग्नि की अपेक्षा वायु की सूक्ष्मता अधिक है। इस लिए उसका गुण और प्रभाव भी अधिक है। अन्न और जल के बिना कुछ समय मनुष्य जीवित रह सकता है, पर वायु के विना एक

क्षण भर काम नहीं चल सकता। शरीर में अन्य तत्वों के विकार उतने खतरनाक नहीं होते जितने कि वायु के विकार। जिस स्थान पर वायु विकृत होगी वही अंग तीव्र वेदना का अनुभव करेगा और अपनी सारी शक्ति खो बैठेगा। वायु प्राण है इस लिए प्राण वायु पर जीवन की निर्भरता मानी जाती है। सांस रुक जाय या पेट फूल जाय तो मृत्यु को कुछ देर नहीं लगती। लोग वायु सेवन के लिए जरूरी काम छोड़ कर समय निकालते हैं। जहां की हवा खराब होजाती है वहां नाना प्रकार की बीमारियां, महामारियां, फैलती हैं। इस लिए बुद्धिमान व्यक्ति वहां रहना पसन्द करते हैं जहां की वायु अच्छी हो। प्राणायाम करने वाले जानते हैं कि विधि पूर्वक वायु साधन करने से उन्हें कितना लाभ होता है। निस्संदेह वायु का स्वास्थ्य से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है और वायु के प्रयोग द्वारा अपनी बिगड़ी हुई तन्दुरुस्ती को ठीक कर सकते हैं।

चिकित्सा जितनी स्थूल होती है उतना ही कम प्रभाव डालती है। चूर्ण, चटनी, अवलेह आदि के रूप में ली हुई दवा पहले पेट में जाती है, वहां पचती है तब रक्त बन कर समस्त शरीर में फैलती और अपना असर दिखाती है। यदि पाचन न हुआ तो वह दवा मल मार्ग से निकल जाती है और अपना असर नहीं दिखाती। जिनकी पाचन शक्ति ठीक नहीं होती उन्हें "पुस्टाई के पाक" कुछ भी फायदा नहीं करते, क्योंकि वे दवाएँ बिना पचे मल द्वारा बाहर निकल जाती हैं। ऐसी दशा में पतली पानी के रूप में तय्यार की हुई दवाएं अधिक काम करती हैं क्योंकि स्थूल आहार की अपेक्षा जल जल्दी पच जाता है। इन्जेक्शन द्वारा खून में मिलाई हुई दवाएं और भी जल्दी शरीर में फैल जाती हैं। हवा का नम्बर इससे भी ऊँचा है। वायु द्वारा सांस के साथ शरीर में पहुँचाई हुई हवा बहुत जल्द

असर करती है। जुकाम जैसे रोगों में सूंघने की दवाएं दी जाती हैं। क्लोरोफार्म सुंघाने से जितनी जल्दी बेहोशी आती है उतनी जल्दी खाने से नहीं आ सकती।

इन सब बातों का ध्यान रखते हुए भारतीय ऋषि मुनियों ने यज्ञ हवन की बड़ी ही सुन्दर वैज्ञानिक विधि का आविष्कार किया है। हवन में जलाई हुई औषधियाँ नष्ट नहीं होती वरन् सूक्ष्म रूप धारण करके अनेक गुनी प्रभावशालिनी हो जाती हैं और अनेकों को आरोग्य प्रदान करती हैं। लाल मिर्च के एक टुकड़े को जब आग मे डाला जाता है तो वह सूक्ष्म होकर हवा में मिल कर चारों ओर फैलता है और दूर तक बैठे हुए लोगों को खांसी आने लगती है। इससे प्रगट है कि जलने पर कोई वस्तु नष्ट नहीं होती, वरन् सूक्ष्म होकर वायु में मिल जाती है और उस वायु के सम्पर्क में आने वालों पर उस वायु का असर पड़ता है। हवन के धार्मिक रूप को छोड़ दें तो भी अग्निहोत्र की रोग निवारण सम्बन्धी महत्ता स्वीकार करनी ही पड़ती है।

बाजार में कृमि नाशक फिनाइल की भांति की एक अँग्रेजी दवा फार्मेलिन बिकती है। इससे बीमारियों के कीड़े नष्ट हो जाते है। यह दवा फार्मिका आलडी हाइड गैस से बनती है। फ्रांस के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डाक्टर ट्रिले ने बताया है कि उपरोक्त गैस लकड़ियाँ जलाने या खांड जलाने से उत्पन्न होती है। जो काम बहुत कीमत खर्च करने पर फार्मेलिन जैसी दवाओं से होता है वह कार्य अग्निहोत्र द्वारा अधिक उत्तमता से हो जाता है। दवा तो वहीं असर करती है जहाँ छिड़की जाती है पर अग्निहोत्र द्वारा तो वह कार्य वायु द्वारा बड़े पैमाने पर हो जाता है। इस दृष्टि से हवन को वायु-चिकित्सा कहें तो

कुछ अनुचित नहीं है।

हवन जहाँ एक धार्मिक कृत्य है वहाँ वह मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य प्रदान करने वाला भी है। यज्ञ में लोक कल्याण के लिये समष्टि आत्मा-परमात्मा-की उपासना के लिये अपनी वस्तुओं का त्याग-समर्पण-होम करने से परमार्थ, त्याग उदारता एवं पवित्रता की मनोभावनायें उत्पन्न होती है। ऐसी भावनाओं का उदय होना अनेक प्रकार के मानसिक रोगों को निर्मूल करने के लिए सर्व श्रेष्ठ उपचार है 'डाया कार्बन गैस' बढ़ने से वर्षा की अधिकता द्वारा संसार की समृद्धि बढ़ती और आबहवा शुद्ध होती है। स्वस्थता प्रदान करने वाली और रोग नाशक औषधियाँ अग्नि की सहायता से सूक्ष्म रूप धारण करके शरीर में व्याप्त हो जाती हैं और निरोगता की स्थापना में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य करती हैं। फेंफड़े और मस्तिष्क के रोगों के लिये तो हवन द्वारा पहुँची हुई औषधि मिश्रित वायु बहुत ही हितकर सिद्ध होती है।

आकाश—तत्व का उपयोग

पंच तत्वों में मिट्टी, पानी, हवा, आग के काम जिस प्रकार प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं वैसे आकाश का आस्तित्व अनुभव में नहीं आता। परन्तु सच पूछा जाय तो इन सबकी अपेक्षा शक्ति सम्पन्न, क्रियाशील और प्रभावकारी आकाश ही है। आकाश का अर्थ कोई 'हवा' समझते हैं, कोई 'बादल' या 'शून्य' समझते हैं, कोई कुछ समझते हैं। यथार्थ में आकाश एक ऐसा सूक्ष्म पदार्थ है जो हर पोले और ठोस पदार्थ में न्यूनाधिक मात्रा में व्याप्त है। अँग्रेजी भाषा मे इस तत्व को 'ईथर' कहते हैं। रेडियो में जो दूर-दूर से शब्द ध्वनियाँ आती हैं वे इस ईथर द्वारा ही आती हैं। वायु की चाल तो फी

मिनट डेढ़ ही मील है, आंधी की चाल एक घण्टे में वीस मील के करीब होती है। यदि यह शब्द वायु द्वारा आते तो इंग्लेण्ड से हिन्दुस्तान तक आने में हफ्तों लग जाते। फिर हवा का रुख उलटा होता तब तो वे शब्द शायद आ ही न पाते। इसलिए ऐसा न समझना चाहिए कि बेतार का तार वायु द्वारा आता है। यह आकाश (ईथर) द्वारा आता है। आकाश का गुण 'शब्द माना गया है, जितने भी शब्द होते हैं वे आकाश के कारण होते हैं। यदि आकाश न हो तो शङ्ख-घण्टा, घड़ियाल, तोप बन्दूक, मोटर किसी की आवाज न सुनाई पड़े, यहाँ तक कि हम बातचीत भी न कर सकें, किसी के मुँह से एक शब्द भी न निकले।

शब्द के दो भेद हैं। (१) आवाज (२) विचार। आवाज की तरह विचार भी एक स्वतंत्र पदार्थ है। शब्द के परमाणुओं का आदान प्रदान दुनियाँ में होते हुए हम नित्य देखते हैं। बातचीत द्वारा अपनी इच्छा, अनुभूति भावना और स्थिति दूसरों को देते हैं, शब्दों के परमाणुओं को विशेष यन्त्र द्वारा विजली की शक्ति के साथ फेंकने से वे रेडियो यन्त्र द्वारा पृथ्वी के कोने-कोने मे सुने जाते हैं।

विचार का भी ऐसा ही विज्ञान है। हमारे मस्तिष्क में जो विचार उठते हैं वे एक प्रकार की विद्युत तरङ्गों की भाँति आकाश में फैल जाते हैं और कभी नष्ट नहीं होते। जैसे जगह-जगह से थोड़ी भाप उड़ २ कर बड़े बादल जमा हो जाते है उसी प्रकार एक प्रकार के विचार अपनी ही किस्म के अन्य अनेकों मस्तिष्कों में से निकले हुए विचारों के साथ मिलकर अपना एक बड़ा रूप—बादल का सा रूप—बना लेते हैं और इधर-उधर उड़ते रहते हैं।

इन विचार बादलों का यह स्वभाव होता है कि जहाँ

अपनी समानता पाते हैं वहीं दौड़ जाते हैं। जैसे एक कौवे के कांव-कांव करने पर अन्य अनेकों कौवे इधर-उधर से उड़कर वहीं आकर इकट्ठे हो जाते हैं उसी प्रकार यह विचार बादल भी अपनी जाति वाले के पास उड़कर क्षण भर में जा पहुँचते हैं। जैसे कोई आदमी एक समय, क्रोध आत्महत्या, धूर्तता, चोरी आदि के विचार कर रहा हो तो अनेकों व्यक्तियों द्वारा जो वैसे ही विचार भूतकाल या वर्तमान काल में किये गये हैं उनके विचार बादल उस आदमी के पास आकर इकट्ठे हो जाते हैं। फलस्वरूप उसकी क्रोध आदि की प्रवृत्तियाँ और अधिक बढ़ जाती हैं और उस दिशा में उसे नई-नई तरकीबें सूझ पड़ती हैं। इसी प्रकार प्रेम, उत्साह त्याग, परमार्थ संयम आदि के विचार करने पर अनेक सत्पुरुषों द्वारा किये हुए उसी प्रकार के विचार इकट्ठे हो जाते हैं और उस मार्ग में अधिक उत्साह प्राप्त होता है।

स्वास्थ्य-रक्षा का सर्वश्रेष्ठ मार्ग

इसमें सन्देह नहीं कि जो लोग प्राकृतिक नियमों के अनुसार अपना रहन-सहन रखते हैं उनका स्वास्थ्य सदैव उत्तम रहता है और यदि कभी किसी घटनावश कोई रोग हुआ तो वह साधारण उपचार से अथवा विना उपचार ही शीघ्र अच्छा हो जाता है। भारत के प्राचीन निवासी प्रायः प्रकृति के संसर्ग में रहकर ही जीवन व्यतीत करते थे। उस समय के ऋषि-मुनि तो प्रायः बस्तियों से दूर वनों और जङ्गलों में रहते ही थे, जहाँ प्रकृति-विरुद्ध जीवन की कोई सामग्री मिल नहीं सकती थी। फिर यहाँ की ग्रामीण जनता भी सब तरह से स्वावलम्बी थी और अपनी आवश्यकताओं की सीधी सादी, वस्तुएँ स्वयं ही तैयार कर लेती थी। इस लिये उसके जीवन में भी कृत्रिमता और

आडम्बर को कोई स्थान न था। केवल बड़े नगरों में, जिनकी संख्या नगण्य थी, विलास की कुछ सामग्री मिल सकती थी और वहीं थोड़े-बहुत प्रकृति के विपरीत आचरण करने वाले और फलस्वरूप बीमार व्यक्ति मिल सकते थे। आजकल परि-स्थिति बहुत कुछ बदल गई है और आबादी के बढ़ने तथा तरह-तरह के औद्योगिक आविष्कारों के कारण जल-वायु में पहले के समान शुद्धता नहीं रही है, तो भी यदि हम प्रकृति का अनुसरण करें और खान-पान तथा रहन-सहन में से कृत्रिमता को त्याग दें तो हमारा स्वास्थ्य इस समय से कई गुना उत्तम बन सकता है। पिछले पृष्ठों में पाँचों तत्वों का जो उपयोग बतलाया गया है, अगर हम उस पर ध्यान दें और आवश्यकता पड़ने पर उन्हीं विधियों का प्रयोग करें तो हमारे स्वास्थ्य में बहुत कुछ सुधार हो सकता है। इससे भी आवश्यक बात यह है कि हम अपना दैनिक रहन-सहन ही ऐसा रक्खें कि जिससे स्वास्थ्य स्थिर रहे और बीमार होने की नौबत ही न आये। ऐसी कुछ बातों का सारांश संक्षिप्त रूप में हम नीचे देते हैं :—

(१) प्रातःकाल शौच जाने से पूर्व एक गिलास पानी पिया कीजिए, इससे दस्त साफ होता है और रात का बिना पचा हुआ भोजन पचने में सहायता मिलती है।

(२) आपके लिए हलका व्यायाम आवश्यक है। सुबह शाम तेज चाल से, दोनों हाथों को हिलाते हुए, सीना निकाल कर काफी दूर तक टहलने जाया करें। यह टहलना इतना होना चाहिये कि शरीर में गर्मी काफी बढ़ जाय और थोड़ा पसीना तक झलक आवे। कमजोर आदमियों के लिए यह सर्वोत्तम व्यायाम है इससे समस्त रक्त का दौरा तेज होता है,शरीरके कल पुर्जे ठीक प्रकार काम करने लगते हैं।

(३) प्रातःकाल की सह्य धूप शरीर पर लिया करें।

इससे रोगों के कीटाणु नष्ट होते हैं, और जीवनी शक्ति प्राप्त होती है।

(४) स्नान से पूर्व शरीर पर धीरे-धीरे तेल मालिश किया करें। गर्मी के दिनों में सरसों का और जाड़े में तिली का तेल प्रयोग करना चाहिये। तेल मालिश एक बड़ा ही उपयोगी व्यायाम है।

(५) आप ऐसे स्थान में स्नान किया करें जहाँ खुली हवा में झोंके न लगते हों। एक मोटे खुरदरे तौलिए को पानी में भिगो कर उससे धीरे-धीरे बहुत देर तक सारे शरीर को रगड़ते रहें जिससे त्वचा लाल हो जाये और शरीर के सारे छिद्र खुल जावे इससे शरीर के भीतर की विषैली गर्मी बाहर निकल जाती है और त्वचा तथा मांस पेशियों का व्यायाम हो जाता है। बीमार आदमी चारपाई पर पड़े-पड़े भी गरम पानी में तौलिया भिगोकर और बिना भिगोये हुए भी 'घर्षण स्नान कर सकते हैं।

(६) नाश्ता करना छोड़ दें। करना ही हो तो दूध, मट्ठा, नीबू का शरबत आदि कोई पतली चीज थोड़ी मात्रा में ले लें। दोपहर और शाम दो बार ही नियत समय पर भोजन किया करें। भूख से कम खावें। प्रत्येक ग्रास को इतना चबावें कि वह खूब पिसे। पेट को एक चौथाई खाली रखना चाहिये। ठूँस-ठूँस कर खाने और दिन भर बकरी की तरह मुँह चलाने वाले अपने दाँतों से अपनी कब्र खोदते हैं। भोजन के साथ कम पानी पीना चाहिये।

(७) सुपाच्य, स्वादिष्ट फल, शाक तथा हरे अन्न हमारी सर्वोत्तम खुराक हैं। जो कच्चे नहीं खाये जा सकते उन्हें तथा पत्ती के हरे शाकों को उबाल कर खाना चाहिये। मेवाएं भी पौष्टिक हैं। अन्नों को दलिया या खिचड़ी के रूप में उबाल कर

रसीला बना लिया जाय तो वह रोटी की अपेक्षा हलके रहते हैं। दूध, दही, मट्ठा तीनों ही उपयोगी है।

तले हुए पूड़ी, पकवान, मिठाइयाँ, चाट, पकौड़ी, जली-भुनी या अधिक घी, तेल, मावा, मिर्च, मसाले, पड़ी हुई चीजें, सर्वथा हानिकारक हैं। भोजन ताजा होना चाहिये और स्वच्छता पूर्वक बनाना तथा खाना चाहिये।

(८) चाय, दूध आदि कोई चीज गर्म न लेनी चाहिये और न बर्फ या बर्फ मिश्रित अधिक ठण्डी चीजें सेवन करनी चाहिये, इससे दाँत और आंत दोनों में ही विकार भी उत्पन्न होते हैं।

(९) पानी खूब पिया कीजिये। जाड़े के दिनों में ५-६ गिलास और गर्मी के दिनों में ८-१० गिलास तो कम से कम पीना ही चाहिये। पानी एक साथ सडाके से न पी जाना चाहिये वरन् घूँट घूँट कर पियें जिससे मुँह की लार उसमें काफी मात्रा मे मिल जाय। दूध, मट्ठा आदि अन्य पेय पदार्थ भी इसी प्रकार पीने चाहिए।

(१०) चाय, तमाखू, भाँग, अफीम, गांजा, शराब, आदि नशीली चीजों से, हींग, गरम मसाला, मिर्च लहसन आदि उत्तेजक गरम, पदार्थों से, तथा माँस मछली आदि अभक्ष वस्तुओं से बचते रहना चाहिये। यह चीजें स्वास्थ्य को बिगा-ड़ने वाली हैं। इनका पूर्णतया त्याग करना न बन पड़े तो भी जितना कम किया जा सके करते चलना चाहिये।

(११) कपड़े जहाँ तक हो सके कम ही पहिना करें। जो पहनें वे कसे हुए न हों। शरीर से सदा वायु का स्पर्श होते रहना चाहिये, मुँह ढक कर न सोवें। बिस्तर को धूप में सुखाते रहना चाहिये। जिनमें पसीना लगता है ऐसे शरीर का स्पर्श करने वाले कपड़ों को नित्य धोना चाहिये।

(१२) कमजोर और बीमारों को ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये, ताकि शक्ति संचय हो। जितना कम काम सेवन किया जाय उतना ही अच्छा है।

(१३) रात्रि को जल्दी सो जावें, सवेरे जल्दी उठे ? अधिक रात्रि तक जागना और नेत्रों पर जोर डालने वाले काम करते रहना स्वाथ्य के लिए हानिकारक है।

(१४) आलस्य और अति परिश्रम दोनों ही बुरे हैं। अत्यधिक दिमागी काम करना स्वास्थ्य पर बुरा असर डालता है। चिन्ता, क्रोध, भय, निराशा, शोक, बेचैनी, घबराहट, ईर्षा, द्वेष, छल, कष्ट आदि मनोविकारों से बचना चाहिये, क्योंकि यह जिसके मस्तिष्क में रहते हैं उसका स्वास्थ्य चौपट कर देते हैं।

(१५) सप्ताह में एक दिन उपवास करना चाहिये। निराहार रहना सबसे अच्छा है। न हो सके तो एक समय फल दूध आदि हलकी चीजें स्वल्प मात्रा में लेना भी उपवास है। यह भी न हो सके तो एक समय दलिया, खिचड़ी, साबूदाना आदि पानी मे पकाये हुए अन्न ले सकते है। उपवास के दिन पानी खूब पीना चाहिए। यदि इच्छा हो तो पानी में नीबू, सोड़ा, नमक या शहद मिला सकते हैं।

(१६) एक ऐनिमा यन्त्र बाजार से खरीद लीजिए या किसी वैद्य डाक्टर के यहाँ से माँग लिया कीजिए। उपवास के लिए प्रातःकाल शौच जाने के उपरान्त थोड़े गुनगुने एकसेर पानी को एनिमा द्वारा पेट में चढ़ाइए। सब पानी पेट मे चला जावे तब दस पाँच मिनट उसे रोकना चाहिए। इसके बाद शौच जाना चाहिए। इस विधि से पेट की सफाई बड़ी अच्छी तरह हो जाती है। रोगों की जड़ पेट में होती है। पेट साफ हो जाने से बीमारी तुरन्त घट जाती है और उपचार करने पर वह शीघ्र ही जड़-मूल से दूर हो जाती है।

(१७) कमजोर और बीमार को कुछ समय पूर्ण विश्राम करने के लिए समय निकालने का प्रयत्न करना चाहिए। नित्य के कामों में काफी शक्ति खर्च होती रहती है। उसे बचा लिया जाय तो वह बची हुई शक्ति रोग दूर करने में सहायता करती है।

(१८) खुली हवा और खुले प्रकाश में रहना चाहिए। रहने का मकान ऐसा हो जिसमें धूप और हवा भली प्रकार पहुंच सके। अच्छी जलवायु के स्थान में रहने से बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य भी सुधर जाता है। शरीर, मन, वस्त्र, घर, भोजन पात्र तथा उपयोग में आने वाली अन्य वस्तुओं की सफाई पर पूरा ध्यान रखना चाहिये। गन्दगी स्वास्थ्य की शत्रु है और सफाई मित्र है।

(१९) चित्त को प्रसन्न, चहरे को हँस-मुख, मस्तिष्क को शान्त रखने का बार-बार प्रयत्न करना चाहिए। दिन में कई बार ऐसा प्रयत्न किया जाय तो प्रसन्न रहने की आदत पड जाती है जो कि स्वास्थ्य के लिए बहुत उपयोगी है।

(२०) अब तक जिन मिथ्या आहार-विहारों की आदत रही हो अब उनको दृढ़तापूर्वक छोड़ देने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए। और नित्य प्रति परमात्मा से सच्चे हृदय से प्रार्थना करनी चाहिए कि वह उन प्रतिज्ञाओं को पूरा करने में सहायता प्रदान करें।

मुद्रक:—हरीहर मशीन प्रेस, मथुरा।

जीवन को सुख-शान्तिमय बनाने वाला साहित्य

(मूल्य प्रत्येक पुस्तक का छः-छः आना है)

१-सूर्यचिकित्सा विज्ञान २-प्राणचिकित्सा विज्ञान ३—स्वस्थ बनने की विद्या ४-भोग में योग ५-बुद्धि बढ़ाने के उपाय ६-आसन और प्राणायाम ७-तुलसी के अमृतोपम गुण ८-महान जागरण ९-तुम महान हो १०-घरेलू चिकित्सा ११-दीर्घ जीवन के रहस्य १२-नेत्रों की प्राकृतिक चिकित्सा १३-स्वप्न दोष की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा १४-दूध की आश्चर्यजनक शक्ति १५-उन्नति का मूलमन्त्र ब्रह्मचर्य १६-उपवास के चमत्कार १७-स्त्री रोग चिकित्सा १८-बालरोग चिकित्सा १९-कब्ज की चिकित्सा २०-निरोग जीवन का राजमार्ग २१-चिरस्थाई यौवन २२-सौन्दर्य बढ़ाने के ठोस उपाय २३-मनुष्य शरीर की बिजली के चमत्कार २४-पुत्र पुत्री उत्पन्न करने की विधि २५-हमारी पारिवारिक समस्याएँ २६-मन चाही सन्तान २७-दाम्पत्ति जीवन का सुख २८-हमारे आन्तरिक शत्रु २९-क्या खायें? क्यों खायें? कैसे खायें? ३०-हमारे सभ्यता के कलङ्क ३१-धनवान बनने के गुप्त रहस्य ३२-मरने के बाद हमारा क्या होता है? ३३-मित्रभाव बढ़ाने की कला ३४-आकृति देखकर मनुष्य की पहिचान ३५- हमें स्वप्न क्यों दीखते हैं? ३६-विचार करने की कला ३७-हम वक्ता कैसे बन सकते हैं? ३८-सफलता के तीन साधन ३९-जिंदगी कैसे जिएँ ४०-प्रसिद्धि और समृद्धि ४१-ईश्वर कौन है? कहाँ है? कैसा है? ४२-क्या धर्म? क्या अधर्म? ४३-ईश्वर और स्वर्ग प्राप्ति का सच्चा मार्ग ४४-भारतीय संस्कृति का बीज मंत्र यज्ञोपवीत ४५-यज्ञोपवीत द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति ४६-मैं क्या हूँ? ४७-वशीकरण की सच्ची सिद्धि ४८-ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग।

'अखण्ड-ज्योति' प्रेस, मथुरा।

कवर—पुष्पराज प्रेस, मथुरा।

मानसिक संतुलन

लेखक—
श्रीराम शर्मा आचार्य
गायत्री तपोभूमि, मथुरा।

ॐ भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि
धियो योनः प्रचोदयात् ।

प्रकाशक—
"अखण्ड ज्योति" प्रेस, मथुरा।

प्रथम बार] सन् १९५८ [मूल्य ।)

मानसिक संतुलन

गायत्री का नौवां अक्षर 'भ' हमको प्रत्येक स्थिति में मानसिक भावों को संतुलित रखने की शिक्षा देता है—

भवोद्विग्नमना चैव हृदुद्वेगं परित्यज ।
कुरु सर्वास्ववस्थासु शान्तं सन्तुलितं मनः ॥

अर्थात्—"मानसिक उत्तेजनाओं को छोड़ दो। सभी अवस्थाओं में मन को शान्त और संतुलित रखो।"

शरीर में उष्णता की मात्रा अधिक बढ़ जाना 'ज्वर' कहलाता है और वह ज्वर अनेक दुष्परिणामों को उत्पन्न करता है। वैसे ही मानसिक ज्वर होने से उद्वेग, आवेश उत्तेजना, मदहोशी, आतुरता आदि लक्षण प्रकट होते हैं। आवेश की प्रबलता मनुष्य के ज्ञान, विचार, विवेक को नष्ट कर डालती है। उस समय वह न सोचने लायक बातें सोचता है और जो कार्य पहले कुत्सित जान पड़ते थे उन्हीं को करने लगता है। ऐसी स्थिति मानव-जीवन के लिये सर्वथा अवांछनीय है।

विपत्ति पड़ने पर अथवा किसी प्रकार का लड़ाई झगड़ा हो जाने पर लोग चिन्ता, शोक, निराशा, भय, घबराहट, क्रोध आदि के वशीभूत होकर मानसिक शांति को खो बैठते हैं। इसी प्रकार कोई बड़ी सफलता मिल जाने पर, या सम्पत्ति प्राप्त होने पर अहंकार, मद, मत्सर, अति हर्ष, अति भोग आदि दोषों में फँस जाते हैं। इस तरह कोई भी उत्तेजना मनुष्य की आन्तरिक स्थिति को विक्षिप्तों की सी कर देती है। इसके फल से मनुष्य को तरह-तरह के अनिष्ट परिणाम भोगने पड़ते हैं।

जिन लोगों की प्रवृत्ति ऐसी उत्तेजित होने वाली अथवा शीघ्र ही आवेश में आ जाने वाली होती है, वे प्रायः मानसिक निर्बलता के शिकार होते हैं। वे अपने मन को एकाग्र करके किसी एक काम में नहीं लगा सकते और इसलिये कोई बड़ी सफलता पाना भी उनके लिये असंभव हो जाता है। उनके अधिकांश विचार क्षणिक सिद्ध होते हैं। इस प्रकार मानसिक असंतुलन मनुष्य की उन्नति में बाधा स्वरूप बनकर उसे पतन की ओर प्रेरित करने का कारण बन जाता है ।

असंतुलन असफलता का मूल कारण है ।

मानसिक असंतुलन की अशांत दशा में कोई व्यक्ति न तो सांसारिक उन्नति कर सकता है, न आध्यात्मिक प्रगति संभव होती है । कारण यह है कि उन्नति के लिये, ऊँचा उठने के लिये, आगे बढ़ने के लिये, जिस बल की आवश्यकता होती है, वह बल मानसिक अस्थिरता के कारण एकत्रित नहीं हो पाता। जिस प्रकार हाथ कांप रहा हो तो उस समय बन्दूक का निशाना नहीं साधा जा सकता, उसी प्रकार आवेश या उत्तेजना की दशा में मानसिक कम्पन की अधिकता रहती है। उस उद्विग्नता की दशा में यह निर्णय करना कठिन होता है कि क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये।

मानसिक असंतुलन और उत्तेजना से अधीरता का भाव उत्पन्न होता है। अधीर होना, हृदय की संकीर्णता और आत्मिक बालकपन का चिन्ह है। बच्चे जब बाग लगाने का खेल खेलते हैं तो उनकी कार्य प्रणाली बड़ी विचित्र होती है। अभी बीज बोया, अभी उसमें खाद पानी लगाया, अभी दो-चार मिनट के बाद ही बीज को उलट-पलट कर देखते हैं कि बीज में से अंकुर फूटा या नहीं। जब अंकुर नहीं दीखता तो उसे फिर गाड़

ते हैं और दो-चार मिनट बाद फिर देखते हैं। इस प्रकार कई
ार देखने पर भी जब वृक्ष उत्पन्न होने की उनकी कल्पना पूरा
ाहीं होती तो दूसरा उपाय काम में लाते हैं। वृक्षों की टहनियां
ोड़कर मिट्टी में गाढ़ देते हैं और उससे बाग की लालसा को
ुझाने का प्रयत्न करते हैं। उन टहनियों के पत्ते उठा-उठा कर
देखते हैं कि फल लगे या नहीं। यदि दस बीस मिनट मे फल
नहीं लगते तो कङ्कड़ों को डोरे से बांध कर टहनियों में लटका
देते हैं। इस अधूरे बाग से उन्हें तृप्ति नहीं मिलती। फलतः कुछ
देर बाद उस बाग को बिगाड़ कर चले जाते हैं। कितने ही
जवान और वृद्ध पुरुष भी उसी प्रकार की बाल-क्रीड़ाएं अपने
क्षेत्र में किया करते हैं किसी काम को बड़े उत्साह से आरम्भ
करते हैं, इस उत्साह की—अति 'उतावली' बन जाती है। कार्य
आरम्भ हुये देर नहीं होती कि यह देखने लगते हैं कि सफलता
में अभी कितनी देर है। जरा भी प्रतीक्षा उन्हें सहन नहीं होती।
जब उन्हें थोड़े ही समय में रङ्गीन कल्पनाऐं पूरी होती नहीं
दीखतीं तो निराश होकर उसे छोड़ बैठते हैं। अनेकों कार्यों को
आरम्भ करना और उन्हें बिगाड़ना—ऐसी ही बाल क्रीड़ाऐं वे
जीवन भर करते रहते हैं। छोटे बच्चे अपनी अकांक्षा और
इच्छा पूर्ति के बीच में किसी कठिनाई, दूरी या देरी की कल्पना
नहीं कर पाते, इन बाल-क्रीड़ा करने वाले अधीर पुरुषों की भी
मनोभूमि ऐसी ही होती है। यदि हथेली पर सरसों न जमी तो
खेल बिगाड़ते हुये उन्हें कुछ देर नहीं लगती।

प्राचीन समय में जब शिष्य विद्याध्ययन के लिये जब
गुरु के पास जाता था तो उसे पहले अपने धैर्य की परीक्षा देनी
होती थी। गौएं चरानी पड़ती थीं, लकड़ियाँ चुननी पड़ती थीं,
उपनिषदों में इस प्रकार की अनेकों कथाऐं हैं। इन्द्र को भी
लम्बी अवधि तक इसी प्रकार तपस्या पूर्ण प्रतीक्षा करनी पड़ी थी,

जब वह अपने धैर्य की परीक्षा दे चुका, तब उसे आवश्यक विद्या प्राप्त हुई। प्राचीन काल में विज्ञ पुरुष जानते थे कि धैर्यवान् पुरुष ही किसी कार्य में सफलता प्राप्त कर सकते हैं, इसलिये धैर्यवान् स्वभाव वाले छात्रों को ही विद्याध्ययन कराते थे। क्योंकि उनके पढ़ाने का परिश्रम भी अधिकारी छात्रों द्वारा ही सफल हो सकता था। चञ्चल चित्त वाले, अधीर स्वभाव के मनुष्य का पढ़ना न पढ़ना बराबर है। अक्षर ज्ञान होजाने या अमुक कक्षा का सार्टीफिकेट ले लेने से कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

आतुरता एवं उतावली का स्वभाव जीवन को असफल बनाने वाला एक भयङ्कर खतरा है। कर्म का परिपाक होने में समय लगता है। रुई कपड़े के रूप तक पहुँचने के लिये कई कड़ी मञ्जिलें पार करनी होती हैं और कठोर व्यभिधाओं में होकर गुजरना पड़ता है, जो संक्रांति काल के मध्यवर्ती कार्य-क्रम को धैर्य पूर्वक पूरा होने देने की जो प्रतीक्षा नहीं कर सकता, उसे रुई को कपड़े के रूप में देखने की आशा न करनी चाहिये। किया हुआ परिश्रम एक विशिष्ठ प्रक्रिया के द्वारा फल बनता है। इसमें देर लगती है और कठिनाई भी आती है। कभी-कभी परिस्थिति वश यह देरी और कठिनाई आवश्यकता से अधिक भी हो सकती है। उसे पार करने के लिये समय और श्रम लगाना पड़ता है। कभी-कभी तो कई बार का प्रयत्न भी सफलता तक नहीं ले पहुँचता, तब अनेक बार अधिक समय तक अविचल धैर्य के साथ जुटे रह कर अभीष्ठ सिद्धि को प्राप्त करना होता है। आतुर मनुष्य इतनी दृढ़ता नहीं रखते, जरासी कठिनाई या देरी से वे घबरा जाते हैं और मैदान छोड़कर भाग निकलते हैं। यही भगोड़ापन उनकी पराजयों का इतिहास बनता जाता है।

चित्त का एक काम पर न जमना, संशय और संकल्प

विकल्पों में पड़े रहना एक प्रकार का मानसिक रोग है। यदि काम पूरा न हो पाया तो? यदि कोई आकस्मिक आपत्ति आगई तो? यदि फल उलटा निकला तो? इस प्रकार की दुविधा पूर्ण आशंकाएं मनको डांवाडोल बनाये रहती हैं। पूरा आकर्षण और विश्वास न रहने के कारण मन उचटा-उचटा सा रहता है। जो काम हाथ में लिया हुआ है, उस पर निष्ठा नहीं होती। इस लिये आधे मन से वह किया जाता है। आधा मन दूसरे नये काम की खोज में लगा रहता है। इस डांवाडोल स्थिति में एक भी काम पूरा नहीं हो पाता। हाथ के काम में सफलता नहीं मिलती। बल्कि उल्टी भूल होती जाती हैं, ठोकर पर ठोकर लगती जाती हैं। दूसरी ओर आधे मन से जो नया काम तलाश किया जाता है, उसके हानि लाभों का भी पूरी तरह नहीं विचारा जा सकता। अधूरी कल्पना के आधार पर नया काम वास्तविक रूप में नहीं वरन् अलंकारिक रूप में दिखाई पड़ता है। पहले काम को छोड़कर नया पकड़ लेने पर फिर उस नये काम की भी वही गति होती है जो पुराने की थी। कुछ समय बाद उसे भी छोडकर नया ग्रहण करना पड़ता है। इस प्रकार 'काम शुरू करना और उसे अधूरा छोड़ना' इस कार्य-क्रम की बराबर पुनरावृत्ति होती रहती है और अन्त में मनुष्य को अपने असफल जीवन पर पश्चाताप करने के सिवा कुछ हाथ नहीं लगता।

मानसिक संतुलन से आध्यात्मिक पतन

मानसिक असंतुलन से केवल सांसारिक और भौतिक क्षेत्र में ही हानि नहीं उठानी पड़ती, वरन् आध्यात्मिक दृष्टि से भी उसका परिणाम अनिष्टकारी होता है। जो लोग मानसिक उत्तेजना के शीघ्र वशीभूत हो जाते हैं उन में अभिमान और

लोभ की मात्रा भी बढ़ जाती है, और ये दोनों तत्व अन्य अनेक प्रकार के दोषों की उत्पत्ति करते हैं । अभिमान, एक प्रकार का नशा है, जिसमें मदहोश होकर मनुष्य अपने को दूसरों से बड़ा और दूसरों को अपने से छोटा समझता है। वह इस बात को पसन्द करता है कि दूसरे लोग उसकी खुशामद करें, उसे बड़ा समझें, उसकी बात मानें, जब इसमें कुछ कमी आती है तो वह अपना अपमान समझता है और क्रोध से सांप की तरह फुसकार ने लगता है । वह नहीं चाहता कि कोई मुझ से धन में, विद्या में, बल में, प्रतिष्ठा में, बड़ा या बराबर का हो, इसलिये जिस किसी को वह थोड़ा सुखी सम्पन्न देखता है उसी से ईर्षा, द्वेष करने लगता है । अहंकार की पूर्ति के लिये अपनी सम्पन्नता बढ़ाना चाहता है । सम्पन्नता सद्गुणों से, श्रम से, लगातार परिश्रम करने से मिलती है । पर अभिमान के नशे मे चूर व्यक्ति इस सीधे साधे मार्ग पर चलने में समर्थ नहीं होता वह अनीति और बेइमानी पर उतर आता है ।

अवमान का अर्थ है—आत्मा की गिरावट । अपने को दीन, तुच्छ, अयोग्य, असमर्थ, समझने वाले लोग संसार में दीन हीन बन कर रहते है । उनकी प्रतिभा कुंठित हो जाती है, कोई साहसिक कार्य उनसे बन नहीं पड़ता । सम्पन्नता प्राप्त करने और अपने ऊपर होने वाले अन्याय को टहाने के लिये जिसे शौर्य की आवश्यकता है वह अवमान ग्रस्त मनुष्य में नहीं होता । फल स्वरूप वह न तो समृद्ध बन पाता है और न अन्याय के चंगुल से छूट पाता है । उसे गरीबी घेरे रहती है और कोई न कोई सताने वाला, आये दिन अपनी

तीरकमान ताने रहता है। इन कठिनाइयों से बचने के लिये उसे निर्बलता परक अनीतियों का आश्रय लेना पड़ता है। चोरी,ठगी, कपट,छल,दंभ, असत्य, पाखंड, व्यभिचार, खुशामद जैसे दीनता सूचक अपराधों को करना पड़ता है। मोह, ममता, भय, आशंका चिन्ता, कातरता, शोक, पश्चाताप, निराशा, कुढ़न, सरीखे मनोविकार उसे घेरे रहते हैं। आत्म ज्ञान एवं आत्म सम्मान, को प्राप्त करना और उनकी रक्षा करने के लिये मनुष्योचित मार्ग अपनाना यह जीवन का सतोगुणी स्वाभाविक क्रम है। यह शृंखला जब विशृंखलित हो जाती है, आत्मिक संतुलन बिगड़ जाता तो पाप करने का सिलसिला चल पड़ता है।

मानसिक संतुलन और समत्व की भावना

मानसिक संतुलन को हम गीता में बतलाई समत्व की भावना भी कह सकते हैं। सब सांसारिक पदार्थों में प्रवृत्ति की हम में जितनी शक्ति होती है उतनी ही जब उनसे निवृत्त होने की भी शक्ति होती है तो उस अवस्था को सन्तुलित और समत्व भावना की अवस्था कह सकते हैं।

इस समत्व को आचरण में उतारने के लिए केवल विरागी अथवा रागहीन होने से ही कार्य न चलेगा। सतुलित अवस्था तो तब होगी जब आप रागहीन होने के साथ-साथ द्वेप हीन भी होंगे। हमारे भारतीय साधुओं ने वही भूल की। वे होने के लिए तो विरागी हो गए पर साथ २ अद्वेपी (अद्वेप्टा) न हुए। राग से बचने की धुन में उन्होंने द्वेप को अपना लिया। संसार के सुख–दुख से सम्बद्ध न होने की चाह में उन्होंने संसार से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और उसकी सेवाओं से अपना मुख मोड़ लिया।

जब दो गुण ऐसे होते हैं जो मनुष्य को परस्पर विपरीत

दिशाओं में प्रवृत्त करते हैं, तो उनके पारस्परिक संयोग से चित्त की जो अवस्था होती है. उसे भी संतुलित अवस्था कहते हैं। दया मनुष्य को दूसरों का दुख दूर करने में प्रवृत्त कराती है पर निर्मोह या निर्ममत्व मनुष्य को दूसरों के सुख दुख से सम्बन्धित होने से पीछे हटाता है। अतएव दया और निर्ममत्व दोनों के एक बराबर होने से चित्त संतुलित होता है। जहाँ दया मनुष्य को अनुरक्त करती है वहां निर्ममता विरक्त। दया में प्रवृत्तात्मक और निर्ममता में निवृत्तात्मक शक्ति है। उसी तरह संतोष और परिश्रम-शीलता एक दूसरे को संतुलित करते हैं। परिश्रम-शीलता में प्रवृत्तात्मक और संतोष मे निवृत्तात्मक शक्ति है। उसी तरह सत्यता और मृदु-भाषिता, सरलता और दृढ़ता, विनय और निर्भीकता, नम्रता और तेज, सेवा और अनासक्ति, शुचिता और घृणाहीनता, स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व, तितिक्षा और आत्म रक्षा, निष्कामता और आलस्यहीनता, अपरिग्रह और द्रव्योपार्जन शक्ति परस्पर एक दूसरे को संतुलित करते है । इन युग्मों में से यदि केवल एक का ही विकास हो और दूसरे के विकास की ओर ध्यान न दिया जावे तो मनुष्य का व्यक्तित्व असंतुलित एवं एकांगी हो जावेगा। श्रद्धालु व्यक्ति मे श्रद्धेय व्यक्ति के अनुगमन करने तथा उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति होती है, स्वतन्त्रता प्राप्त व्यक्ति पर अंकुश न होने से उसमें निरंकुशता और उच्छ्रृंखलता बढ़ सकती है, दृढ़ प्रकृति व्यक्ति में हठ करने की प्रवृत्ति हो सकती है, प्रभुत्व शाली व्यक्ति में अभिमान बढ़ सकता है इत्यादि । अतएव जब तक इन व्यक्तियों में क्रमशः आत्म निर्भरता, उत्तरदायित्व, हठ-हीनता और निरभिमानता का विकास न होगा तब तक पूर्वोक्त गुण अपनी–अपनी सीमा के भीतर न रहेंगे। अतएव उपरोक्त युग्मों में से प्रत्येक गुण एक दूसरे को मर्यादित करता है और एक

दूसरे का पूरक है।

जब मनुष्य में दण्ड देने की सामर्थ्य रहते हुए भी, अपमान सहन करने की क्षमता होती है, जब वह अहिंसा व्रत पालते हुए भी अपराधियों को अधिकाधिक उच्छृंखल, उद्धत, अभिमानी और निष्ठुर नहीं बनने देता, जब वह सेवा व्रती होते हुए भी सेव्यजनों को आलसी परमुखापेक्षी और अकर्मण्य नहीं होने देता, जब वह क्रोध में होते हुए भी अनुशासन और नियन्त्रण बनाए रखना जानता है, जब उसमें भक्ति और उत्साह होते हुये भी दास-वृत्ति और उतावलापन नहीं होता, जब वह सफलता में विश्वास रखते हुए भी कार्य करने में लापरवाही नहीं करता, जब वह त्यागी होते हुये भी विपक्षी का लोभ नहीं बढ़ाता, जब वह मान-सम्मान की परवाह न करते हुये भी लोककल्याण करने वाले शुभ कर्मों के करने में पूर्ण उत्साही होता है, जब वह अपमान से दुखी न होते हुए भी अपमान-जनक कार्य न करने का संयमी एवं आत्मनिग्रही होता है, जब वह शुभकर्मों को करने के लिए बाध्य न होते हुए भी स्वेच्छा से उन्हें तत्परता पूर्वक अच्छी तरह करता है, जब वह किसी कार्य के प्रवृत्त होने के साथ-साथ उससे निवृत्त भी हो सकता है तब उसके चरित्र और गुणावलियों में संतुलन आता है।

जब दो विचार-धाराऐं मनुष्य से भिन्न २ क्षेत्रों में कार्य कराती हैं तब उनके समन्वय से जो स्थिति होती है उसे संतुलित विचार-धारा कहते हैं। आत्म सुख की भावना बहुधा मनुष्य को स्वार्थ मय कर्मों में प्रवृत्त करती है और लोक सुख की भावना लोक कल्याण के कार्यों में। अतएव आत्म सुख और लोक सुख दो विभिन्न दृष्टि-कोण हुये। इनके समन्वय से जो मध्यम-स्थिति उत्पन्न होती है वही संतुलित विचार-पद्धति है। उसी प्रकार जिसकी विचारधारा में पूर्व और पश्चिम के आदर्शों

का समन्वय, भौतिक वाद और अध्यात्मवाद का समन्वय,आदर्श और यथार्थ का समन्वय हुआ है और जो मध्यम मार्ग को अपनाये हुये हैं उसी की विचार-धारा सतुलित है।

जब हम किसी एक ही कार्य के पीछे पड़ जाते हैं अथवा जब हम किसी कार्य में अति करने के कारण दूसरे करणीय कार्यों को भूल जाते हैं तब हमारी कार्य-पद्धति असंतुलित होती है। यदि हम एक दम धन कमाने के पीछे पड़ जावें, अथवा यदि हम केवल पढ़ने पढ़ने में ही अपना सारा समय बिताने लगे तो हमारी कार्य पद्धति असंतुलित होगी। यदि कोई विद्यार्थी अपने हस्तलेखन की केवल गति ही बढ़ाने पर ध्यान दे और अक्षरों की सुन्दरता पर ध्यान न दे तो आप उसके प्रयत्न को क्या कहेंगे ? उसी प्रकार यदि किसी देश में ऐसा कोई आयोजन हो कि केवल शिक्षा की क्वालिटी या उसकी उत्कृष्टता पर ही एक मात्र लक्ष्य हो और इस बात का ध्यान न हो कि शिक्षा अधिक से अधिक संख्या के लोगों को उपलब्ध हो सकें तो उस देश के शिक्षा शास्त्रियों की कार्य पद्धति असंतुलित ही कही जायगी। यही बात मानव जीवन पर भी घटित होती है। हमें केवल ए० ही दिशा में घुड़दौड़ नहीं मचानी चाहिये वरन् सब दिशाओं में समुचित विकाश करते हुये मानसिक संतुलन को बनाये रखना चाहिये। तभी हम अगाध मानसिक शान्ति के दर्शन कर सकेंगे।

'अति सर्वत्र वर्जयेत्'

हमारे प्राचीन शास्त्रकारों तथा नीतिकारों ने जगह-जगह इस बात पर जोर दिया है कि किसी भी काम में 'अति' नहीं करनी चाहिये। यह नियम बुरी बातों पर ही नहीं अनेक अच्छी बातों पर भी लागू होता है। जैसे कहा गया है कि अतिदानवृत्ति के कारण बलि को पाताल में बँधना पड़ा। सम्भव है कि कुछ विशिष्ट आत्माओं के लिये, जो किसी असाधारण उद्देश्य की

पूर्ति के लिये पृथ्वी पर अवतीर्ण होती हैं, यह नियम आवश्यक न माना जाय, पर सर्व साधारण के लिये सदैव मध्यम मार्ग—संतुलित जीवन का नियम ही उचित सिद्ध होता है।

भगवान बुद्ध ने 'मज्झम मग्ग' का—मध्यम मार्ग का—आचरण करने के लिए सर्वसाधारण को उपदेश किया है। बहुत तेज दौड़ने वाले जल्दी थक जाते हैं और बहुत धीरे चलने वाले अभीष्ट लक्ष तक पहुँचने में पिछड़ जाते हैं। जो मध्यम गति से चलता है वह बिना थके, बिना पिछड़े उचित समय पर अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँच जाता है।

हाथी जब किसी नदी को पार करता है तो अपना हर एक कदम बड़ी सावधानी से रखता है। आगे की जमीन को टटोल कर उस पर एक पैर जमाता है—जब देख लेता है कि कोई खतरा नहीं तो उस पर बोझ रखकर पिछले पैरों को हटाता है। इस गति विधि से वह उस भारी काम को पूरा कर लेता है। यदि वह जल्दबाजी करे तो वह गहरे पानी मे डूब सकता है, किसी दलदल में फंस सकता है या किसी गड्ढे में औंधे मुँह पटक खाकर प्राण गंवा सकता है। साथ ही यदि वह कदम बढ़ाने का साहस न करे, पानी की विस्तृत धारा को देखकर डर जाय तो नदी पार नहीं कर सकता। हाथी बुद्धिमान प्राणी है। वह अपने शरीर के भारी भरकम डीलडौल का ध्यान रखता है, नदी पार करने की आवश्यकता अनुभव करता है, पानी के विस्तृत फैलाव को समझता है और पार करते समय आने वाले खतरों को समझता है। इन सब बातों का ध्यान रखते हुए वह अपना कार्य गंभीरता पूर्वक आरम्भ करता है। जहाँ खतरा दीखता है वहाँ से पैर पीछे हटा लेता है और फिर दूसरी जगह होकर रास्ता ढूँढ़ता है। इस प्रकार वह अपना कार्य पूरा कर लेता है।

मनुष्य को भी हाथी की सी बुद्धिमानी सीखनी चाहिये और अपने कार्यों में मध्यम गति से पूरा करना चाहिए। विद्यार्थी कितनी ही उतावली करे एक दो महिने में अपनी शिक्षा पूरी नहीं कर सकता, कर भी लेगा तो उसे जल्दी ही भूल जायगा। क्रमक्रम से, नियतकाल में पूरी की हुई शिक्षा ही मस्तिष्क में सुस्थिर रहती है। पेड़, पौदे, वृक्ष, पशु-पक्षी सभी अपनी नियत अवधि में परिपक्व, फल देने लायक तथा वृद्ध होते है। यदि इस नियत गति विधि में जल्द् बाजी की जाय तो परिणाम बुरा होता है। हमें अपनी शक्ति, सामर्थ्य, योग्यता, मनोभूमि, परिस्थिति आदि को ध्यान में रख कर निर्धारित कार्यों को पूरा करना चाहिए।

बहुत खाना, भूख से ज्यादा खाना बुरा है—इसी प्रकार बिलकुल न खाना भूखे रहना बुरा है। अतिका भोग बुरा है पर अमर्यादित तप भी बुरा है। अधिक विषयी क्षीण होकर असमय में ही मर जाते हैं, पर जो अमर्यादित अतिशय तप करते हैं, शरीर को अत्यधिक कस डालते है वे भी दीर्घ जीवी नहीं होते। अति का कंजूस होना ठीक नहीं, पर इतना दानी होना भी किस काम का कि कल ही खुद को दाने दाने का मुहताज बनना पड़े। आलस्य में पड़े रहना हानिकारक है पर सामर्थ्य से अधिक श्रम करते रह कर जीवनी शक्ति को समाप्त कर डालना भी लाभ-दायक नहीं। कुवेर बनने की तृष्णा में पागल बन जाना या कङ्गाली में दिन काटना दोनों ही स्थितियाँ अवांछनीय हैं।

नित्य मिठाई ही खाने को मिले तो उससे अरुचि के साथ साथ दस्त भी शुरू हो जायेंगे। भोजन में मीठे की मात्रा बिलकुल न हो तो चमड़ी पीली पड़ जायगी। बहुत घी खाने से मन्दाग्नि हो जातीहै पर यदि बिलकुल घी न मिले तो खून खराब हो जायगा। बिलकुल कपड़े न हों तो सर्दी में निमोनियाँ हो जाने

का और गर्मी में लू लग जाने का खतरा है पर जो कपड़ों के परतों से वेतरह लिपटे रहते हैं उनका शरीर पके आम की तरह पीला पड़ जाता है। विलकुल न पढ़ने से मस्तिष्क का विकाश नहीं होता पर दिन रात पढ़ने की धुन मे व्यस्त रहने से दिमाग खराब हो जाता है आंखें कमजोर पड़ जाती हैं।

घोर, कट्टर, असहिष्णु सिद्धान्तवादी, वनने से काम नहीं चलता। दूसरों की भावनाओं का भी आदर करके सहिष्णुता का परिचय देना पड़ता है। अन्ध भक्त बनना या अविश्वासी होना दोनों ही बातें बुरी हैं। विवेक पूर्वक हंस की भांति नीर क्षीर का अन्वेषण करते हुए ग्राह्य और अग्राह्य को प्रथक करना ही बुद्धिमानी है। देश, काल और पात्र के भेद से नीति,व्यवहार और क्रियापद्धति में भेद करना पड़ता है यदि न करें तो हम अतिवादी कहे जायेंगे। अतिवादी-आदर्श तो उपस्थित कर सकते हैं, पर नेतृत्व नहीं कर सकते।

आदर्शवाद हमारा लक्ष होना चाहिए, हमारी प्रगति उसी ओर होनी चाहिए, पर सावधान! कहीं अपरिपक्व अवस्था में ऐसी बड़ी छलांग न लगाई जाय, जिसके परिणाम स्वरूप टांग टूटने की यातना सहनी पड़े। कड़े कार्यो को पूरा करने के लिए मजबूत व्यक्तित्व की आवश्यकता है। मजबूत व्यक्तित्व धैर्यवानों का होता है। उतावली करने वाले छछोरे या रेंगने वाले आलसी नहीं, महत्व पूर्ण सफलताऐं वे प्राप्त करते हैं जो धैर्यवान् होते है, जो विवेक पूर्वक मजबूत कदम उठाते हैं और जो अतिवादके आवेश से वचकर मध्यम मार्ग पर चलने की नीति को अपनाते है। नियमितता, दृढ़ता, एवं स्थिरता के साथ समगति से कार्य करते रहने वाले व्यक्तियों के द्वारा ही उपयोगी संतुलित कार्यों का सम्पादन होता है।

एकांगी विकास की हानियाँ

मानसिक असंतुलन से मनुष्य के व्यक्तित्व का एकांगी विकास होता है। हममें से प्रत्येक व्यक्ति मानसिक रूप से नई परिस्थितियों में फिट होने का प्रयत्न करता रहता है। यदि हम अपने घर, पेशे, वातावरण के अनुसार अपने मानसिक संस्थान को ढाल लेते हैं, तो हमें कार्य में प्रसन्नता और मन में शान्ति प्राप्त होती है, अन्यथा हमारा मन अतृप्त और हमारी आत्मा अशान्त रहती है।

उदाहरण स्वरूप कुछ ऐसे विचार और तथ्य होते हैं, जिनके प्रति हम ईर्षालु हो उठते हैं। हम इन विचारों से बच नहीं सकते। उनके बावजूद हमें इन्हीं विरोधी विचारों में कार्य करना है, उनसे मित्रता करनी है। तभी हमें मानसिक शान्ति प्राप्त हो उठेगी।

मन में आन्तरिक संघर्ष का क्या कारण है ? दो विरोधी विचार, दो विभिन्न दृष्टिकोण हमारे मानसिक क्षितिज पर उदित होते हैं। हमें इन दोनों के बावजूद कार्य करना है संतुलन ही शान्ति का एक मात्र उपाय है।

चोरी करने वाला व्यक्ति वह है जो अपने विचार, भावना और अन्तरात्मा में पारस्परिक संतुलन नहीं कर पाता। उसकी लालच और मोह की प्रवृत्ति अन्तरात्मा को दबा लेती है। वह मोहको लम्बा छोड़ देता है और स्वयं भी उसमें लिपट जाता है। सत्य और न्याय की पुकार दब जाती है। पापमयी वृत्ति की विजय होती है। शैतान बच्चे, झगड़ालू औरतें, सब इस मानसिक रोग के शिकार होते हैं। वे मानसिक जगत को ठीक तरीके से सञ्चालित और संतुलन नहीं कर पाते हैं। कोई विकार इतना तीव्र हो जाता है, जो विवेक बुद्धि को दबा कर, उनके स्वभाव का एक अंग बन जाता है।

मन की क्रियाओं को तीन भागों में विभाजित किया जाता है:— १—भावना, २—विचार, ३—क्रियाएँ। ऐसे बहुत कम व्यक्ति है, जिनमे उपरोक्त तीनों क्रियाओं का पूर्ण सामंजस्य का पूर्ण सतुलन हो। किसी में भावना का अंश अधिक है तो वह भावुकता से भरा है, आवेशो का विचार रहता है। उसकी कमजोरी अति-संवेदन शीलता है। वह जरा-सी भावना को तिल का ताड़ बनाकर देखता है।

विचार प्रधान व्यक्ति दर्शन की गूढ़ गुत्थियों में ही डूबते उतराते रहते हैं। नाना कल्पनाएँ उनके मानस क्षितिज पर उदित अस्त होती रहती है, योजना बनाने का कार्य उनसे खूब करा लीजिए। पर असली काम के नाम से शून्य हैं।

तीसरी प्रकार के व्यक्ति सोचते कम हैं, भावना में नहीं बहते हैं, पर काम खूब करते रहते हैं। इन कार्यों में कुछ ऐसे भी काम वे कर डालते हैं जिनकी आवश्यकता नहीं होती तथा जिनके बिना भी उनका काम चल सकता है।

पूर्ण संतुलित वही व्यक्ति है जिसमें भावना, विचार तथा कार्य, इन तीनों ही तत्वों का पूर्ण सामंजस्य या मेल हो। ऐसा व्यक्ति मानसिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ है।

हमें चाहिए कि हम 'अति' से अपनी रक्षा करें और इस प्रकार असंतुलन से बचे रहें। कहने का तात्पर्य यह है कि अति भावुकता के चक्र में पड़ कर ऐसा न कर डालें, ऐसे वायदे न कर बैठें, जिन्हे बाद में पूर्ण न कर सकें। इतने विचार-प्रधान न बन जांय कि सम्पूर्ण समय सोचते-विचारते, चिंतन करते-करते ही व्यतीत हो जाय। विचार करना उचित है, किन्तु विचारों ही में निरन्तर डूबे रहना और कार्य न करना, हमें मानसिक रूप से आलसी बना डालेगा।

अच्छे व्यक्ति के निर्माण में क्रिया, भावना, तथा विचार-

शक्ति इन तीनों आवश्यक तत्वों का पूर्ण विकास होना चाहिये। जो व्यक्ति काम, क्रोध, आवेश, उद्वेग इत्यादि में निरत रहते हैं, उन्हें इन भावनाजन्य मानसिक व्याधियों का परित्याग करना चाहिए। जो केवल कागजी योजना से और व्योम-विहारिणी कल्पनाओं में लगे रहते हैं, इन्हें सांसारिक दृष्टिकोण से अपनी योजनाओं की सत्यता जांचनी चाहिये। इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों को अपने कार्यों को जीवन में प्रकट करना चाहिए। हम महान पुरुषों में देखते हैं कि उनकी बुद्धि पूर्ण विकास को पहुँच चुकी थी, विचार और इच्छा शक्ति बड़ी बलवती थी और कार्य शक्ति उच्चकोटि की थी। महात्मा गांधी ऐसे संतुलित व्यक्तित्व के उदाहरण थे।

जीवन में संतुलन का महत्व

एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना कीजिए जो हवा के भयङ्कर तूफान में चला जा रहा है। धूल से उसके नेत्र क्षण भर के लिये बन्द हो जाते हैं। अधिमिचे नेत्रों से वह दूसरी ओर बहक जाता है। ठीक मार्ग पर आरूढ़ होना चाहता है किन्तु मार्ग नहीं सूझता।

यही हाल मानव के अन्तर्जगत का है। वह अन्दर ही अन्दर अनेक विरुद्ध भावनाओं का शिकार रहता है। प्रलोभन का माया जाल और वासना की आंधी उसे घेरे रहती है। और वासना तृप्ति के लिए वह इधर-उधर भटकता रहता है। उसे पथभ्रष्ट होते देख उसकी शुभ शक्तियां उसे सचेत करती हैं। यदि उनकी शक्ति अधिक हो तो व्यक्ति बच जाता है, अन्यथा पतन के गर्त में विलीन हो जाता है।

मानव जीवन में अनेक आन्तरिक एवं बाह्य शक्तियों का प्राधान्य है। भावना कहती है—

"अमुक व्यक्ति बड़ी दयनीय स्थिति में है। उसकी सहायता करें, अपने सुख सुविधा, साधनों को न देखें। कर्ण, शिवि, राजा हरिश्चन्द्र का उदाहरण लीजिये। इन महापुरुषों ने दया, करुणा, सहानुभूति और दान द्वारा महान पद प्राप्त किया। हमें भी यही करना चाहिये। अपने सुख सुविधा इत्यादि का कोई ध्यान न रखना चाहिये।"

तर्क आपको रोकता है और कहता है—"क्या पागल हुए हो। सोचो विचारो, दिमाग से काम लो। यदि साधनों का ध्यान छोड़ कर व्यय किया, दूसरों से बड़े-बड़े वायदे किए, तो आफत में फँस जाओगे। भावना में मत बहो। समाज रुपये का आदर करता है।"

विलास भावनाएँ कहती हैं—"अरे मानव तू ने बहुत श्रम कर लिया है। अब कुछ आनन्द मनाले। जीवन का रस ले। बार-बार जीवन आने वाला नहीं है।"

इस प्रकार मानव के आन्तरिक जीवन में भावना, तर्क वासना, शरीर बल, आत्म बल, प्रेम, द्वेष, घृणा इत्यादि परस्पर विरुद्ध शक्तियों का अविराम ताण्डव चलता रहता है। जो इन शक्तियों का उचित समन्वय कर सकता है, वही सफल है।

जीवन में भावना की आवश्यकता है। बिना भावना का मनुष्य मिट्टी या पत्थर का पुतला मात्र बनजाता है। तर्क अर्थात् विवेक की भी आवश्यकता है। जो सोच समझ कर कार्य न करे, बुद्धि से काम न ले, वह तो निरा पशु ही है। इसी प्रकार वासना, घृणा, प्रेम इत्यादि सबका अपने-अपने स्थान पर महत्व है। पर सुख और सफलता मानव की विभिन्न शक्तियों के संतुलन में ही है। असन्तुलन में पराजय में छिपी हुई है।

सिकन्दर महान, जूलियस सीजर और औरङ्गजेब की अत्यन्त बढ़ी महत्वकांक्षाओं का परिणाम हमारे सामने हैं। कर्ण

के पतन का कारण अति भावुकता थी रावण दर्प के कारण मृत्यु को प्राप्त हुआ।

तर्कशील, भावनाशील, कर्मशील—तीनों ही प्रकार के मानव, जीवन में असमर्यादित संतुलन से असफल हो सकते हैं। इसलिए यह ध्यान रखे कि कहीं आपके व्यक्तित्व का एक ही पहलू विकसित न होता रहे। सभी संतुलित रूपमें विकसित होते रहें। अतिरेक त्याज्य है। ध्येय और व्यवहार, कर्म और भावना, परिश्रम और विश्राम, तर्क और कार्य इन सभी द्वन्दों में उचित समन्वय का नाम ही जीवन है।

उत्तेजना के दुष्परिणाम।

कहते हैं आदिम जातियों में एक बड़ी मानसिक कमजोरी रहती है, जिसे उत्तेजना कहा जाता है। आदिम जातियों में नृशंस हत्याओं और मारपीटों का विशेष कारण यही उत्तेजना होता है। लड़का यदि अपने पिता से क्रुद्ध और उत्तेजित हो उठा तो एक ही आवेश में वह पिता की हत्या कर बैठता है। यही स्थिति पिता अथवा अन्य कुटुम्बियों की है। क्रोध पर ये काबू कर नहीं पाते और क्षणिक आवेश में हत्या, मारपीट खून-खराबी हो जाती है। छोटी-छोटी बातों पर लड़ाई-झगड़े चलते रहते हैं, पारस्परिक कटुता की अभिवृद्धि होती रहती है, एक दूसरे के प्रति वैर, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, घृणा इत्यादि विषैले मनोविकार पनपते रहते हैं।

उत्तेजना क्या है? इसका विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि यह उद्वेग का आधिक्य है। साधारणतः व्यक्ति दो प्रकार के होते है—एक तो वे जिन्हें 'मोटी चमड़ी' का कह सकते हैं। इन व्यक्तियों में भावनाएँ

कम होती हैं। इन्हें कुछ कह दीजिए इनके मन में कोई प्रभाव न पड़ेगा। गाली गलौज या मानहानि से भी वे उत्तेजित न होंगे। ये भावना के आक्रोश में नहीं रहते। क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, क्षणिक आवेश का इन पर कोई शीघ्रव्यापी प्रभाव नहीं होता।

दूसरे व्यक्ति भावुक और अति उद्विग्न होते हैं। मक्खन की तरह कोमल, छुईमुई के पौधे के समान संवेदनशील भावना की अधिकता इनकी दुर्बलता है। भावना अर्थात् क्रोध, प्रेम, वात्सल्य दया, ईर्ष्या इत्यादि मनोविकारों को गहराई से अनुभव करना और उन्हीं के वश में इतना हो जाना कि स्वयं अपनी विवेक बुद्धि को भी खो डालना, लाभ-हानि या अन्तिम परिणाम का खयाल न रखना इनकी कमजोरी है। जो गुण एक कवि में सौभाग्य का विषय है, वही मनोविकारों के ऊपर नियन्त्रण न कर सकने वाले व्यक्ति के लिए एक अभिशाप है। ये अपनी उत्तेजनाओं के ऊपर विवेक बुद्धि का नियन्त्रण नहीं कर पाते और स्वयं उनके वशीभूत हो जाते हैं।

उत्तेजना एक क्षणिक पागलपन है। यह भावना का ताण्डव नृत्य है, उद्वेग की एक आंधी है, ईर्ष्या, क्रोध, प्रतिशोध का एक भयंकर तूफान है, जिसे निर्बल इच्छा-शक्ति वाला व्यक्ति सम्हाल नहीं पाता, अपने आपको खो देता है।

उत्तेजना की आंधी में बुद्धि विवेकशून्य तथा निश्चेष्ट हो जाती है, यह उत्तरोत्तर बढ़कर शरीर पर पूरा अधिकार कर लेती है। भावना के उद्वेग मे नीर-क्षीर विवेक का ज्ञान लुप्त हो जाता है। उत्तेजक स्वभाव वाला व्यक्ति दूरदर्शिता को खो बैठता है। कभी-कभी उसे अपनी शक्तियों का ज्ञान तक नहीं रहता। कमजोर व्यक्ति भी उत्तेजना का शिकार होकर मजबूत व्यक्ति से लड़ बैठते है। बातों बातों में उग्र हो जाते है। हाथापाई की

नौबत आ जाती है। जिससे व्यर्थ की हानि उठानी पड़ती है।

संतुलित जीवन की विघातक प्रवृत्तियाँ

संतुलित जीवन के शत्रु हमारे आन्तरिक मनोविकार ही होते हैं। ये शत्रु हमारे मन के विभिन्न स्तरों में निवास करते हैं और प्रत्येक व्यक्ति में थोड़ी बहुत मात्रा में विद्यमान रहते हैं। जो मनुष्य इनसे जितने अंशों में मुक्ति पा जाता है, वह उतना ही सभ्य और सुसंस्कृत समझा जा सकता है। इसलिये मनुष्य का कर्तव्य है कि इन शत्रुओं—मन की कुप्रवृत्तियों को जहाँ तक संभव हो नियंत्रण में रखे।

ये शत्रु हैं क्रोध, घृणा, द्वेप, काम, मद, लोभ, मोह। इन दुर्गुणों को स्वच्छन्दता देने से मानसिक विप सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है, बुद्धि मे तमोगुण का प्राचुर्य होता है और मनुष्य भ्रम वश सत् असत् का विवेक नहीं कर पाता। इन शत्रुओं में कोई एक भी यदि बढ़ जाय तो सर्वनाश करने में पूर्ण समर्थ है। ये मानसिक विप यदि वहिर्गत न किये गये तो आयु पर्यन्त मनुष्य के साथ रहेंगे, सदा उसे आन्तरिक ज्वाला में दग्ध करते रहेंगे, और न जाने कितनी वार जन्म मरण की मार्मिक पीड़ा देंगे। मनुष्य की नाना प्रवृत्तियों के नीचे ये विकार पाये जाते हैं। ये मानसिक विप प्रायः दुर्भावनाओं की जटिल मानसिक ग्रंथियां बन जाते हैं, मस्तिष्क में संघर्प उत्पन्न कर देते हैं और अनेक जटिल व्याधियों के रूप में प्रकट होते हैं।

प्रायः इन मानसिक शत्रुओं से ग्रसित व्यक्ति को यह ज्ञान नहीं रहता कि वह उनके पंजे मे है या नहीं। क्रोधी स्वयं नहीं जानता कि वह ईर्ष्या की भट्ठी में जल रहा है, कामी नहीं समझता कि वीर्य नाश द्वारा वह अपने स्वाध्य, आयु और

शरीर को जर्जर बना रहा है। कंजूस माया के मोह में फँसकर विवेक बुद्धि को शून्य बना लेता है। कभी-कभी तमोगुण के अधिकार में रहने के कारण मनुष्य इन दुर्गुणों में ही सुख और सन्तोष की भावना करने लगता है। मनुष्य भ्रमवश, व्यक्ति से, समाज से, जाति और राष्ट्र से असूया, घृणा करने में अपने गौरव की रक्षा मानता है, द्वेष करने में अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा होते देखता है, कामनाओं के पोषण करने का नाम प्रगति रखता है, अन्दर बसी हुई क्रोध की वृत्ति को तेज मानने लगता है, मान का नाम आत्म सम्मान रखकर उसकी रक्षा करना अपना कर्तव्य समझने लगता है, लोभ को अपनी उन्नति का साधन समझता है, मोह का नाम प्रेम रखकर जीवन को बर्बाद कर देना आदर्श मानता है। इसलिये ये दुर्गुण ऐसे मनुष्यों में बढ़ते चले जाते है।

इन मानसिक शत्रुओं की पारस्परिक घनिष्ठता है। एक के आने पर दूसरा स्वयं आता है। एक दूसरे के लिए मैदान तैयार करता है। मोह से ईर्ष्या और डाह उत्पन्न होते हैं, द्वेष से वैर सृष्टि होती है, क्रोध, मद और अभिमान उत्पन्न करता है, घृणा से द्वेष का दुर्भाव पैदा होता है। इन मनोविकारों का द्वन्द नाना विषयों के अनुसार अनेक रूपों में प्रकट होता है। विचार की मूल अनुभूति ही विषय भेद के अनुसार क्रोध, भय, घृणा, मद, लोभ, मोह, मात्सर्य इत्यादि मनोविकारों का जटिल रूप धारण करती है।

क्रोध पतन की ओर ढकेलता है।

क्रोध का सम्बन्ध मन के अन्य विकारों से घनिष्ट है। क्रोध के वशीभूत होकर हमें उचित अनुचित का विवेक नहीं रहता और हम हाथापाई कर उठते हैं, बातों-बातों ही में

उखड़ उठना, लड़ाई झगड़ा साधारण सी बात है। यदि तुरन्त क्रोध का प्रकाशन हो जाय, तब तो मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से ठीक है, पर यदि वह अन्तःप्रदेश मे पहुँच कर एक भावना ग्रन्थि बन जाय, तो बड़ी दुखदायी होती है। बहुत दिनों तक टिका हुआ क्रोध वैर कहलाता है। वैर एक ऐसी मानसिक बीमारी है जिसका कुफल मनुष्य को दैनिक जीवन में भुगतना पड़ता है। वह अपने आपको संतुलित नहीं रख पाता। जिससे उसे वैर है, उसके उत्तम गुण, भलाई, पुराना प्रेम, उच्च संस्कार इत्यादि सब विस्मृत कर बैठता है। स्थायी रूप से एक भावना ग्रन्थि बन जाने से क्रोध का वेग तो धीमा पड़ जाता है किन्तु दूसरे व्यक्ति को सजा देने, नुकसान पहुंचाने या पीड़ित करने की कुत्सित भावना निरन्तर मन को दग्ध किया करती है।

वैर पुरानी जीर्ण मानसिक बीमारी है, क्रोध तत्कालीन और क्षणिक प्रमाद है। क्रोध में पागल होकर हम सोचने का समय नहीं देखते, वैर उसके लिए बहुत समय लेता है– क्रोध में अस्थिरता, क्षणिकता, तत्कालीनता, बुद्धि का कुंठित हो जाना, उद्विग्नता, आत्म रक्षा, अहंकार की पुष्टि, असहिष्णुता, दूसरे को दण्डित करने की भावनाएँ संयुक्त हैं।

क्रोध मन को एक उत्तेजित और खिंची हुई स्थिति में रख देता है जिसके परिणाम स्वरूप मन दूषित विकारों से भर जाता है। क्रोध से प्रथम तो उद्वेग उत्पन्न होता है। मन एक गुप्त किन्तु तीव्र पीड़ा से दग्ध होने लगता है। रक्त में गर्मी आ जाती है, और उसका प्रवाह बड़ा तेज हो जाता है। इस गर्मी में मनुष्य के शुभ भाव-दया, प्रेम, सत्य, न्याय विवेक, बुद्धि जल जाते हैं।

क्रोध एक प्रकार का भूत है जिसके सवार होते ही मनुष्य आपे में नहीं रहता। उस पर किसी दूसरी सत्ता का प्रभाव हो जाता है। मन की निम्न वृत्तियाँ उस पर अपनी राक्षसी माया चढ़ा देती हैं, वह बेचारा इतना हतबुद्धि हो जाता है कि उसे यह ज्ञान नहीं रहता कि वह क्या कर रहा है।

आधुनिक मनुष्य का आन्तरिक जीवन और मानसिक अवस्था अत्यन्त विक्षुब्ध है, दूसरों में वह शत्रु देखता है, उनसे हानि होने की कुकल्पना में डूबा रहता है, जीवन पर्यन्त इधर उधर लुढ़कता, ठुकराया जाता रहता है, शोक दुःख, चिन्ता, अविश्वास, उद्वेग, व्याकुलता आदि विकारों के वशीभूत होता रहता है। ये क्रोध जन्य मनोविकार अपना विष फैलाकर मनुष्य का जीवन विषैला बना रहे हैं। उसकी आध्यात्मिक शक्तियों का शोषण कर रहे हैं। शान्ति का सबसे बड़ा विघ्न क्रोध नाम का राक्षस ही है।

क्रोध शान्ति भंग करने वाला मनोविकार है। एक बार क्रोध आते ही मन की अवस्था विचलित हो उठती है, श्वासोच्छ्वास तीव्र हो उठता है, हृदय विक्षुब्ध हो उठता है। यह अवस्था आत्मिक विकास के विपरीत है। आत्मिक उन्नति के लिये शान्ति, प्रसन्नता, प्रेम और सद्भाव चाहिए।

जो व्यक्ति क्रोध के वश में है, वह एक ऐसे दैत्य के वश में है, जो न जाने कब मनुष्य के पतन के मार्ग में ढकेल दे। क्रोध तथा आवेश के विचार आत्मबल का ह्रास करते हैं।

ईर्षा की आन्तरिक अग्नि

ईर्षा वह आन्तरिक अग्नि है जो अन्दर ही अन्दर

दूसरे की उन्नति या बढ़ती देखकर हमें भस्मीभूत किया करती है। दूसरे की भलाई या सुख देखकर मन में जो एक प्रकार की पीड़ा का प्रादुर्भाव होता है, उसे ईर्ष्या कहते हैं।

ईर्षा एक संकर मनो-विकार है जिसकी संप्राप्ति आलस्य, अभिमान और नैराश्य के संयोग या जोड़ से होती है। अपने आपको दूसरे से ऊँचा मानने की भावना अर्थात् मनुष्य का 'अहं' इसके साथ संयुक्त होता है।

ईर्षा मनुष्य की हीनत्व भावना से संयुक्त है। अपनी हीनत्व भावना ग्रन्थि के कारण हम किसी उद्देश्य या फल के लिए पूरा प्रयत्न तो कर नहीं पाते, उसकी उत्तेजित इच्छा करते रहते हैं। हम सोचते हैं—'क्या कहें हमारे पास अमुक वस्तु या चीज होती ? हाय ! वह चीज उसके पास तो है, हमारे पास नहीं ? वह वस्तु यदि हमारे पास नहीं है, तो उसके पास भी न रहे।'

ईर्षा व्यक्तिगत होती है। इसमें मनुष्य दूसरे की बुराई अपकर्ष, पतन, बुराई, त्रुटि की भावनाएं मन में लाता है। स्पर्धा ईर्षा की पहली मानसिक अवस्था है। स्पर्धा की अवस्था में किसी सुख, ऐश्वर्य, गुण, या मान से किसी व्यक्ति विशेप को सम्पन्न देख अपनी त्रुटि पर दुःख होता है, फिर प्राप्ति की एक प्रकार की उद्वेग पूर्ण इच्छा उत्पन्न होती है। स्पर्धा वह वेगपूर्ण इच्छा या उत्तेजना है, जो दूसरे से अपने आपको बढ़ाने मे हमें प्रेरणा देती है। स्पर्धा बुरी भावना नहीं। यह वस्तुगत है। इसमें हमें अपनी कमजोरियों पर दुख होता है। हम आगे बढ़कर अपनी निर्बलता को दूर करना चाहते हैं।

स्पर्द्धा व्यक्ति विशेप से होती है। ईर्ष्या उन्हीं से होती

है जिनके विपय में यह धारणा होती है कि लोगों की दृष्टि उन पर अवश्य पड़ेगी या पड़ती होगी। ईर्षा के संचार के लिए पात्र के अतिरिक्त समाज की भी आवश्यकता है। समाज में उच्च स्थिति, दूसरों के सम्मुख अपनी नाक ऊँची रखने के लिए ईर्षा का जन्म होता है। हमारे पास वहवस्तु न देखकर भी मनोविक र का संचार हो जाता है।

ईर्ष्या मे क्रोध का भाव किसी न किसी प्रकार मिश्रित रहता है। ईर्षा के लिए कहा भी जाता है कि "अमुक व्यक्ति ईर्षा से जल रहा है।" साहित्य में ईर्ष्या को संचारी रूप में समय २ पर व्यक्त किया जाता है। पर क्रोध विल्कुल जड़ भाव है। जिसके प्रति हम क्रोध करते हैं, उसके मानसिक उद्देश्य पर ध्यान नहीं देते। असम्पन्न ईर्षा वाला केवल अपने को नीचा समझे जाने से वचने के लिए आकुल रहता है। धनी व्यक्ति दूसरे को नीचा देखना चाहता है।

ईर्ष्या दूसरे की असम्पन्नता की इच्छा की अपूर्ति से उत्पन्न होती है। यह अभिमान को जन्म देगी, अहंकार की अभिवृद्धि करेगी, और कुढ़न का ताना वाना बुनेगी। अहंकार से आहत होकर हम दूसरे की भलाई न देख सकेंगे। अभिमान में मनुष्य को अपनी कमजोरियां नहीं दीखती। अभिमान का कारण अपने विपय में वहुत ऊँची मान्यता धारण कर लेना है। ईर्ष्या उसी की सहगामिनी है।

ईर्ष्या द्वारा हम मन ही मन दूसरे की उन्नति देखकर मानसिक दुःख का अनुभव किया करते हैं। अमुक मनुष्य ऊँचा उठता जा रहा है। हम यों ही पड़े हैं, उन्नति नहीं कर पा रहे हैं। फिर वह भी क्यों इस प्रकार उन्नति करे। उसका कुछ बुरा होना चाहिये। उसे कोई दुःख, रोग, शोक,

कठिनाई, अवश्य पड़नी चाहिये। उसकी बुराई हमें करनी चाहिये। यह करने से उसे अमुक प्रकार से चोट लगेगी। इस प्रकार की विचार धारा से ईर्ष्या निरन्तर मन को क्षति पहुँचाती है। अशुभ विचार करने से, सद्प्रवृत्तियों तथा प्राण-शक्ति का क्रमशः ह्रास होने लगता है।

ईर्ष्या से उन्मत्त हो मनुष्य धर्म, नीति, तथा विवेक का मार्ग त्याग देता है। उन्मादावस्था-सी उसकी साधारण अवस्था हो जाती है और दूसरे लोगों की उन्माद और साधारण अवस्था उसे अपवाद के सदृश्य प्रतीत होती है। मस्तिष्क में ईर्ष्या नामक विकार से नाना प्रकार की विकृत मानसिक अवस्थाओं की उत्पत्ति होती है। भय, घबराहट, भ्रम—ये सब मनुष्य की ईर्ष्या और विवेक बुद्धि के अपकर्ष से उत्पन्न होते हैं।

प्रत्येक क्रिया से प्रतिक्रिया की उत्पत्ति होती है ईर्ष्या की क्रिया से मन के बाह्य वातावरण में जो प्रतिक्रियाऐं उत्पन्न होती हैं, वे विषैली होती हैं। आपकी अपवित्र भावनाऐं इर्द गिर्द के वातावरण को दूषित कर देती हैं। वातावरण विषैला होने से सब का अपकार होता है। जो ईर्ष्या की भावनाऐं आपने दूसरों के विषय में निर्धारित की हैं, सम्भव है, दूसरे भी प्रतिक्रिया स्वरूप वैसी ही धारणाऐं आपके लिए मन में लायें।

निराशा हमारी महान शत्रु है

निराशावाद उस महा भयंकर राक्षस के समान है जो मुँह फाड़े हमारे इस परम आनन्दमय जीवन के सर्वनाश की ताक में रहता है, जो हमारी समस्त शक्तियों का ह्रास किया करता है, जो हमें आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर नहीं

होने देता और जीवन के अन्धकारमय अंश हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया करता है। हमें पग-पग पर असफलता ही असफलता दिखाता है और विजय द्वार में प्रविष्ट नहीं होने देता।

इस बीमारी से ग्रस्त लोग उदास, खिन्न मुद्रा लिए घरों के कोने में पड़े दिन रात मक्खियां मारा करते हैं। ये व्यक्ति ऐसे चुम्बक हैं जो उदासी के विचारों को निरन्तर अपनी ओर आकर्षित किया करते हैं और दुर्भाग्य की कुत्सित डरपोक विचार धारा में निमग्न रहा करते हैं। उन्हें चारों ओर कष्ट ही कष्ट दीखते हैं, कभी यह, कभी वह, एक न एक भयङ्कर विपत्ति आती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। वे जब बातें करते हैं तो अपनी यंत्रणाओं, विपत्तियों और क्लेशपूर्ण अभद्र प्रसङ्ग छेड़ा करते हैं। हर व्यक्ति से वह यही कहा करते हैं कि "भाई हम क्या करें, हम कमनसीब हैं, हमारा भाग्य फूटा हुआ है, दैव हमारे विपरीत है, हमारी किस्मत में विधि ने ठोकरों का ही विधान रखा है। तभी तो हमें थोड़ी २ दूर पर लज्जित और परेशान होना, अशान्त क्षुब्ध और विक्षिप्त होना पड़ता है।" उनकी चिंतित मुख मुद्रा देखने से यही विदित होता है मानों उन्होंने उस पदार्थ से गहरा सम्बन्ध स्थिर कर लिया हो, जो जीवन की सब मधुरता नष्ट कर रहा हो, उनके सोने जैसे जीवन का समस्त आनन्द छीन रहा हो, उन्नति के मार्ग को कंटकाकीर्ण कर रहा हो। मानों समस्त संसार की दुःख विपत्ति उन्हीं के सर पर आ पड़ी हो। और उदासी की अन्धकारमय छाया ने उनके हृदय पटल को काला बना दिया हो।

इसके विपरीत आशावाद मनुष्य के लिए अमृत तुल्य

है। जैसे तृषित को शीतल जल से, रोगी को औषधि से, अन्धकार को प्रकाश से, वनस्पति को सूर्य से लाभ होता है, उसी भांति आशावाद की संजीवनी बूंटी से मृतप्राय मनुष्य में जीवन शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। आशावाद वह दिव्य प्रकाश है जो हमारे जीवन को उत्तरोत्तर परिपुष्ट, समृद्धशाली और प्रगतिशील बनाता है। सुख सौंदर्य एव अलौकिक छटा से उसे विभूपित कर उसका पूर्ण विकास करता है। उसमें माधुर्य का सचार कर विघ्न-बाधा, दुःख क्लेशों और कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कराने वाली गुप्त मनः शक्ति जागृत करता है। आत्मा की शक्ति से देदीप्यमान आशावादी उम्मीद का पल्ला पकड़े प्रलोभनों को रौंदता हुआ अग्र र होता है। वह पग–पग पर विचलित नहीं होता, उसे कोई पराजित नहीं कर सकता, संसार की कोई शक्ति उसे नही दबा सकती क्योंकि सब शक्तियों का विकाश करने वाली "आशा" की शक्ति सदैव उसकी आत्मा को तेजोमय करती है।

संसार के कितने ही व्यक्ति अपने जीवन को उचित श्रेष्ठ, और श्रेय के मार्ग पर नहीं लगाते। वे किसी एक उद्देश्य को स्थिर नहीं करते, न ये अपने मानसिक संकल्प को इतना दृढ़ ही बनाते हैं कि निज प्रयत्नो में सफल हो सकें। सोचते कुछ और हैं और करते कुछ और हैं। काम किसी एक पदार्थ के लिए करते हैं, आशा किसी दूसरे की ही करते हैं करील के वृक्ष बोकर आम खाने की अभिलाषा रखते है। हाथ में लिये हुए कार्य के विपरीत मानसिक भाव रखने से हमें अपनी निर्दिष्ट वस्तु कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। बल्कि हम इच्छित वस्तु से और भी दूर जा पड़ते हैं। तभी तो नाकामयाबी, लाचारी, तंगी, क्षुद्रता प्राप्त होती है।

अपने को भाग्यहीन समझ लेना, बेबसी की बातों को लेकर झींकना और दूसरों की इष्ट सिद्धि पर कुढ़ना हमें सफलता से दूर ले जाता है, विरोधी भाव रखने से मनुष्य उन्नत अवस्था में कदापि नहीं पहुँच सकता। संसार के साथ अविरोधी रहो, क्योंकि विरोध ससार को उत्कृष्ट वस्तुओं को अपने निकट नहीं आने देता और अविरोध उत्कृष्ट वस्तुओं का आकर्षक बिन्दु है।

चिड़चिडापन और रूखापन

मानव स्वभाव के दुर्गुणों में चिड़चिड़ापन आन्तरिक मन की दुर्बलता का सूचक है। सहिष्णुता के अभाव में मनुष्य बात-बात में बिगड़ने लगता है, नाक भौं सकोड़ता है, प्रायः गाली गलौज देता है। मानसिक दुर्बलता के कारण वह समझता है कि दूसरे उसे जान बूझ कर परेशान करना चाहते हैं, उसके दुर्गुणों को देखते हैं, उसका मजाक उड़ाते हैं। किसी पुरानी अनुभूति के फलस्वरूप वह अधिक संवेदनशील हो उठता है और उसकी भावना ग्रन्थियां उसकी गाली गलौज या बेढंगे व्यापारों में प्रकट होती हैं।

चिड़चिड़ेपन के रोगी में चिन्ता तथा शक शुबे की आदत प्रधान है। कभी २ शारीरिक कमजोरी के कारण, कब्ज, परिश्रम से थकान, सिरदर्द, नपुंसकता के कारण आदमी तिनक उठता है। अपनी कठिनाइयों तथा समस्याओं से उद्दीप्त होकर देखते-देखते उसे गहरी निराशा हो जाती है। चिड़चिड़ापन एक पेचीदा मानसिक रोग है। अतः प्रारम्भ से ही इसके विषय में हमें सावधान रहना चाहिये।

जिस व्यक्ति में चिड़चिड़ेपन की आदत है वह सदा दूसरों के दोष ढूंढ़ता रहता है। वह व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की दृष्टि में

तो बुरा होता ही है, स्वयं भी एक अव्यक्त मानसिक उद्वेग का शिकार रहता है। उसके मन में एक प्रकार का संघर्ष चला करता है। वह भ्रमित कल्पनाओं का शिकार रहता है। उसके संशय ज्ञान-तन्तुओं पर तनाव डालते हैं। भ्रम बढ़ता रहता है और वह मनमें ईर्षा की अग्नि में दग्ध होता रहता है। वह क्रोधित, भ्रान्त, दुःखी-सा नजर आता है। तनिक-सी बात में उद्विग्नता का वारापार नहीं रहता। गुप्त मन पर प्रारम्भ में जैसे संस्कार जम जाते हैं, उनके फलस्वरूप ऐसा होता है। यह आदत से बढ़नेवाला एक संस्कार है जो मनुष्य को सदैव असंतुलित बनाता रहता है।

रूखापन जीवन का सबसे बड़ा शत्रु है। कई आदमियों का स्वभाव बड़ा नीरस, रूखा, शुष्क, निष्ठुर, कठोर और अनुदार होता है। उनका आत्मीयता का दायरा बहुत ही छोटा होता है। उस दायरे से बाहर के व्यक्तियों तथा पदार्थों में उन्हें कुछ दिलचस्पी नहीं होती, किसी के हानि लाभ उन्नति अवनति, खुशी रञ्ज, अच्छाई बुराई से उन्हे कोई मतलब नहीं होता। अपने अत्यन्त ही छोटे दायरे में स्त्री, पुत्र, तिजोरी, मोटर मकान आदि में उन्हे थोड़ा रस जरूर मिलता है। शेष वस्तुओं के प्रति उनके मन में बहुत ही अनुदारतापूर्ण रूखाई होती है। कोई २ तो इतने कंजूस होते हैं कि अपने शरीर के अतिरिक्त अपनी छाया पर भी उदारता या कृपा नहीं दिखाना चाहते। ऐसे रूखे आदमी यह समझ ही नहीं सकते कि मनुष्य जीवन मे कोई आनन्द भी है। अपने रूखेपन के प्रत्युत्तर में दुनियाँ उन्हे बड़ी रूखी, नीरस, कर्कश, खुदगर्ज कठोर और कुरूप मालूम पड़ती है।

रूखापन जीवन की सबसे बड़ी कुरूपता है। रूखी रोटी में क्या मजा है, रूखे बाल कैसे भद्दे लगते हैं, रूखी मशीन मे

बड़ी आवाज होती है, पुर्जे जल्दी ही टूट जाते हैं। रूखे रेगिस्तान में कौन रहना पसन्द करेगा ? 'प्राणिमात्र सरसता के लिये तरस रहा है। सौभाग्य के लिये, सरसता, स्निग्धता की आवश्यकता है। मनुष्य का अन्तःकरण रसिक है, कवि है, भावुक है, सौदर्य उपासक है, कलाप्रिय है, प्रेममय है। मानव-हृदय का यही गुण है। सुहृदयता का अर्थ कोमलता, मधुरता, आद्रता है, जिनमें यह गुण नहीं उसे हृदय हीन कहा जाता है। हृदयहीन के अर्थ हैं 'जड़-पशुओं से भी नीचा।" नीरस व्यक्ति को पशुओं से भी नीचा माना गया है।

जिसने अपनी विचार-धारा और भावनाओं को शुष्क, नीरस और कठोर बना रखा है, वह मानव जीवन के वास्तविक रस का आस्वादन करने से वञ्चित ही रहेगा। उस बेचारे ने व्यर्थ ही जीवन धारण किया और वृथा ही मनुष्य शरीर को कलंकित किया। आनन्द का स्रोत सरसता की अनुभूतियों में है। परमात्मा को आनन्दमय कहा गयाहै। क्यों ? इसलिए कि वह सरस है, प्रेममय है श्रुति कहती है—'रसोवैसः' अर्थात् परमात्मा रसमय है। उसे प्राप्त करने के लिये अपने अन्दर वैसी ही लचीली, कोमल, स्निग्ध, सरस भावनाऐं उत्पन्न करनी पड़ती हैं।

आप अपने हृदय को कोमल, द्रवित, पसीजने वाला, दयालु, प्रेमी और सरस बनाये। संसारके पदार्थों में जो सरसता का, सौंदर्य का अपार भण्डार भरा हुआ है, उसे ढूंढ़ना और प्राप्त करना सीखिये । अपनी भावनाओं को जब आप कोमल बना लेते हैं तो आपको अपने चारों ओर अमृत झरता हुआ अनुभव होने लगता है।

———

जीवन को सुखी बनाने का मार्ग

उपरोक्त विवेचन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि हमको संसार मे सुख और शान्ति का जीवन व्यतीत करना है तो सदैव उन मनोविकारों को नियन्त्रण मे रखना आवश्यक है जो हमारे मानसिक सन्तुलन को नष्ट करके, हमको एकांगी बनाकर, हमें पतन की ओर अग्रसर करते हैं। सुख और दुख संसार मे अवश्यम्भावी हैं, इसी प्रकार किसी न किसी दृष्टि से किञ्चित छोटा-बड़ा होना भी प्रकृति में प्रायः देखा जाता है। पर इन बातों के कारण मन में क्रोध, ईर्षा, निराशा आदि का भाव उत्पन्न करना हमारा मानसिक दुर्गुण है। मनुष्य वही है जो सब प्रकार की परिस्थितियों में शांत रहकर अपने कर्तव्य का पालन करता चला जाता है। यदि आप इस नियम पर आचरण करेंगे तो दुःख के दिन, विपरीत घटनायें सहज ही निकल जायेंगे। ऐसे अवसर पर मानसिक सन्तुलन स्थिर रखना और शांति तथा दृढ़ता से विघ्न-बाधाओं का प्रतिकार करना ही हमारे लिये सर्वाधिक हितकारी होता है।

मुद्रक—हरीहर इलैक्ट्रिक मशीन प्रेस, मथुरा।

जीवन को सुख-शान्तिमय बनाने वाला साहित्य

(मूल्य प्रत्येक पुस्तक का छः-छः आना है)

१-सूर्यचिकित्सा विज्ञान २-प्राणचिकित्सा विज्ञान ३-स्वस्थ बनने की विद्या ४-भोग में योग ५-बुद्धि बढ़ाने के उपाय ६-आसन और प्राणायाम ७-तुलसी के अमृतोपम गुण ८-महान जागरण ९-तुम महान हो १०-घरेलू चिकित्सा ११-दीर्घ जीवन के रहस्य १२-नेत्रो की प्राकृतिक चिकित्सा १३-स्वप्न दोष को मनोवैज्ञानिक चिकित्सा १४-दूध की आश्चर्यजनक शक्ति १५-उन्नति का मूलमन्त्र ब्रह्मचर्य १६-उपवास के चमत्कार १७-स्त्री रोग चिकित्सा १८-बालरोग चिकित्सा १९-कब्ज की चिकित्सा २०-निरोग जीवन का राजमार्ग २१-चिरस्थाई यौवन २२-सौन्दर्य बढ़ाने के ठोस उपाय २३-मनुष्य शरीर की बिजली के चमत्कार २४-पुत्र पुत्री उत्पन्न करने की विधि २५-हमारी पारिवारिक समस्याएं २६-मन चाही सन्तान २७-दाम्पत्ति जीवन का सुख २८-हमारे आन्तरिक शत्रु २९-क्या खायें ? क्यों खायें ? कैसे खायें ? ३०-हमारे सभ्यता के कलङ्क ३१-धनवान बनने के गुप्त रहस्य ३२-मरने के बाद हमारा क्या होता है ? ३३-मित्रभाव बढ़ाने की कला ३४-आकृति देखकर मनुष्य की पहिचान ३५- हमें स्वप्न क्यों दीखते हैं ? ३६-विचार करने की कला ३७-हम वक्ता कैसे बन सकते हैं ? ३८-सफलता के तीन साधन ३९-जिंदगी कैसे जिएं ४०-प्रसिद्धि और समृद्धि ४१-ईश्वर कौन है ? कहाँ है कैसा है ? ४२-क्या धर्म ? क्या अधर्म ? ४३-ईश्वर और स्वर्ग प्राप्ति का सच्चा मार्ग ४४-भारतीय संस्कृति का बीज मंत्र यज्ञोपवीत ४५-यज्ञोपवीत द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति ४६-मैं क्या हूँ ? ४७-वशीकरण की सच्ची सिद्धि ४८-ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग।

सहयोग और सहिष्णुता

लेखक—
श्रीराम शर्मा आचार्य
गायत्री तपोभूमि, मथुरा।

ॐ भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि
धियो यो नः प्रचोदयात्।

प्रकाशक—
"अखण्ड ज्योति" प्रेस, मथुरा।

प्रथम बार] सन् १९५८ [मूल्य ।)

सहयोग और सहिष्णुता

गायत्री का दसवां अक्षर 'गो' अपने आस-पास वालों से सहयोग करने और सहिष्णु बनने की शिक्षा देता है—

गोप्याः स्वयां मनोवृत्तीर्नासहिष्णुर्नरो भवेत्।
स्थिति मन्यस्य वै वीक्ष्य तदनुरूप माचरेत् ॥

अर्थात्—"अपने मनोभावों को छिपाना नहीं चाहिए, आत्मीयता का भाव रखना चाहिए। मनुष्य को असहिष्णु नहीं होना चाहिए। दूसरों की परिस्थिति का ध्यान रखना चाहिए।"

अपने मनोभाव और मनोवृत्ति को छिपाना ही छल, कपट और पाप है। जैसा भाव भीतर है वैसा ही बाहर प्रकट कर दिया जाय तो वह पापनिवृत्ति का सबसे बड़ा राजमार्ग है। स्पष्ट और खरी कहने वाले, पेट में जैसा है वैसा ही मुँह से कह देने वाले लोग चाहे किसीको कितने ही बुरे लगें पर वे ईश्वर और आत्मा के आगे अपराधी नहीं ठहरते।

जो आत्मा पर असत्य का आवरण चढ़ाते हैं, वे एक प्रकार के आत्म हत्यारे हैं। कोई व्यक्ति यदि अधिक रहस्यवादी हो, अधिक अपराधी कार्य करता हो तो भी उसके अपने कुछ ऐसे विश्वासी मित्र अवश्य होने चाहिए जिसके आगे अपने रहस्य प्रकट करके मन को हलका कर लिया करे। और उनकी सलाह से अपनी बुराइयों का निवारण कर सकें।

प्रत्येक मनुष्य का दृष्टिकोण, विचार, अनुभव, अभ्यास, ज्ञान, स्वार्थ, रुचि एवं संस्कार अलग-अलग होते हैं। इसलिए

सबका सोचना एक प्रकार से नहीं हो सकता। इस तथ्य को समझते हुए हर व्यक्ति को दूसरों के प्रति सहिष्णु एवं उदार होना चाहिए। अपने से किसी भी अंश में मतभेद रखने वाले को मूर्ख, अज्ञानी, दुराग्रही, दुष्ट या विरोधी मान लेना उचित नहीं। ऐसी असहिष्णुता ही बहुधा झगड़ों की जड़ होती है। एक दूसरे के दृष्टिकोण के अन्तर को समझते हुए यथा सम्भव समझौते का मार्ग निकालना चाहिए। फिर जो मतभेद रह जाँय उन्हे पीछे धीरे-धीरे सुलझाते रहने के लिए छोड़ देना चाहिए।

संसार में सभी प्रकार के मनुष्य हैं। मूर्ख विद्वान, रोगी-स्वस्थ, पापी पुण्यात्मा, कायर-वीर, कटुवादी-नम्र, चोर-ईमानदार, निन्दनीय, आदरस्पद, स्वधर्मी, विधर्मी, दयापात्र, दण्डनीय, शुष्क-सरस, भोगी-त्यागी आदि परस्पर विरोधी स्थितियों के मनुष्य भरे पड़े हैं। उनकी स्थिति को देखकर तदनुसार उनसे भाषण, व्यवहार एवं सहयोग करे। उनकी स्थिति के आधार पर ही उनके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करे।

कपट और असहिष्णुता यह दो बहुत बड़े पातक हैं। धोखा, विश्वासघात, छल, ढोंग, पाखण्ड यह मनुष्यता को कलंकित करने वाली सबसे निकृष्ट कोटि की कातरता एवं कमजोरी हैं। जिसको हम बुरा समझते हैं उससे लड़ाई रखें तो इतना हर्ज नहीं, परन्तु मित्र बनकर, मिले रहकर, मीठी-मीठी बातों से धोखे में रखकर उसका अनर्थ कर डालने में जो पाप है वह निकृष्ट कोटि का है। अनेक व्यक्ति ऊपर से मिले रहते हैं, हितैषी बनते हैं और भीतर ही भीतर छुरी चलाते हैं। बाहर से मित्र बनते हैं भीतर से शत्रु का काम करते हैं। विश्वास देते हैं कि हम तुम्हारे प्रति इस प्रकार का व्यवहार करेंगे परन्तु पीछे अपने वचन को भंग करके विपरीत कार्य कर डालते हैं।

आजकल मनुष्य बड़ा कायर हो गया है। उसकी दुष्टता अब मैदानी लड़ाई में दृष्टिगोचर नहीं होती। प्राचीन काल में लोग जिनसे द्वेष करते थे जिनका अहित करना चाहते थे, उसे पूर्व चेतावनी देकर मैदान में लड़ते निपटते थे। पर आज तो वीरता का दर्शन दुर्लभ हो रहा है। विश्वास दिलाकर, मित्र बन कर, बहका-फुसलाकर, किसीको अपने चंगुल में फँसा लेना और अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए उसके प्राणों तक का ग्राहक बन जाना, आज का एक व्यापक रिवाज होगया है। जिधर दृष्टि उठाकर देखिए उधर ही छल, कपट, धोखा, विश्वासघात का बोल-बाला दीखता है। यह आत्मिक कायरता, मनुष्य के पतन का निकृष्टतम चिह्न है। इससे ऊपर उठे बिना कोई व्यक्ति 'सच्चा मनुष्य' नहीं कहला सकता।

किसीकी धरोहर मार लेना, विष खिला देना, पहले से कोई वचन देकर समय पर उसे तोड़ देना, असली बताकर नकली चीज देना, मित्र बनकर शत्रुता के काम करना, यह बातें मनुष्यता के नाम पर कलंक हैं।

विवाह के समय देवता और पञ्चों को साक्षी देकर लोग यह धर्मप्रतिज्ञा करते हैं कि हम इस नारी के जीवन का सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते है। जैसे बालक का सारा उत्तर-दायित्व उसकी माता पर होता है, माता अपने बच्चे से काम लेती है, डाटती फटकारती भी है परन्तु उससे भी पहले उसके हृदय में अनन्त करुणा, आत्मीयता, ममता और क्षमा का समुद्र लहराता होता है जिस माता के हृदय मे वात्सल्य, क्षमा, ममता और करुणा की भावना न हो केवल बच्चे से अपना फायदा उठाने की, उसे गुलाम की तरह वशवर्ती रखने की वृत्ति हो वह माता शब्द को कलंकित ही करेगी। इसी प्रकार जो लोग देवताओं

और मन्त्रों की साक्षी में अपनी धर्मपत्नी को माता-पिता, भाई-बहिन सबसे छुड़ाकर उनके स्नेह एवं उत्तरदायित्वों की पूर्ति अपने ऊपर लेते हैं उन्हें उचित है कि जीवन भर इस विवाह की प्रतिज्ञा को निबाहें, परन्तु देखा जाता है कि स्त्री की थोड़ी-सी नासमझी का उसे इतना भारी दण्ड दिया जाता है जिसे देखकर न्याय की आत्मा भी कांप जाती है। पतियों द्वारा पत्नी की हत्या या परित्याग में प्रायः ऐसा ही कायर विश्वासघात भरा होता है।

वासना और धन का लोभी मनुष्य न्याय मार्ग से जब अपनी लोलुपता को पूरा नहीं कर पाता तो अनेक अनैतिक, छल पूर्ण मार्ग अपनाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करता है। शास्त्र का आदेश है कि हम सदैव अपने धर्म, कर्तव्य और उत्तरदायित्व को निबाहें। सचाई के मार्ग पर चलने से यदि कुछ असुविधाएं भी सहनी पड़ें तो उन्हें प्रसन्नतापूर्वक सहनी चाहिए। इस प्रकार जो सत्य के मार्ग पर चलने में असुविधाओं का स्वागत करने को भी तैयार रहते हैं वे ही गायत्री माता के सच्चे प्रेमपात्र बन सकते हैं।

दूसरी आवश्यकता यह है कि—हम सहिष्णु बनें किसीकी जरा-सी गलती पर आग बबूला हो जाना या किसीसे थोड़ा-सा मतभेद होने पर उसे जानी दुश्मन जान लेना बहुत संकुचित विचार है। संसार में कोई पूर्णतया निर्दोष या निष्पाप नहीं है, हर मनुष्य अपूर्ण है उसमें कुछ न कुछ दोष, बुराई या कमी अवश्य रहती है। थोड़ी-सी कमी के लिए उसे पूर्ण त्याज्य समझ लेना ठीक नहीं। दूसरों की इच्छाओं का समुचित उपयोग करना चाहिए, उन्हें बढ़ाना चाहिए, त्रुटियों को सुधारने या घटाने का प्रयत्न करना चाहिए, परन्तु इसके लिए अधीर नहीं होना चाहिए। सहिष्णुता और धैर्यपूर्वक काम चलाऊ सहयोग का मार्ग निकाल

लेना चाहिए और आततायी रीति से नहीं वरन् मधुर, सुव्यवस्थित एवं न्यायोचित मार्ग से प्रतिकूलता को अनुकूल बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

यह आवश्यक नहीं कि हमारे सभी विचार ठीक ही हों, हमारी मान्यता, धारणा एवं आकांक्षा हमारे लिए ठीक हो सकती हैं पर यह आवश्यक नहीं कि दूसरों को भी उन्हें मानने के लिए बाध्य किया जाय। अनेक दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक मतभेद प्रायः ऐसे होते हैं जिनमें दोनों ही पथ भ्रान्त पाये जाते हैं। इनके सम्बन्ध में हमें अधिक सहिष्णुता का परिचय देना चाहिए। कुछ विरोध ऐसे हैं जिन्हें अपराध कहते हैं, जिनके लिए राजदण्ड की व्यवस्था है। जैसे चोरी, हत्या, लूट, छल, दुराचार आदि अनैतिक कर्मों के लिए अवश्य ही प्रबल विरोध किया जाना चाहिए, उसमें जरा भी सहिष्णुता की जरूरत नहीं है परन्तु स्मरण रहे वह 'प्रबल विरोध' ऐसा न हो जो उलटे हमें ही अपराधी बनादे। दण्ड देने योग्य विवेक हर एक में नहीं होता, खासतौर से जिसका अपराध किया है उसमें तो बिलकुल ही नहीं होता, इसलिए दण्ड के लिए उदार, विवेकवान्, न्यायप्रिय एवं निष्पक्ष व्यक्ति को ही पंच चुनना चाहिए। न्यायालयों और न्यायाधीशों की स्थापना इसी आधार पर हुई है।

संसार में कोई भी दो मनुष्य एकसी आकृति के नहीं मिलते। प्रभु की रचना ऐसी ही है कि हरएक मनुष्य की आकृति में कुछ न कुछ अन्तर रखा गया है। आकृति की भांति विचारों विश्वासों और स्वभावों में भी अन्तर होता है। जैसे विभिन्न आकृतियों के मनुष्य एक साथ प्रेमपूर्वक रह सकते हैं वैसे ही विभिन्न मनोभूमियों के मनुष्यों को भी एक साथ रहने में, प्रेम पूर्वक सुसम्बन्ध बनाने में कोई अड़चन न होनी चाहिए। समाज

की सुख शान्ति, एकता और उन्नति इसी सहिष्णुता पर निर्भर है। असहिष्णु लोगों का समाज, सदा कलह और संघर्षों से जर्जर होता रहता है वह किसी भी दृष्टि से कोई उन्नति नहीं कर पाता।

घृणा की हानिकारक मनोवृत्ति

सहयोग का मूल प्रेम की भावना है। अगर हम अपने परिचितों, पड़ोसियों से प्रेमयुक्त व्यवहार करेंगे तो पारस्परिक सहयोग की वृद्धि होती जायगी। इसके विपरीत यदि हमारे हृदय में दूसरों के प्रति घृणा की भावना रहेगी, हम अन्य लोगों को तिरस्कार की दृष्टि से देखेंगे तो इसके परिणाम स्वरूप हमारे आसपास वैमनस्य का वातावरण उत्पन्न होगा। इसलिए सहयोग के इच्छुकों को घृणा की भावना से सदैव दूर रहना चाहिए। यह दूसरों के लिए ही अहितकर नहीं होती वरन् स्वयम् हमारे लिए भी घातक सिद्ध होती है।

घृणा की मनोवृत्ति किसी विशेष विचार को हमारे मस्तिष्क में बैठा देती है। संवेगों के उत्तेजित होने पर कभी-कभी यही बाह्यविचार का रूप धारण कर लेते हैं और जितना ही अधिक हम उनको भूलना चाहते हैं, उतने ही वे हमारे मन को जकड़ते जाते हैं और अन्त मे मानसिक रोग का रूप धारण कर लेते हैं। हमारा मन अचेतनावस्था में जिस किसी विचार को मस्तिष्क में स्थान दे देता है, वही विचार कुछ समय के पश्चात् हमारी विशेष प्रकार की मनोवृत्तियों में परिणित हो कार्यरूप में प्रदर्शित होने लगता है। मान लीजिए कोई आदमी एक कोढ़ी को देखता है और उससे उसके हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ता है तो वह उसीके सम्बन्ध में विचार करने लगेगा। ये विचार धीरे-धीरे दृढ़तर होते जाते हैं और इन पर ध्यान केन्द्रित न करने की इच्छा रखते हुए

भी वह व्यक्ति इनका आना रोकने में अपने आपको असमर्थ पाता है। अगर यही अवस्था काफी दिनों तक रही तो इस बीमारी के चिह्न उसमें भी प्रकट होने लगते हैं और अन्त मे वह कोढ़ी बन जाता है। अतएव जब हम किसी ऐसे व्यक्ति को देखें, जिसके कारण हमारे मन मे घृणा की भावना और तत्सम्बन्धी बाह्यविचारों से हम बहुत कुछ अंश में मुक्ति पाने में सफल हो सकेंगे। हमको बहुत-सी मानसिक और शारीरिक बीमारियां केवल इसी कारण से होती हैं कि हम उनसे स्वभावतः घृणा मानते हैं या उनसे डरते हैं। अगर कोई व्यक्ति किसी कुरूप व्यक्ति को सदा घृणा की दृष्टि से देखता है, तो वह प्रत्यक्ष में तो उससे बचने की चेष्टा करता है, किन्तु कभी-कभी जब घृणा की भावना बलवती होती है तो वह स्वप्न में ही उस व्यक्ति को देखने लगता है। यह सब इसलिए होता है कि घृणा का भाव एक प्रकार के आत्मनिर्देश मे प्रभावित हो हम घृणित गुणों को अपने आप मे ही चरितार्थ करने लग जाते हैं।

अगर हम चाहें तो दूसरे लोगों की शक्तियों को निर्लिप्त भाव से देख सकते हैं। इससे हमारे मन पर कोई भी बुरा प्रभाव नहीं पड़ने पाता, लेकिन जैसे ही हम किसीके दुर्गुणों पर संवेगात्मक रूप से विचार करने लग जाते हैं, हमारे विचार अपना बुरा प्रभाव हमारे मन पर डालना आरम्भ कर देते हैं। साधारणतया किसी व्यक्ति के दुर्गुणों के सम्बन्ध में बार-बार सोचने से हमारे विचार संवेगात्मक रूप धारण कर लेते हैं, अतएव इस प्रकार के विचार सदैव हानिकर होते हैं। इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए संसार के सभी महापुरुषों ने अपराधी को क्षमा करने का उपदेश किया है। अपराधी को क्षमा प्रदान कर हम अपनी घृणा की भावना का सहानुभूति के द्वारा रेचन कर डालते हैं।

घृणा की मनोवृत्ति का मूल कारण हमारे मन में स्थित कोई ग्रन्थि होती है। हमें इस ग्रन्थि को पहचान कर सुलझाने की कोशिश करनी चाहिए। ग्रन्थि के सुलझाते ही हमारी घृणा की मनोवृत्ति भी अपने आप नष्ट हो जावेगी। साधारणतः हम अपनी बुराइयों को स्वीकार नहीं करना चाहते, किन्तु आध्यात्मिक नियम के अनुसार हमें एक न एक दिन अपनी बुराइयों को स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। हमारी प्रकृति धीरे-धीरे हमें आत्म-स्वीकृति की ओर ले जाना आरम्भ करती है। पहले हम अपने इन दुर्गुणों को दूसरों में देखने लगते हैं और धीरे-धीरे उन्हीं पर विचार करते-करते स्वयं उनके शिकार बन जाते हैं। वास्तव में दुर्गुण कहीं बाहर से नहीं आते। वे तो पहले से हीं हमारे भीतर मौजूद रहते हैं। हमीं उनकी उपस्थिति स्वीकार नहीं करते, अतएव प्रकृति टेढ़े-मेढ़े रास्ते से उनकी आत्म-स्वीकृति कराती है। अगर प्रारम्भ में ही हम उन दुर्गुणों को मान लें, तो उनसे छुटकारा पा जायें, किन्तु जब प्रकृति जबरदस्ती इन्हें स्वीकार कराती है, तो वे हमें पकड़ लेते हैं। फिर इनसे छुटकारा पाना उतना सरल नहीं होता।

हमारे विचारों का दूसरे पर उसी समय प्रभाव पड़ता है जबकि उसकी मानसिक स्थिति इन विचारों को ग्रहण करने योग्य होती है। यही बात हमारे स्वयं के विचारों के सम्बन्ध में भी सत्य है। हमारे मन में अच्छे-बुरे जैसे भी विचार उठते हैं, सबकी पृष्ठभूमि हमारे ही अन्दर होती है। किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में बुरे विचारों का कारण भी हमारे ही अन्दर होता है। वास्तव में अज्ञात रूप से वे दुर्गुण हमीं में उपस्थित रहते हैं, किन्तु प्रकाशन का उचित मार्ग न पा उनका दमन होने लगता है और समय पाकर वे दूसरों की नुक्ता-चीनी की आदत के रूप में

फूट पड़ते हैं। यही हाल दूसरों के प्रति हमारे श्रद्धा के भाव का भी है। वास्तव में हमारे मन में ही इन श्रद्धा के योग्य गुणों की पृष्ठभूमि रहती है। हमारा मन भी उन्हीं सद्गुणों को ग्रहण करने की योग्यता रखता है, इसलिए वह इन गुणों का सम्मान करने को हमको प्रेरित करता है। उदारचित्त मनुष्य के विचार सदा उदार हैं। इस प्रकार के मनुष्य दूसरों में सदा भलाई ही देखा करते हैं। उसकी नजर किसीकी बुराई पर नहीं पड़ती।

दूसरों की अच्छाइयां देखा कीजिए

घृणा की दूषित मनोवृत्ति को दवाने का सरल मार्ग यही है कि हम दूसरों की अच्छाइयों को देखने का स्वभाव डालें। हमको गुण-गाहक बनना चाहिए। दूसरों की कमजोरियां तथा त्रुटियां निकालना वड़ा आसान कार्य है। हममें से कौन ऐसा है, जिसमें निर्बलताएँ मौजूद नहीं हैं। श्रेष्ठ तो यह है कि हम दूसरों के गुणों को परखें, जानें, समझें उनकी दाद दें और उन्हें निरन्तर प्रोत्साहित करते रहें। वह व्यक्ति किस अर्थ का है, जो ईर्ष्यावश दूसरों की बुराई ही करता रहता है। उनके चरित्र के दुर्गुण ही निकालता रहता है। बुराइयां देखने की प्रवृत्ति एक मानसिक रोग है। इससे वृत्तियां नीचे की ओर गिरती हैं। अच्छाइयां देखने से गुणग्राहकता का गुण विकसित होता है। जब आप दूसरों के गुण देखकर उन्हें व्यवहार में लाते हैं, तो दूसरे आपसे प्रसन्न रहते हैं। जिससे मित्रता और सहयोग की वृद्धि होती है।

यदि आपने अपने मित्र, सम्बन्धी या घर के व्यक्ति के विषय में कोई निन्दनीय बात सुनी है, तो उसे सबके सामने मत कह वैठिए। कोई अपनी निन्दा पसन्द नहीं क ता। चोर, डाकू, कातिल तक अपनी बुराई अपने कानों से श्रवण नहीं करना

चाहता। सबको अपनी प्रतिष्ठा, आत्म सम्मान, इज्जत का ख्याल रहता है। इसलिए जिस किसीके विषय मे जो आप चाहते हैं उसे एकान्त में लेजाकर सहानुभूतिपूर्ण शब्दों में व्यक्त कीजिए। यह जोड़ देना मत भूलिये कि आप उस निन्दा में कोई विश्वास नहीं करते हैं। वह आपकी राय में गलत बात है जिससे कोई तथ्य नहीं है।

दूसरे का अपने प्रति विश्वास न तोड़ डालिये। आपके पास अपनी स्वयं की, मित्रों की, औफीसरों, व्यापारियों, स्त्री, घर-वाहर के पड़ौसियों की अनेक गुप्त बातें, चरित्र विषयक बातें सञ्चित रहती हैं। ये गुप्तभेद आपके पास रक्खे रहने हैं तथा उनके प्रकाश में आपको सम्हल कर काम करना है। स्मरण रखिये ये गुप्त भेद दूसरों के समक्ष प्रकट करने में आप दूसरों के साथ बड़ी बेईमानी का व्यवहार करते हैं। अपने गुप्त भेद भी दूसरों से न कहिए।

विश्वासी बनिए। बिना विश्वास के काम नहीं चलता। किन्तु जिस पर विश्वास करना है, उसे बुद्धि, प्रलोभन, दृढ़ता आदि से खूब परख लो।

जीवन को प्यार करो, किन्तु मृत्यु का भय त्यागदो। जब मरने का समय आएगा, चल देंगे। अभी से क्यों उसकी चिन्ता करें। जीवन को यदि प्यार न करोगे, तो उससे हाथ धो वैठोगे। किन्तु जीवन को आवश्यकता से अधिक प्यार करने की आवश्यकता नहीं है।

दैनिक व्यवहार में सहनशीलता ऐसा आवश्यक गुण है, जिसके असंख्य लाभ हैं। तुम्हारे अफसर, ग्राहक, घर वाले झगड़ वैठेंगे, माता-पिता लड़ेंगे, स्वयं तुम्हारे बाल-बच्चे तुम्हारे दृष्टि-कोण से सहमत न होंगे, ऐसे अवसरों पर तुम्हें सहनशीलता से

काम लेना है। भयंकर क्रोधी तूफान में भी तुम्हें शान्त, आत्म-निर्भर, दृढ़ रहना चाहिए।

दुष्टों का नहीं दुष्टता का नाश करो

यह निस्सन्देह सत्य है कि हमको सबसे प्रेम और सहनशीलता का व्यवहार करना चाहिए। पर इसका अर्थ यह नहीं कि हम दुष्ट प्रकृति के लोगों के जघन्य कृत्यों को बिना रोकटोक होने दें, और उनसे प्रेम भी करते रहें। ऐसा करने से तो समाज की व्यवस्था बिगड़ जायगी और लोगों को अनाचार, अत्याचार करने में किसी प्रकार की शङ्का न रहेगी। इसलिए प्रेम के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी हमारा कर्तव्य है कि सदैव दुष्टता का विरोध करते रहें। सच्चे सहयोग का यही मार्ग है।

एक तत्वज्ञानी का उपदेश है कि 'दुष्टों पर दया करो, किन्तु दुष्टता से लड़ मरो।' दुष्ट और दुष्टता का अन्तर किये बिना हम न्याय नहीं कर सकते हैं। अक्सर यही होता है कि लोग दुष्टता और दुष्ट को एक ही वस्तु समझ लेते हैं और एक ही ढेले से दोनों को शिकार बना लेते हैं।

बीमार और बीमारी एक ही वस्तु नहीं हैं। जो डाक्टर बीमारी के साथ बीमार को भी मार डालने का इलाज करता है, उसको बुद्धि को क्या कहें? एक बन्दर अपने मालिक को बहुत प्यार करता था, जब मालिक सो जाता तो बन्दर पंखा किया करता ताकि मक्खियां उसे न सतावें। जब तक वह पंखा झलता रहता, मक्खियां उड़ती रहतीं, जैसे ही वह पंखा बन्द करता कि मक्खियां फिर मालिक के ऊपर आकर बैठ जातीं। यह देखकर बन्दर को मक्खियों पर बड़ा क्रोध आया और उसने उनको सजा देने का निश्चय किया। वह दौड़ा हुआ गया और सामने की

खूंटी पर टँगी हुई तलवार को उतार लाया। जैसे ही मक्खियां मालिक के मुँह पर बैठीं, वैसे ही बन्दर ने खींच कर तलवार का एक हाथ मारा। मक्खियां तो उड़ गईं, पर मालिक का मुँह बुरी तरह जख्मी हो गया। हम लोग दुष्टता को घटाने के लिए ऐसा ही काम करते हैं, जैसे बन्दर ने मक्खियों को हटाने के लिए किया था।

आत्मा किसीका दुष्ट नहीं है, वह तो सत्य, शिव और सुन्दर है, सच्चिदानन्द स्वरूप है। दुष्टता तो अज्ञान के कारण उत्पन्न होती है, यह अज्ञान एक प्रकार की बीमारी ही तो है। अज्ञान रूपी बीमारी को हटाने के लिए हर उपाय काम में लाना चाहिए, परन्तु किसीसे व्यक्तिगत द्वेष न मानना चाहिये। व्यक्तिगत द्वेष भाव जब मन में घर कर लेता है तो हमारी निरीक्षण बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। वह नहीं पहचान सकती कि शत्रु में क्या बुराई है और क्या अच्छाई है। पीला चश्मा पहन लेने पर सभी वस्तुएँ पीली दिखाई पड़ने लगती हैं। इसी प्रकार स्वार्थपूर्ण द्वेष जिस मनुष्य के लिए घर कर लेता है, उसके भले काम भी बुरे प्रतीत होते हैं। और अपनी आंखों के पीलिया रोग को न समझकर दूसरे के चेहरे पर पीलापन दिखाई पड़ता है, उसे पाण्डु रोग समझ कर उनका इलाज करने लगता है। इस प्रकार अपनी मूर्खता का दण्ड दूसरों पर लादता है, अपनी बीमारी की दवा दूसरों को खिलाता है। जालिम और दुष्ट, क्रोधी और परपीड़क, इसी अज्ञान में ग्रसित होते हैं, उनके मन में स्वार्थ एवं द्वेष समाया हुआ है, फलस्वरूप उन्हें दूसरों में बुराइयां ही बुराइयां नजर आती हैं। सन्निपात का रोगी दुनियां को सन्निपात ग्रसित समझता है।

आप दुष्ट और दुष्टता के बीच अन्तर करना सीखिये।

हर व्यक्ति को अपनी ही तरह पवित्र आत्मा समझिये और उससे आन्तरिक प्रेम कीजिए। कोई भी प्राणी नीच, पतित या पापी नहीं है, तत्वतः वह पवित्र ही है। भ्रम, अज्ञान और बीमारी के कारण वह कुछ का कुछ समझने लगता है। इस बुद्धि भ्रम का ही इलाज करना है। बीमारी को मारना है और बीमार को बचाना है। इसलिए दुष्ट और दुष्टता के बीच में फरक करना सीखना चाहिए। मनुष्यों से द्वेष मत रखिये, चाहे उनमे कितनी ही बुराइयां क्यों न हों। आप तो दुष्टता से लड़ने को तैयार रहिए, फिर वह चाहे दूसरों में हो, चाहे अपनों में हो या चाहे खुद अपने अन्दर हो।

पाप एक प्रकार का अँधेरा है, जो ज्ञान का प्रकाश होते ही मिट सकता है। पाप को मिटाने के लिए कडुए से कडुआ प्रयत्न करना पड़े सो आप प्रसन्नतापूर्वक कीजिए, क्योंकि वह एक ईमानदार डाक्टर की तरह विवेकपूर्ण इलाज होगा। इस इलाज में लोक-कल्याण के लिए मृत्युदण्ड तक की गुञ्जायश है। किन्तु द्वेष भाव से किसीको बुरा समझना या उसकी बुराइयों को भी बुराई कहना अनुचित है। जैसे एक विचारवान डाक्टर रोगी की सच्चे हृदय से मङ्गलकामना करता है और निरोग बनाने के लिए स्वयं कष्ट सहता हुआ जीतोड़ परिश्रम करता है, वैसे ही आप पापी व्यक्तियों को निष्पाप करने के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद, चारो उपायों का प्रयोग कीजिए, पर उन पापियों से किसी प्रकार का निजी राग-द्वेष मत रखिए।

अपने दोषों से भी संघर्ष कीजिए

जैसे हम दूसरों के दोषों पर दृष्टि रखते हैं और उनका विरोध करते हैं, उसी प्रकार अपने दोषों पर भी हमको निगाह

रखनी चाहिए। ताली दोनों हाथों से बजा करती है। सहयोग के लिए दोनों ही पक्षों में श्रेष्ठता का होना आवश्यक है। जब तक हम अपने दुर्गुणों को दूर नहीं करेंगे हमारी सहयोग और सहिष्णुता की बातें कोरी दिखावटी ही समझी जायेंगी। क्योंकि जब तक हम दूसरों के गुणों को उचित महत्व प्रदान करके उनको स्वयं भी स्वीकार करने का प्रयत्न न करेंगे, तब तक वे हमारे प्रति आकृष्ट नहीं हो सकते ;

गुणी बनना तो हम सब चाहते हैं पर संस्कार और सम्पर्क दोष से हममें दुर्गुण घुस जाते हैं, उन्हें हम दूर नहीं कर पाते और अपनी योग्यता का विकास किए बिना उसके द्वारा होने वाले फल को प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः हमारे मनीषियों ने स्वानुभव से गुणी बनने के लिए एक बहुत सरल, सीधा और सच्चा रास्ता बतलाया है जिसके द्वारा प्रत्येक मानव सहज ही में गुणी बन सकता है और उसके दोष क्रमशः कम एवं दूर किए जा सकते हैं। वह उपाय है कि मनुष्य गुणी के प्रति अनुराग रखे, गुणीजनों के प्रति आदर-सत्कार व भक्ति रखे। जैसे-जैसे मनुष्य का गुणानुराग बढ़ेगा वैसे-वैसे उसका खिंचाव गुणों के प्रति बढ़ कर वह गुणी बनता चला जायगा। यह क्रिया इतनी स्वाभाविक है कि इसमें विचार करने की और श्रम करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं होती। गुणी से प्रेम और गुणों के प्रति आकर्षण हो, बस गुणी बनने का मार्ग प्रस्तुत होता चला जायगा।

सत्संग का महात्म्य और महापुरुषों के नाम स्मरण व गुण कीर्तन का जो बड़ा भारी फल हमारे शास्त्रों में वर्णित है उसका एक मात्र कारण यही है कि जैसे व्यक्तियों के साथ हमारा सम्पर्क होता है, उनके गुण दोष का प्रभाव हमारे पर भी पड़े बिना नहीं रहता। महापुरुषों में गुणों की प्रधानता होती है। अतः मनुष्य

उनके गुणों को स्मरण करके यही चाहता है कि वह भी वैसा ही गुणी बन जाय। मनुष्य की जैसी इच्छा होती है, उसीके अनु-रूप उसकी प्रवृत्ति होती है, और जिस चीज की इच्छा जितनी बलवती होगी, तो प्रयत्न भी वैसे ही सबल होंगे और उसकी पूर्णता भी उतनी ही शीघ्रता से हो सकेगी।

वास्तव में देखा जाये तो जो परमात्म पुरुष सिद्ध व बुद्ध हो चुके हैं, वे किसीका भला-बुरा नहीं करते पर उनके निमित्त से मनुष्य में अच्छी भावनाओं का उदय होता है, गुणों के प्रति आकर्षण बढ़ता है। अपने दोषें, दुर्गुणों व कमियों का उसे ज्ञान होता है तथा दूर करने की भावनां होती है। ईसीसे मनुष्य पतन से बचकर उत्थान की ओर अग्रसर होता है। गुणों का आकर्षण जितना बढ़ेगा, दोषों का सम्पर्क स्वयं उतना ही घट जायगा।

प्राणि मात्र गुणों एवं दोषों के पुञ्ज हैं। किसी में गुणों की अधिकता है तो किसी में दोषों की। दृष्टि भिन्नता से कभी-कभी किसीके गुण दूसरों को दोष रूप लगने लगते हैं और दोष-गुण। जिसकी दोष-दर्शन की दृष्टि होती है, वह बड़े महापुरुषों में भी कोई न कोई दोष ढूंढ निकालता है, जबकि गुणग्राहक व्यक्ति भयंकर पापी में से कोई न कोई गुण पा लेता है। थोड़े बहुत गुण और दोष सभी मे भरे हैं। देखने वाला स्वयं जैसा होगा या जिस गुण या दोष को महत्व देगा, उसे दूसरे मे वही दिखाई देगा। हमारे में दोष की इतनी प्रचुरता क्यों ? एवं गुणों की इतनी कमी क्यों ? इस प्रकार जब गम्भीर विचार करते हैं तो विदित होता है कि हमारी दृष्टि दूसरों के अवगुणको देखनेमें लगी रहती है। दोषों की ओर बहुत बार विशेष रूप से ध्यान जाने के कारण ही हम में दोषों की प्रबलता और अधिकता हो जाती है।

यदि हम अपनी दृष्टि को गुण-ग्रहण में लगावें, जहां कहीं भी जिस किसी में छोटा-मोटा जो भी गुण देखें, उसे ग्रहण करने का लक्ष्य रखें अर्थात् गुणग्राही बनें तो गुणवान बनने में देर नहीं लगेगी। केवल अपनी दृष्टि या वृत्ति में परिवर्तन करने भर की देर है। दोषदृष्टि की जगह गुणदृष्टि को महत्व देना है, फिर हमारा काम सरल और शीघ्र हो जायगा। गुणग्राही व्यक्ति की दृष्टि बहुत उदार और विशाल होजाती है। सामुदायिक, अनुदार व संकुचित भावना नहीं होती। क्योंकि गुण प्रत्येक मनुष्य में पाये जाते हैं। यह किसी देश, जाति, सम्प्रदाय की ही बपौती नहीं। अतः गुणग्राही व्यक्ति को जहां भी थोड़ा बहुत गुण दिखाई देगा, उसके प्रति आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकता। संकुचित दृष्टि वाला अपने देश, जाति, सम्प्रदाय वालों के तो गुणों का बखान करेगा, पर उस सीमा के बाहर के व्यक्तियों के गुणों को ओर उसका ध्यान नहीं जायगा और लक्ष्य में आ जाने पर भी वह उनके गुणों की स्तुति करने में हिचकिचाएगा। ऐसी संकुचित वृत्ति को दृष्टि राग की संज्ञा दी जाती है। यदि व्यक्ति संकुचितता का आश्रय लेता है तो उसका सम्प्रदाय या व्यक्ति विशेष के प्रति इतना अधिक मोह हो जाता है कि उसे उसके दोष भी गुण रूप दिखाई देने लगते हैं और दूसरों के गुण भी दोष रूप। अतएव हमें सावधानी रखनी आवश्यक है कि हमारी गुणदृष्टि संकुचित व अनुदार न हो। जहां कहीं किसीमें भी गुण दिखाई दे, बिना हिचकिचाहट के सराहना करें व गुणोंको अपनाने का प्रयत्न करें।

सहिष्णुता और समझौते की भावना

संसार में निर्दोष व्यक्तियों की संख्या बहुत कम है। अगर मनुष्य में दस गुणों के मुकाबले में दो-चार दोष हों तो उसे

बहुत गनीमत समझना चाहिए। अन्यथा आजकल का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक वातावरण ही ऐसा अस्वाभाविक बन गया है कि उसके परिणाम स्वरूप लोगों में तरह-तरह के दोष तथा दुर्गुण सहज ही पैदा हो जाते हैं। ऐसी दुनियां में अगर सुधार का, सहयोग का इच्छुक सहिष्णुता और समझौते की भावना से काम लेना नहीं जानता, तो वह सफल कदापि नहीं हो सकता। अगर हमको समाज में अथवा अपने व्यक्तिगत क्षेत्र में सहयोग की भावना की वृद्धि करनी है, तो उसके लिए लोगों की निर्बलताओं, त्रुटियों को क्षमा करते हुए ही काम निकालना पड़ेगा। इससे सदैव सबके साथ सहृदयता का व्यवहार करना आवश्यक है, जिससे वे हमारे मित्र बने रह कर धीरे-धीरे हमारी बातों पर ध्यान देकर अपना सुधार करने में समर्थ हो सके।

सबकी बुद्धि एक समान नहीं है। आत्म निरीक्षण करने की, अपने आपको जांचने की योग्यता सब किसी में नहीं होतो। स्वर्गीय डान टामस कहा करते थे कि—"इस दुनियाँ में नब्बे प्रतिशत आधे पागल रहते हैं।" आधे पागल न भी हों तो भी इतना तो निश्चय ही मानना पड़ेगा कि आत्म परीक्षण करने और वस्तु स्थिति को समझने की योग्यता बहुत कम लोगों में होती है। वे भावावेश, कल्पना की उड़ान, और स्वतन्त्र धारणा के अनुसार अपने-अपने मत निर्धारित करते है, इस मत निर्माण में विचार शीलता की नहीं वरन् अन्धविश्वास की प्रधानता होती है। जहां विचार शीलता की प्रधानता है वहां गलती समझने और स्वीकार करने की क्षमता होगी, किन्तु ऐसे सौभाग्यशाली पुरुष अभी इस भूतल में उङ्गलियों पर गिनने लायक हैं। अधिकांश तो असंस्कृत मस्तिष्क के ही पड़े हुए हैं, व्यवहार उन्हीं से पड़ता है। ऐसी नीति और कुशलता से काम न लिया जाय तो अच्छे परिणाम

की आशा नहीं की जा सकती।

जब आपको किसीकी गलती बतानी है तो पहले उसके साथ सहानुभूति प्रकट करिए। जिस स्थिति में वह गलती हुई उस स्थिति की पेचीदगी के कारण वह वैसा करने को मजबूर हुआ ऐसा प्रकट करिए। क्योंकि यदि जान बूझ कर भी उसने गलती की है तो वैसा कहकर उसकी लोक लज्जा को नष्ट करना उचित नहीं, क्योंकि अपने को मूर्ख सिद्ध न होने के लिए वह दुराग्रह करेगा और गलती को गलती ही साबित न होने देगा, उलटा दुराग्रहपूर्वक उसका समर्थन करेगा। लड़झगड़ कर आप अधिक से अधिक किसीको चुप कर सकते हैं पर इससे वह इस बात को मानने के लिए मजबूर न हो जायगा, वरन् अपने अपमान का बदला लेने के लिए उसी पर अड़ बैठेगा।

"उस समय की परिस्थिति से मजबूर होकर, दबाव से, अन्य कारण वश वैसा करना पड़ा होगा"—ऐसा कहने से गलती को स्वीकार करना सरल हो जाता है। "गलती बताकर अपनी बुद्धिमानी साबित की जा रही है" ऐसी आशंका भी उसके मनमें मत उपजने दीजिए। जिस प्रकार की भूल उस आदमी से हुई है वैसी अन्य लोग भी करते हैं या कर चुके हैं ऐसे उदाहरण बताने से गलती स्वीकार करने मे उसे विशेष हिचकिचाहट नहीं होती। यदि आपसे स्वयं वैसे ही या उससे मिलती-जुलती कोई भूल हुई है तो उसका उदाहरण देकर सुनने वाले को निश्चिन्त कर सकते हैं कि उसको नीचा साबित करने के लिए वह बात नहीं कही जा रही है। आम लोगों के सामने इस प्रकार के वार्तालाप करने की अपेक्षा एकान्त में करना अधिक उपयोगी है क्योंकि वहां प्रतिष्ठा घटने की अधिक आकांक्षा उसे नहीं रहती और सचाई की तह तक पहुंचने में किसी हद तक मार्ग सुगम हो जाता है।

जिसने गलती की है उसे अपराधी या पापी कहा जा सकता है, पर ऐसा कहना हानिकर है, क्योंकि इससे उसके तामस स्वभावों को प्रोत्साहन मिलेगा। जब अपराधी, पापी, दुष्ट, मूर्ख दुरात्मा, नालायक, उसे साबित किया जा सकता है तो हो सकता कि अपने सद्गुणों और सात्विक स्वभावों की सम्भावना पर अविश्वास करने लगे और निर्लज्जतापूर्वक दुर्बुद्धि लोगोंकी श्रेणी में खड़ा होकर अधिक नीचता पर उतर आवे। इसलिए गलती को भूल के नाम से ही पुकारिये, पाप या अपराध का कर्ण कटु नाम प्रयोग मत कीजिए। भूल को सुधारना आसान बनाइये, त्रुटि रहित जीवन की महत्ता बताइये और उसे फिर से सुधारने के लिए प्रोत्साहन कीजिए। जिसने गलती की है वह अपने को पवित्रता से रहित और सुधरने में असमर्थ समझने लगता है, इस धारणा को धैर्य बँधाकर, गलती को छोटी बताकर, प्रोत्साहन देकर, जैसे भी बन सके दूर करना चाहिए। कटु वचन कहकर किसीका दिल तोड़ देना आसान है, ऐसा तो एक बेवकूफ भी कर सकता है। आपका कार्य-क्रम ऊँचा होना चाहिए दिल बढ़ाने का, सही मार्ग पर लाने का प्रयास कठिन है। आपकी बुद्धि को यह चुनौती दी जाती है कि वह कठिन प्रयास द्वारा उपयोगी कार्य सम्पादन करके अपनी महत्ता साबित करे।

किसीको हुक्म मत दीजिए कि—तुम यह करो, तुम वह करो, हुक्म देने का तरीका सेना में अच्छा समझा जाता है, परन्तु सामाजिक जीवन को हम लोग, सैनिक की तरह नहीं वरन् सहयोग के साथ, भाईचारे के आधार पर व्यतीत करते हैं। इसमें हुक्म देने की पद्धति कारगर नहीं होती। वेतन भोगी नौकर भी यह चाहता है कि मुझे केवल मशीन का जड़ पुर्जा न माना जाय। जिस कार्य मे अपना विचार समन्वित नहीं होता, जिस

कार्य में अपनी निजी दिलचस्पी नहीं जुड़ती वह कार्य आधे मन से, बेगार की तरह किया जाता है "पराया-जराया" यह कहावत मशहूर है। दूसरे के काम को ऐसे किया जाता है मानो जराया हुआ हो—जला दिया गया हो। साधारणतः हुक्म बजाने में अपनी लघुता सावित होती है और लघुता, परवशता के विरुद्ध विद्रोह की इच्छा उठा करती है। आपने देखा होगा कि छोटे बालक—जिन्हें आज्ञा पालन करने से हानि का भय नहीं होता अक्सर हुकुमअदूली किया करते हैं, उन्हें यह पसन्द नहीं होता कि अपराधी की तरह आज्ञा पालन के लिए मजबूर होना पड़े। बड़ा होने पर मनुष्य लाभ या भय के कारण हुक्म बजाता है पर आन्तरिक इच्छा उसकी वैसी नहीं होती। विश्व में आजकल स्वतन्त्रता की तीव्र मांग है। स्वतन्त्रता के लिए मानव जाति घोर संघर्ष कर रही है, बड़ी-बड़ी कुर्बानी कर रही है, आध्यात्मवादी भी मुक्ति चाहते हैं—मुक्ति या स्वतन्त्रता एक ही वस्तु के दो नाम हैं। सब कोई पराधीनता से छुटकारा पाना चाहते हैं, पराधीनता को कतई पसन्द नहीं करते।

आप जिस कार्य-क्रम की ओर दूसरों को खींचना चाहते हैं उसकी तीव्र चाह उत्पन्न करिये। उसे यह बतलाइए कि नवीन कार्य पुराने कार्य की अपेक्षा अधिक लाभदायक है। 'इन्द्रिय असंयम बुरा है' इतना कह देने मात्र से काम न चलेगा। यदि किसीको ब्रह्मचर्य के पथ पर अग्रसर करना चाहते हैं तो स्वस्थ और सुन्दर ब्रह्मचर्य का उदाहरण सामने उपस्थित करिए और स्पर्धा उत्पन्न कीजिए कि वह भी ऐसा ही भरे हुए गुलाब से चेहरे का सौन्दर्य प्राप्त करे, शरीर को सुडौल, बलवान और निरोग बनावें। इन लाभों की ओर जितना ही आकर्षित किया जा सकता है उतना ही वह ब्रह्मचर्य पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ हो

जायगा। काम करना कोई पसन्द नहीं करता, सब चाहते हैं बैठे ठाले बिना मेहनत किए चैन से गुजरती रहे। परिश्रम का अप्रिय काम करने के लिए तब प्रेरणा मिलती है जब उससे कुछ फल मिलने की आशा होती है। जोखिम से भरे हुए, खतरनाक और दुस्साध्य कामों का लाभ विशेष लाभ की आशा से उठाया जाता है। इसलिए आप जिस कार्य के लिए दूसरों को तैयार करना चाहते हैं, उसे समझाइए कि इसमें कौन-कौन लाभ मिल सकते हैं। निकृष्ट कोटि के चोरी, व्यभिचार, ठगी आदि कामों के लाभ बहुत ही निकृष्ट और प्रत्यक्ष होते हैं इसलिए उनकी ओर लोग आसानी से ढुल जाते हैं। उच्च कोटि के, सात्विक, ईमानदारी, सचाई, प्रेम न्याय युक्त कार्यों के लाभ इतने निकट या प्रत्यक्ष नहीं होते तथा उनसे श्रम भी अधिक पड़ता है। यदि दूसरों को इस प्रकार के कष्ट साध्य कार्यों में प्रवृत्त करना है तो उन कार्यों के द्वारा प्राप्त करने वाले सुखों, लाभों और उत्तम परिणामों को विस्तारपूर्वक वर्णन करिए। उदाहरण, अनुभव तर्क और परिणाम द्वारा इन लाभों को इस प्रकार उपस्थित करिए कि सिनेमा के चित्र की तरह वह सब बातें उसके नेत्रों मे घूम जावें, हृदय के अन्तः पटल पर भली भांति अंकित हो जावें।

तीव्र चाह उत्पन्न करना, किसी कार्य की ओर आकर्षित करने का सबसे प्रभावशाली तरीका है। अमुक कार्य भला है, अमुक बुरा है, अमुक पुण्य है, अमुक पाप है, इतना कह देने मात्र से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। साधारण बुद्धि के मनुष्य को भय और लोभ इन दो ही तत्वों के कारण कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। लाभ के लोभ से निवृत्ति होती है। जिस काम को करने से दूसरे को रोकना चाहते हैं उसके रोकने में जो भय, आपत्ति, हानि, अनिष्ट उत्पन्न होने की आशंका है उसे भली प्रकार

हृदयंगम कराइए। वेश्यागमन की ओर जिसकी प्रवृत्ति है उसे उपदंश होने से भली भांति भयभीत कर देने पर उस कुकर्म से रोका जा सकता है। उपदंश जनित कष्ट, बदनामी क्रियाशीलता का अन्त, भोगों से बिलकुल वञ्चित हो जाना, धन नाश आदि यह सब भय और आशंकाएँ उस व्यक्ति के मन में बिठाई जा सकें तो निःसन्देह उसका कुमार्गगमन रुक जायगा। दण्ड देकर, प्रतिबन्ध लगाकर, या बलपूर्वक रोकने की अपेक्षा यह उत्तम है कि जिस जिस मार्ग से किसीको रोकना चाहते हैं उसके मन में तत्सम्बन्धी हानि और आशंकाओं का मूर्तिमान चित्र खड़ा करें और उसे स्वयं ही वह कार्य बन्द करने का निर्णय करने दें। किसीको एक कार्य से हटाकर दूसरे कार्य पर लगाने का प्रश्न यदि कभी आपके सामने आये तो नये काम के लाभों का विशद वर्णन करके उस ओर दिलचस्पी पैदा कर तथा पुराने कार्य की हानियों का मूर्तिमान चित्र बनाकर भयभीत करने का प्रयत्न किया कीजिए। जो लोग विवेक और नियम से नहीं समझते उनकी चेतना अभी निर्बल है उस पर लोभ एवं भय द्वारा प्रभाव डालना ही सम्भव है। पशु को घास दिखाकर या लाठी का भय दिखाकर ही कहीं ले जाया जा सकता है, अल्प विवेक वाले लोगों को आप भी इन्हीं भावनों से प्रभावित करके उत्तम और उचित मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न कीजिए।

मानव मनोवृत्तियों के एक सुयोग्य अन्वेषक ने एक बहुत ही उत्तम शिक्षा दी है कि "यदि आप मधु इकट्ठा करना चाहते हैं तो मक्खियों के छत्ते को ठोकर मत मारिए।" जिन लोगों से सम्बन्ध जारी रखे बिना काम नहीं चल सकता, जिनके द्वारा आपकी आजीविका चलती है, ऐसे सम्बन्धी तथा ग्राहकों को अकारण क्रुद्ध मत कीजिए। एकान्त में अत्यन्त शान्तिपूर्वक,

हानि लाभ का दिग्दर्शन कराते हुए गलती करने वाले को आसानी से समझाया जा सकता है, इसमें सुधरने की बहुत सम्भावना रहती है। इसके विपरीत सबके सामने कटु आलोचना करने से बुराइयों में सुधार होना तो दूर उलटे वैर—विरोध तथा दुराग्रह की जड़ जम जाती है।

आप जो कार्य करने के लिए दूसरों से कहें उसे आसान बताइये। लोगों को यह विश्वास कराइये कि इसमें अधिक सरलता रहेगी और कठिनाई, कम हो जायगी। अपने कार्य क्रम पर किसीको सहमत करने के लिए उसे यह विश्वास कराना आवश्यक है कि यह असम्भव, दुःसाध्य विरले शूरवीरों के करने योग्य नहीं वरन् बहुत ही सरल, पूर्णतया सम्भव और साधारण मनुष्य से पूरा हो सकने योग्य है। अनेक व्यक्ति उस मार्ग पर चल चुके हैं और चल रहे हैं उन्हें कोई ऐसी कठिनाई नही उठानी पड़ी जो असाधारण हो। स्मरण रखिये, सरलता को टटोल कर लोग उधर ही झुकते हैं। आप अपने कार्य को आसानी प्रकट कीजिए, और बताइए कि वह बिना विशेष झंझट के स्वल्प श्रम स्वल्पकाल और स्वल्प साधनो से पूरा हो सकता है। यदि आप पहले कार्य को 'तलवार की धार पर चलना' बतावेंगे, उसमें आने वाली विघ्न-बाधाओं को दुस्तर बतावेंगे तो आरम्भ में ही हिम्मत टूट जाने के कारण उस पथ पर चलने के लिए कोई मनुष्य मुश्किल से ही तैयार होगा।

स्वयं कम बोलिए और दूसरों को अधिक बोलने दीजिए। आप एक घण्टे अपनी बात कहकर किसीका मन उतना अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते जितना कि आध घण्टा उसे अपनी बात कहने देकर कर सकते है। अच्छा वक्ता होने का प्रधान लक्षण यह है कि अच्छा श्रोता बनना चाहिये।

आप अपने को प्रशंसित बना लीजिए। दूसरों में जिन सद्गुणों को देखें जिन सद्वृत्तियों को विकसित होता हुआ पावें उन्हें और अधिक उन्नत करने के लिए प्रोत्साहित करें। मुरझा कर सूख जाने की तैयारी में खड़े हुए पौदे जल से सिंचित होते ही दूसरे ढंग के हो जाते हैं। उनकी गति विधि तुरन्त ही बदल जाती है। कुम्हलाए हुए पत्ते भी सतेज दिखाई पड़ने लगते हैं। प्रशंसा का जल ऐसा ही जीवनदाता है। सूखे हुए अन्तःकरणों में वह आशा और उत्साह का संचार करता है। वर्षाऋतु में पौदे वल्लियाँ बढ़ जाते हैं, मेघों का स्नेह बूँद पीकर वनस्पति जगत का रोम-रोम तरंगित होने लगता है। वर्षाऋतु में मखमल की-सी हरियाली चारों ओर छा जाती है, ऊसर भूमि भी सुशोभित दीखती है, चट्टानों का मैल धुल जाने से उनकी स्वच्छता निखर जाती है। आप यदि प्रशंसा द्वारा दूसरों के मुरझाए हुए हृदयों को सींचना आरम्भ कर दें, कानों की राह आत्माओं को अमृत पिलावें तो ठीक वैसा ही कार्य करेंगे जैसा कि परोपकारी मेघ किया करते है। तवे के समान जलता हुआ भूतल मेघमाला का स्नेह पीकर तृप्त होता है और वनस्पतियों का हरा भरा आशीर्वाद उगलता है। परोपकार और आशीर्वाद के सम्मिश्रण से बड़ी ही शान्तिदायक हरियाली उपज पड़ती है और विश्व की असाधारण सौन्दर्यवृद्धि करती हैं। क्या आपको यह कार्य पद्धति पसन्द हैं? यदि है तो अपने चारों ओर बिखरे पड़े हुए असंख्य अतृप्त और अविकसित हृदयों को अपनी प्रोत्साहनमयी मधुर वाणी से सींचना आरम्भ कर दीजिए, वे हरे भरे स्वच्छ उत्फुल्ल हो जॉय। उनके सद्गुण वर्षा की वनस्पति की तरह तीव्र गति से बढ़ने और फैलने फूटने लगें।

यह बहुत ही उच्चकोटि का पुनीत धर्म कार्य है, अन्तःकरण

की चिर तृषा इससे तृप्त होती है, उन्नति के रुद्ध स्रोत खुलते हैं, अविकसित सद्वृत्तियां प्रस्फुटित होती हैं, छिपी हुई योग्यताएँ जागृत होती हैं और निराशा के अन्धकार में आशा का दीपक एक बार पुनः जगमगाने लगता है। निन्दा और भर्त्सना ने अनेक उन्नतमना लोगों को निराश, कायर, भयभीत और निकम्मा बना दिया। हम ऐसे लोगों को जानते हैं जो व्यक्तिगत रूप से उन्नतिशील थे, उनमें अच्छी योग्यताओं के अंकुर मौजूद थे पर उनका सम्पर्क बड़े दुर्बुद्धि संरक्षकों के साथ में रहा। जरा-जरा सी बात पर झिड़कना, मूर्ख बताना, नालायक साबित करना, अयोग्यता का फतवा देना यह ऐसे कार्य हैं जिनके द्वारा माता-पिता अपने बालकों की, मालिक अपने नौकरों की, गुरुजन अपने शिष्यों की आशा-कली को बेदर्दी के साथ कुचल डालते हैं। निरन्तर भर्त्सना करते रहने से न तो कुछ सुधार होता है और न कोई उन्नति होती है। केवल इतना ही परिणाम निकलता है कि वह अपने बारे में निराशाजनक भावनाएँ धारण करता है, अपने को अयोग्य मान बैठता है उसका दिल बैठ जाता है और धीरे-धीरे निर्लज्ज होकर उसी अवनति के ढांचे में ढलता जाता है।

जिस व्यक्ति में निराश करने की, जरा-जरा से दोषों को कहने की, झिड़कने की, निन्दा करने की, निरुत्साह करने की आदत है वह सचमुच बड़ा भयंकर है। व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु जिस पर आक्रमण करते हैं उसे क्षण भर में फाड़ कर खा जाते हैं परन्तु गिराने वाले निन्दा सूचक शब्दों का प्रयोग करने का जिसे अभ्यास हो गया है उसकी भयंकरता व्याघ्र से अधिक है। सूखा मसान बालकों का कलेजा चूसकर उसे ठठरी बना देता है, इसीप्रकार निन्दा सूचक वाक्य प्रहारों से भीतर ही भीतर दूसरे का कलेजा खाली हो जाता है। यदि आप प्रशंसा करने

और प्रोत्साहन देने की नीति को अपना लेते हैं तो इसके द्वारा अनेकों व्यक्तियों को ऊँचा उठाने में, आगे बढ़ाने में, सहायक होते हैं। हो सकता है कि कोई क्रियाशील व्यक्ति आपके द्वारा प्रोत्साहन पाकर उन्नति के प्रकाश पूर्ण पथ पर चल निकले और एक दिन ऊँची चोटी पर जा पहुंचे। क्या आपको उसका श्रेय न मिलेगा? क्या उस महान कर्म साधना में आप पुण्य के भागी न होंगे।

मैत्री-भाव की वृद्धि करते रहिए

सहयोग और मैत्री-भाव—ये दोनों शब्द लगभग एक ही अर्थ के सूचक हैं। हमारे मित्र ही हमारे सबसे बड़े सहयोगी हो सकते हैं। अन्य मनुष्यों का सहयोग तो आवश्यकता पड़ने पर थोड़े समय के लिए होता है, पर मित्रों से तो निकट सम्बन्ध होने के कारण सदैव ही सहयोग चलता रहता है। इस बात को हम इस तरह भी कह सकते हैं कि जिन लोगों से हमारा अधिक सहयोग होता रहता है उन्हीं से मित्रता स्थापित हो जाती है। इसलिए सहयोग की आकांक्षा रखने वाले व्यक्तियों को सदैव अपना मित्र-मण्डल बढ़ाते रहना चाहिए और साथ ही मित्रों से ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिससे निरन्तर मित्रताकी वृद्धि हो तथा कभी मनोमालिन्य की नौबत न आवे।

गुणग्राही मित्र गुण का आदर करता है। मित्र के गुणों का आदर करना और उन गुणों की वृद्धि मे उसे बढ़ावा देना मित्र का काम है। अपने मित्र के गुणों की कदर न करने वाले मनुष्य की मित्रता केवल नदी-नाव संयोग है। ऐसी मित्रता निभ नहीं सकती। सुख-दुख में, संपद विपद में, अध्ययन और मनोरञ्जन में, साथ रह सकने वाले मित्रों की मित्रता बढ़ती ही जा

है। कई मित्र प्रयोजनाभाव से परस्पर मिलना तक छोड़ देते हैं। पर यह बड़ी भूल है। मित्रों को एक दूसरे से बराबर मिलते रहना चाहिए और बिना मिले कल ही न पड़नी चाहिए। मित्रों का एक दूसरे से न मिलना भी मित्रता के शिथिल हो जाने का कारण होता है।

धनादि से मित्र की सहायता करने में कभी अपने मन में उसका थोड़ा भी तिरस्कार न करो। मित्र की सहायता कर सकना अहोभाग्य है। मित्र की सहायता करना जैसा मित्र धर्म है, वैसा ही मित्र-धर्म, मित्र को कष्ट न देना भी है। सरल और सहृदय देखकर किसीको बारबार सहायता के लिए कष्ट देना अनुचित है, यही नहीं प्रत्युत मित्र का यह धर्म है कि वह जहां तक हो सके, ऐसा अवसर ही न आने दे, कि मित्र को कष्ट हो।

किसी समय यदि मित्र सहायता न कर सके, तो इतने से रुष्ट हो जाना भी ठीक नहीं। मित्र से अनुचित आशा करना तो मैत्री का केवल दुरुपयोग है। हमें सदा अपने को अपने मित्र की स्थिति में मानकर विचारना चाहिए, अमुक परिस्थिति में हम अपने मित्र के लिए क्या कर सकते, जो काम हम न कर सकते हों, उसकी आशा अपने मित्र से कदापि न करनी चाहिए।

मित्र के निर्वाह के सम्बन्ध में यह सुभाषित प्रसिद्ध है—

इच्छेच्चेद्विपुलां मैत्रीं त्रीणि तत्र न कारयेत्।
वाग्वादमर्थ सम्बन्धं परोक्षे दारभाषणम्

अर्थात्—"जो विपुल मैत्री चाहता हो, वह इन तीन बातों से अवश्य दूर रहे—वाग्वाद अर्थ-सम्बन्ध और मित्र के परोक्ष में मित्र-स्त्री से बात चीत।"

"वादे वादे जायते तत्त्वबोधः" यह सुभाषित सत्य है, पर तत्त्वबोध के लिए जहां वाद होता है, वहीं के लिए यह ठीक है,

अन्यथा अपनी अपनी बात रखने के लिए जो वाद-विवाद किया जाता है, वह केवल निरर्थक नहीं, अनेक बार हानिकारक भी होता है। कईबार शास्त्रार्थ होते-होते शस्त्रार्थ आरम्भ हो गया है। वाद-विवाद के जोश में कितनों को होश नहीं रहता और एक दूसरे के दिलों पर वाग्बाण बरसाने लगते हैं, जिसका परिणाम यह होता है, कि वाद करने वाले ऐसे मित्र का चित्त एक दूसरे से हट जाता है, कभी-कभी दिल फटने की भी नौबत आ जाती है। किसी विषय में मित्रों में मतभेद हो, तो उसके लिए वाग्वाद न करके एक दूसरे के मत का आदर करना चाहिए। ऐसी चर्चा ही न चलाना अच्छा, जिसमें मित्रों को अपने-अपने मत का आग्रह हो।

'लेन-देन जितना थोड़ा मित्र प्रेम भी उतना गाढ़ा' होता है। इसलिए मित्रों को आपस में लेन-देन न करना चाहिए। अर्थ सम्बन्ध से मित्र जितना दूर रहेगा, उतना मैत्री निभाने के विषय में सुखी होगा।

मित्र के परोक्ष में मित्र की पत्नी से बात चीत करना कई देशों के आचार में अशिष्ट नहीं समझा जाता। उन देशों का इस विषय मे कोई भिन्न अनुभव हो सकता है। परन्तु हमारे देश में शिष्ट व्यवहार यही है, कि पुरुष के परोक्ष में स्त्री से भाषण न करना चाहिए। जो लोग अपने मित्रों से मित्रता निभाना चाहते हैं, उन्हें मित्र की अनुपस्थिति में उसकी स्त्री से कभी बात चीत न करनी चाहिए। मित्र की उपस्थिति में मित्र–पत्नी से वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा लक्ष्मण का सीताजी के साथ था। लक्ष्मण ने सीताजी के चरणों के सिवाय और किसी अंग का दर्शन नहीं किया था। किसी भी परस्त्री से भाषण करते हुए अपनी दृष्टि को उसके पैरों पर ही रखना चाहिए।

अनेक मित्रों की यह धारणा रहती है, कि मित्र से किसी बात का परदा न रखना चाहिए—कोई बात उससे न छिपाना चाहिए। पर यह कोई नियम नहीं, यह आवश्यक भी नहीं है। जिसके योग्य जो बात हो वही उससे कहनी चाहिए, यही साधारण नियम है। यदि कोई मित्र ऐसा है, कि उसके पेट में कोई बात नहीं पचती, तो उससे सब तरह के गुह्य भेद कह देना अपने आपको धोखा देना है। मित्रों से व्यर्थ बात चीत करके अपना और उसका समय नष्ट न करो। ऐसा करने से जो बात न कहनी चाहिए, वह कभी न कही जायगी। व्यर्थ बात करने वाले लोग अनेक बार ऐसी बात कह डालते हैं, जिनके कहने से पीछे उन्हें पश्चात्ताप करना पड़ता है। मित्र से कोई छल न करना चाहिए, इसका मतलब यह नहीं है, कि उससे कोई बात नहीं छिपानी चाहिए।

मित्रों को एक बात का ध्यान रखना चाहिए। वह यह कि अनेक मित्रों में परस्पर कलह करा देने वाले चुगलखोर नामक जीव पैदा हो जाते हैं। कभी सच्ची, कभी झूठी, और कभी "राई का पर्वत" बनाकर एक की बातें दूसरे को सुनाया करते हैं। इनसे मित्रों को बहुत सावधान रहना चाहिए। इनकी बातें सुनकर इन्हें मैत्री में विष फैलाने का अवसर ही न देना चाहिए।

सन्मित्रसे समृद्धि सौभाग्य शालिनी होती है और विपद् संकट आदि अवस्थाओं में उससे उपकार होता है। इसलिए सन्मित्र का अभिनन्दन करो, सहायता करो, उसके लिए परिश्रम करो, संकट में उसकी रक्षा करो उस पर कोई आक्रमण करे तो उसके कंधे से कंधा लगाकर खड़े हो, उसके सुख से सुखी और दुःख से दुखी हुआ करो और जब वह विपद्ग्रस्त हो, तब उसे सान्त्वना दिया करो। ऐसा करो, तब समझा जायगा कि तुम अपना कर्तव्य पालन करते हो।

सहयोग और सामूहिकता की भावना

मनुष्य सामाजिक प्राणी है और आज तक संसार में उसने जो कुछ उन्नति की है वह सहयोग और सामूहिकता की भावना के द्वारा ही की है। अकेला व्यक्ति किसी भी प्रकार की उन्नति कर सकने में असमर्थ होता है। यदि मनुष्य इन विशेषताओं का त्याग करदे तो उसमें और जंगलों में फिरने वाले एक पशु में कुछ भी अन्तर न रह जायगा। इसलिए मनुष्य को अपने हित की दृष्टि से भी सदा सामूहिकता की भावना को बढ़ावा देना चाहिए और इस बात का प्रयत्न करते रहना चाहिए कि समाज में जहां तक सम्भव हो सहयोग की भावना निरन्तर बढ़ती रहे।

सच्चा सामाजिक बनने के लिए आपको सहनशक्ति, धैर्य तथा संतोष की आवश्यकता है। आप में भी कमियां हैं, आप में भी अभाव और दुर्गुण हैं, इसलिए दूसरों को इस बात का मौका न दीजिए कि जब आप उन्हें सही रास्ता दिखा रहे हों, तभी वे आपको पहले स्वयं सम्हलने का ताना देकर आपके काम में बाधा डालें। आपको धैर्य और नरमी से काम लेना है। आदमी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ सकता। उसमें कुछ संस्कार जमे होते हैं कुछ वंशानुगत, जन्मभूमिगत भावनाएँ होती हैं, कही-सुनी और लिखी पढी बातों का प्रभाव पड़ा होता है। माना कि उन्हे अपनी अच्छाइयों व बुराइयों का भार स्वयं सहन करना है, किन्तु आप यदि किसीको गलत राह पकड़ते देख लें तो आगे बढ़कर उसे सचेत कर देना आपका काम है। आप उसे समझाएँ कि उसे उस प्रकार का बना देने की जिम्मेदारी किस पर है। यदि समझाने के बजाय आप रुष्ट होकर बैठ रहे और आपका पारा चढ़ा रहा तो उससे आपकी ही क्षति है। इसमे दिल और दिमाग दोनों ही थक

जायेंगे। यदि आपने उत्तेजनापूर्ण शब्दों से काम लिया तो किया हुआ काम फिर दुहराया जा सकता है, उससे भी भयंकर कृत्य किया जा सकता है। उत्तेजित व्यक्ति समझता है कि वह अपराधी को अपशब्दों और ताड़ना द्वारा सुधार रहा है, किन्तु वह नहीं जानता कि ऐसा करके वह स्वयं अपने प्रति अन्याय कर रहा है। अपराधी स्वयं आपकी बात मानने में, आपका मत स्वीकार करने में हिचकिचाएगा, यहां तक कि आपको अपने रास्ते का रोड़ा समझकर डराएगा-धमकाएगा, लड़ने-झगड़ने पर आमादा हो जाएगा और ऐसे समय यदि आप भी उसीकी तरह उन्मत्त हो गए तो आपमें उसमें अन्तर ही क्या रहा? इस अनर्थकारी प्रकृति के कारण दलों में फूट पड़ जाती है, प्रान्त-प्रान्त और राष्ट्र-राष्ट्र एक दूसरे को धिक्कारता और पछाड़ने की कोशिश करता है।

यह भी आवश्यक है कि आप ईर्ष्या एवं अपनी अहम्मन्यता त्यागकर दूसरों की योग्यता का भी मूल्यांकन करें। केवल इसीसे काम न चलेगा कि आपने अपने प्रतिद्वन्द्वियों से ईर्ष्या या द्वेष करना छोड़ दिया है और अब भविष्य में इस रोग से बचे रहेंगे। दूसरों की सफलता पर उन्हें साधुवाद दीजिए। उनकी अच्छाइयों की प्रशंसा करके उन्हें और उत्साहित कीजिए। समाज-सुधार की राह में ईर्ष्या एक बड़ी दीवार है। प्रसिद्ध कवि मोलियर ने कहा है, "ईर्ष्यालु व्यक्ति मर जाते हैं, किन्तु ईर्ष्या नहीं मरती" उदाहरणार्थ, यदि आप किसी अपने से बुद्धिमान व्यक्ति से मिलें तो समझ लें कि उसकी बुद्धि समाज की बुद्धि है और केवल उसीकी बुद्धि नहीं है। मानवता के बुनियादी ऐक्य के नाते वह आपकी भी है। प्रकृति द्वारा सभी को यथायोग्य गुण-अवगुण मिलते हैं। कुछ गुण आप में हैं, कुछ दूसरों में। इससे स्पष्ट है कि कोई किसीसे छोटा नहीं, हीन नहीं। वास्तव में ईर्ष्या

तो ऐसा निकृष्ट अभिशाप है जो बदले में हानि के सिवा और कुछ नहीं देता।

व्यवहार में आपको विनीत, मितभाषी और आदर-सूचक शब्दों का प्रयोग करना है। चाहिए तो यह कि जो जिस योग्य है, उसे वैसा ही आदर, सम्मान और स्नेह अर्पण किया जाय। किसीकी प्रतिष्ठा में कमी करने के असफल प्रयत्न से आपको अपयश के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलने का। आज के दूषित वातावरण में कोई अपनी योग्यता या अज्ञानता के दम्भ पूर्ण स्तर से नीचे उतर कर समझौता नहीं करना चाहता, किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि सहयोग की पहली सीढ़ी समझौता है। संसार में एक ही व्यक्ति होता तो कोई बात नहीं थी।

यदि हम समाज में सहयोग के भाव की स्थापना और वृद्धि करना चाहते हैं, तो हमको उन विशेषताओं को ग्रहण करना चाहिए जिनसे अन्य मनुष्यों को लाभ पहुँचता है और जिन्हें वे पसन्द करते हैं। यह भली प्रकार स्मरण रखना चाहिए कि आज हम सभ्यता और संस्कृति की जितनी उन्नति देख रहे हैं और जिसके कारण हमारा जीवन भी सुख और शान्ति से व्यतीत हो रहा है उसके निर्माण में समस्त समाज का हाथ रहा है। इसलिए हमको अपना आचरण ऐसा ही रखना चाहिए जिससे समाज में एक्य, प्रेम और सहयोग के भावों की वृद्धि हो और हम दिन पर दिन उन्नति की ओर अग्रसर हो सकें।

अखण्ड-ज्योति प्रेस, मथुरा।

जीवन को सुख-शान्तिमय बनाने वाला साहित्य

(मूल्य प्रत्येक पुस्तक का छः-छः आना है)

१-सूर्यचिकित्सा विज्ञान २-प्राणचिकित्सा विज्ञान ३-स्वस्थ बनने की विद्या ४-भोग में योग ५-बुद्धि बढ़ाने के उपाय ६-आसन और प्राणायाम ७-तुलसी के अमृतोपम गुण ८-महान जागरण ६-तुम महान हो १०-घरेलू चिकित्सा ११-दीर्घ जीवनके रहस्य १२-नेत्रों की प्राकृतिक चिकित्सा १३-स्वप्न दोष की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा १४-दूधकी आश्चर्यजनक शक्ति १५-उन्नति का मूलमन्त्र ब्रह्मचर्य १६-उपवासके चमत्कार १७-स्त्री रोग चिकित्सा १६-बालरोग चिकित्सा २०-कब्ज की चिकित्सा २१-निरोग जीवन का राजमार्ग २२-चिरस्थाई यौवन २३-सौन्दर्य बढ़ाने के ठोस उपाय २४-मनुष्य शरीर की बिजली के चमत्कार २५-पुत्र-पुत्री उत्पन्न करने की विधि २५-हमारी पारिवारिक समस्याएँ २६-मन चाही सन्तान २७-दाम्पत्ति जीवन का सुख २८-हमारी आन्तरिक शत्रु २६-क्याखायें ? क्योंखायें ? कैसेखायें ? ३०-हमारे सभ्यताके कलङ्क ३१-धनवान बनने के गुप्त रहस्य ३२-मरने के बाद हमारा क्या होता है ? ३३-मित्रभाव बढ़ानेकी कला ३४-आकृति देखकर मनुष्य की पहिचान ३५-हमें स्वप्न क्यों दीखते हैं ? ३६-विचार करने की कला ३७-हम वक्ता कैसे बन सकते हैं ? ३८-सफलताके तीन साधन ३६-जिंदगी कैसे जिएँ ४०-प्रसिद्धि और समृद्धि ४१-ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ? ४२-क्या धर्म ? क्या अधर्म ? ४३-ईश्वर और स्वर्ग प्राप्ति का सच्चा मार्ग ४४-भारतीय संस्कृति का बीज मंत्र यज्ञोपवीत ४५-यज्ञोपवीत द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति ४६-मैं क्या हूँ ? ४७-वशीकरण की सच्ची सिद्धि ४८-ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग।

'अखण्ड-ज्योति' प्रेस, मथुरा।

इन्द्रिय-संयम
-श्रीराम शर्मा आचार्य
सम्पादकः "अखण्ड ज्योति" मथुरा

लेखक—
श्रीराम शर्मा आचार्य
गायत्री तपोभूमि, मथुरा।

ॐ भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि
धियो योनः प्रचोदयात्।

प्रकाशक—
"अखण्ड ज्योति" प्रेस, मथुरा

प्रथम बार] सन् १६५८ [मूल्य

इन्द्रिय संयम का महत्व

—༺༻—

गायत्री का ग्यारहवाँ अक्षर 'दे' हमको इन्द्रियों पर नियंत्रण रखने की शिक्षा देता है :—

देयानि स्ववशे पुंसा स्वेन्द्रियाण्याखिलानि वै ।
असंयतानि खादन्तीन्द्रियाण्ययेतानि स्वामिनम् ॥

अर्थात्—"अपनी इन्द्रियों को वश में रखना चाहिये । असंयत इन्द्रियाँ स्वामी का नाश कर देती है ।"

(इन्द्रियाँ आत्मा के औजार हैं, सेवक हैं, परमात्मा ने इन्हें इसलिये प्रदान किया है कि इनकी सहायता से आत्मा की आवश्यकताएं पूरी हों और सुख मिले । सभी इन्द्रियाँ बड़ी उपयोगी है । सभी का कार्य जीव को उत्कर्ष और आनन्द प्राप्त कराना है । यदि उनका सदुपयोग किया जाय तो मनुष्य निरंतर जीवन का मधुर रस चखता हुआ जन्म को सफल बना सकता है ।)

(किसी भी इन्द्रिय का उपयोग पाप नहीं है । सच तो यह है कि अन्तःकरण की विविध क्षुधाओं को, तृषाओं को तृप्त करने का इन्द्रियाँ एक उत्तम माध्यम हैं । जैसे पेट की भूख, प्यास को न बुझाने से शरीर का स्वस्थ्य और संतुलन बिगड़ जाता है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर की ज्ञानेन्द्रियों की क्षुधा उचित रीति से तृप्त नहीं की जाती तो आन्तरिक क्षेत्र का संतुलन बिगड़ जाता है और अनेक प्रकार की मानसिक गड़बड़ी पैदा होने लगती हैं ।)

(इन्द्रिय भोगों की बहुधा निन्दा की जाती है । उसका वास्त-

विक तात्पर्य यह है कि अनियन्त्रित इन्द्रियाँ, स्वाभाविक एवं आवश्यक मर्यादा का उल्लंघन करके इतनी स्वेच्छाचारी एवं चटोरी हो जाती हैं कि वे स्वास्थ्य और धर्म के लिए सङ्कट उत्पन्न कर देती हैं। आजकल अधिकांश मनुष्य इसी प्रकार इन्द्रियों के गुलाम हैं। वे अपनी वासनाओं पर काबू नहीं रखते। बेकाबू हुई वासना अपने स्वामी को खाजाती है।

इसलिये यह परमावश्यक है कि इन्द्रियाँ हमारे काबू में रहें। वे अपनी मनमानी करके हमें चाहे जब चाहे जिधर न घसीट सकें, बल्कि जब हम स्वयं आवश्यकता अनुभव करें, जब हमारा विवेक निर्णय करे, तब उचित आन्तरिक भूख को बुझाने के लिए उनका उपयोग करें। यही इन्द्रिय-निग्रह है। निग्रहीत इन्द्रियों से बढ़कर मनुष्य का सच्चा मित्र तथा अनियन्त्रित इन्द्रियों से बढ़ कर शत्रु और कोई नहीं है।

इन्द्रिय-नियंत्रण का मूलमंत्र—'आत्मसंयम'

आत्म-नियंत्रण ही स्वर्ग द्वार है। यह प्रकाश तथा शांति की ओर ले जाता है। उसके बिना मनुष्य नर्कवासी है—वह अशांति और अंधकार में विलीन है। आत्म संयमी न होने से मनुष्य अपने माथे पर घोर दुखों को मढ़ता है—उसके दुःख और संताप उसे तबतक हैरान करते रहेंगे-जबतक वह आत्म नियंत्रण का कार्य आरम्भ नहीं कर देता। इसकी प्रतिस्पर्धा करने वाली कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो इसकी स्थान-पूर्ति कर सके। आत्म संयम आरम्भ करके कोई आदमी जो अपना उपकार कर सकता है—उससे अधिक हित करने वाली संसार की कोई शक्ति नहीं है।

आत्म नियंत्रण से मनुष्य अपने दैवी गुणों को प्रकाशित करके दैवीज्ञान तथा शांति का भागी होता है। उसका अभ्यास प्रत्येक मनुष्य कर सकता है। निर्बल मनुष्य भी इसी समय से इसका अभ्यास आरम्भ कर सकता है। जब तक वह इस कार्य में प्रवृत्त

नहीं होता, वह निर्बल बना रहेगा अथवा संभावना है कि उसकी निर्बलता बढ़ती जाय। जो आत्मा को अपने वश में नहीं करते, अपने हृदय को शुद्ध नहीं बनाते—ईश्वर के प्रति उनकी सब प्रार्थना व्यर्थ है जो कलह मूलक अज्ञानता तथा कुप्रवृत्तियों में लिपटे रहेंगे, उनका ईश्वर की सर्वज्ञता में विश्वास करना न करना बराबर है।

जो मनुष्य पर-दोष रत जिह्वा को ठीक नहीं करना चाहता, क्रुद्ध स्वभाव का दास बना रहना चाहता है और अपवित्र विचारों का उत्सर्ग नहीं कर सकता—उसे न तो कोई बाह्य शक्ति सन्मार्ग पर ला सकती है और न उसके किसी धार्मिक बात के समर्थन तथा विरोध ही से उसकी भलाई हो सकती है। मनुष्य अपने अन्तर्हित अंधकार पर विजय पाकर ही सत्य के प्रकाश का दर्शन पा सकता है।

खेद है कि मनुष्य आत्मसंयम के परम गौरव का अनुभव नहीं करता। वह इसकी निःसीम आवश्यकता को नहीं समझता और फलतः आध्यात्मिक स्वतन्त्रता तथा वैभव, जिनकी तरफ यह मनुष्य को प्रेरित करती है मनुष्य की दृष्टि-पथ से छिपे रहते हैं। इसी कारण मनुष्य कुवासनाओं का दास बना रहता है। पृथ्वी मंडल पर फैले हुए बलात्कार, अपवित्रता, रोग तथा दुःखों पर दृष्टि दौड़ाइये और देखिये कि कहाँ तक आत्मसंयम की कमी इन सब का कारण है। तब आप इसका पूर्ण अनुभव करेंगे कि आत्म नियंत्रण की कितनी अधिक आवश्यकता है। आत्म-संयम पुण्य की प्रथम सीढ़ी है। इससे प्रत्येक सद्गुणों की प्राप्ति होती है। सुव्यवस्थित तथा सच्चे धार्मिक जीवन की यह सर्व प्रथम आवश्यकता है।

प्रलोभनों से सदैव सावधान रहिये

इन्द्रियों के कुमार्गगामी होने का सब से प्रधान कारण भाँति-

भाँति के प्रलोभन होते हैं। प्रलोभन एक ऐसा आकर्षक मोहचक्र है, जिसका कोई स्वरूप, आकार, स्थिति, अवस्था नियत नहीं है, किंतु फिर भी वह नाना रूपों में मानवमात्र को ठगने, पदच्युत कर पथभ्रष्ट कर देने के लिये आता है ! जीवन में आने वाले बहुत-से मायावी प्रलोभन इतने मनोमोहक, लुभावने और मादक होते हैं कि क्षणभर के लिये विवेकशून्य हो अदूरदर्शी वन हम विक्षिप्त से हो उठते हैं। हमारी चिन्तनशील सत्-प्रवृत्तियाँ पंगु हो उठती हैं तथा हम विषयवासना, आर्थिक लोभ, स्वार्थ, संकुचितताबश प्रलोभन के शिकार बन जाते हैं। अन्ततः उनसे उत्पन्न होने वाली हानियों, कष्टों, त्रुटियों, अपमान तथा अप्रतिष्ठा से दग्ध होते रहते हैं। प्रलोभन जीवन की मृगतृष्णा है, तो बुद्धि का भ्रम मोह का मधुर रूप !

लालच के रूप अनेक हैं। कभी आप सोचते हैं, 'मैं धनवान् बनूँ, ऊँचा रहूँ, मेरे ऊपर लक्ष्मी की कृपा रहे।' इस उद्देश्य-सिद्धि के हेतु आप रिश्वत, काला बाजार, झूठ, फरेब, कपट, हिंसा करके रुपये हड़पते हैं। ठेकेदार, ओवरसीयर, इंजीनियर तक रिश्वत में हिस्सा लेते हैं। रेलवे, पुलिस, चुंगी इत्यादि विभागों में भ्रष्टाचार इसी स्वार्थ और संकुचितता के कारण फैले हुए हैं। डाक्टर और वकील रोगी और मुवक्किलों से अधिकाधिक ऐंठना चाहते हैं। बाजार में खराब माल देकर अथवा निम्नकोटिकी वस्तुओं का सम्मिश्रण कर व्यापारी खूब लाभ कमाना चाहते हैं। सिक्के ने जैसे मानवीयता का शोषण कर लिया हो। ऐसा जान पड़ रहा है प्रलोभन के अनेक रूप हैं—

'अमुक व्यक्ति की पत्नी मेरी पत्नी की अपेक्षा सुन्दर है। मुझे भी सुन्दर पत्नी प्राप्त होनी चाहिये। मैं तो अमुक अभिनेत्री जैसी स्त्री से विवाह करूँगा।'

अमुक व्यक्ति का मकान सुन्दर है। अमुक के पास आलीशान

कोठी, मोटर, नौकर-चाकर, सुन्दर वस्त्र, फरनीचर इत्यादि हैं। मैं भी किसी प्रकार उचित-अनुचित कैसे ही उपायों से वस्तुएँ—सुविधाएँ प्राप्त करूँ। अमुक मुझसे ऊँचे पद पर आसीन हो गया, मैं भी छल-बल कौशल से या रुपया दे-दिलाकर वही पद प्राप्त करूँ।

अमुक व्यक्ति बड़ा सुस्वादु भोजन खाता है, मिठाई, पूड़ी, पकवान, मेवे, दूध, रबड़ी आदि बढ़िया से बढ़िया वस्तुएँ नित्य चखता है। मैं भी किसी अच्छे-बुरे उपाय से ये चीजें प्राप्त करूँ। ऐसा सोचते सोचते जैसे ही कोई तनिक-सा प्रलोभन आपको देता है कि आप बिना सोचे-समझे उसके समक्ष घुटने टेक देते हैं। रुपया, कमीशन, डाली, फल, मुफ्त सेवा, नाना उपहार ले लेना—सब प्रलोभन के ही स्वरूप हैं। इनका कोई आदि-अन्त नहीं। समुद्र की तरंगों की भाँति वे आते ही रहते हैं।

नैतिक दृष्टि से कमजोर चरित्रवाले व्यक्ति आसानी से प्रलोभन के शिकार बनते हैं। जिनकी आवश्यकताएँ, विलासी इच्छाएँ, चटोरापन, अनुचित माँगें, नशे बढ़े हुए हैं, वे प्रायः प्रलोभनों के सामने झुकते हुए देखे गये हैं। जिन्हें दान-दहेज, यात्राएँ, भौतिकता, टीपटाप का शौक है, वे लालच में फँसते हैं। कभी-कभी सहज सात्त्विक बुद्धि वाले भी दूषित वातावरण के प्रभाव से प्रलोभनों के चक्कर में आ जाते हैं।

विषयों में रमणीयता का भास बुद्धि के विपर्यय से होता है। बुद्धि के विपर्यय में अज्ञान-सम्भूत अविद्या प्रधान कारण है। इस अविद्या, क्षणिक भावावेश, अदूरदर्शिता के ही कारण हमें प्रलोभन में रमणीयता का मिथ्या बोध होता है। प्रलोभन से तृप्ति एक प्रकार की मृग तृष्णा मात्र है।

प्रलोभन में मुख्यतः दो तत्व कार्य करते हैं—उत्सुकता एवं दूरी। ईसाइयों के मतानुसार आदि पुरुष एडम (आदम) का

स्वर्ग से पतन ज्ञान-वृक्ष के फल को चखने की उत्सुकता के ही कारण हुआ था। उन्हे आदेश मिला था कि वे अन्य सब वृक्षों के फलों को चख सकते हैं, केवल उसी वृक्ष से बचते रहें। जिस बात के लिये हमें रोका जाता है, अप्रत्यक्ष रूप से उसके प्रति हम अधिकाधिक आकृष्ट होते हैं। अतः एडम को वर्जित फल के प्रति उत्सुकता उत्पन्न हो गयी। औत्सुक्य से प्रभावित होने के कारण उस फल में रमणीयता का भास हुआ। उन्होंने चुपचाप प्रलोभन के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया। पर ईश्वर ने उन्हें इसकी बड़ी कड़ी सजा दी थी।

जो पदार्थ, इन्द्रियों को तृप्त करने के नाना साधन, हमसे दूर रहते हैं, जिन्हें हम दैनिक जीवन में नहीं पाते, जिनका स्वाद हमने नहीं उठाया है, वे ही दूरी के कारण हमें आकर्षक प्रतीत होते हैं। वास्तव में रमणीयता किसी बाह्य जगत की वस्तु में नहीं है। वह तो हमारी कल्पना तथा उत्सुकता की भावनाओं की प्रतिच्छाया मात्र है। वस्तु को आकर्षक बनाने वाला हमारा मन है जो क्षण-क्षण नाना वस्तुओं पर मचल-मचल जाता है, नयी वस्तु की ओर हमें बरबस खींच ले जाता है। कभी वह जिह्वा को उत्तेजित कर हमें सुस्वादु वस्तुओं की ओर आकृष्ट करता है, कहीं कानों को मधुर संगीत सुनने के लिए खींचता है। कहीं हमारी वासना को उद्दीप्त कर मादक वृत्तियों को उत्तेजित कर देता है। मनकी कोई भी गुप्त अतृप्त इच्छा प्रलोभन का रूप धारण कर लेती है। विवेक का नियन्त्रण ढीला पड़ते ही मन हमें स्थान-स्थान पर बहकाता फिरता है। अथवा विवेक पर आवरण (पर्दा, तमोवृत्ति, इन्द्रिय-दोष, बीमारी, प्रमाद) पड़ा रहने से बुद्धि तिरोहित हो जाती है। फलतः हम पतन की ओर जाते हैं, हमारा वातावरण गन्दा हो जाता है, हम दूसरों को धोखा देते हैं, झूठ बोलते, ठगते हैं। विवेक पर पर्दा रहने से ही दुष्ट पुरुष

विद्या को विवाद में, धन को अहंकार और विलास में, बल को पर-पीड़ा में लगाते हैं, निर्बलों को सताते हैं। अतः मन पर सतर्कता से अन्तर दृष्टि रखनी चाहिये।

जैसे युद्ध करते समय जागरूक सन्तरी को यह ध्यान रखना पड़ता है कि न जाने शत्रु का कब आक्रमण हो जाय, कब किस रूप में शत्रु प्रकट हो जाय, उसी प्रकार मन रूपी चञ्चल शत्रु पर तीव्र दृष्टि और विवेक को जागरूक रखने की अतीव आवश्यकता है। जहाँ मन आपको किसी इन्द्रिय-सम्बन्धी प्रलोभन की ओर खींचे, वहीं उसके विपरीत कार्य कर उसकी दुष्टता को रोक देना चाहिए।

मन बड़ा बलवान शत्रु है। वासना और कुविचार का जादू इस पर बड़ी शीघ्रता से होता है। बड़े-बड़े संयमी व्यक्ति वासना के चक्र में आकर मनको न रोक सकने के कारण पथ भ्रष्ट होजाते हैं। मनको शुद्ध करना अत्यन्त दुष्कर कृत्य है। इससे युद्ध करने में एक विचित्रता है। यदि युद्ध करने वाला दृढ़ता से युद्ध में संलग्न रहे, निज इच्छा शक्ति को मनके व्यापारों में लगाये रहे, तो युद्ध मे संलग्न सैनिक की शक्ति अधिकाधिक बढ़ती है और एक दिन वह इस पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है। यदि तनिक भी इसकी चंचलता में बहक गये, तो यह मनुष्य के चरित्र, आदर्श, संयम, नैतिक दृढ़ता, धर्म को तोड़-फोड़ कर, सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है।

मन को दृढ़ निश्चय पर स्थिर रखने और उसी पर एकाग्र ध्यान रखने से मुमुक्ष की इच्छा शक्ति प्रबल बनती है। मन का स्वभाव मनुष्य की इच्छा के अनुकूल बन जाने का है। इसे जिन विषयों की ओर दृढ़तासे एकाग्र कीजिये, वही कार्य करने लगेगा। वह व्यर्थ निश्चेष्ट निष्क्रिय नहीं बैठना चाहता। अच्छाई या बुराई—वह किसी न किसी ओर निश्चय आकृष्ट होगा। यदि

आप शुभ रचनात्मक समुन्नत कार्यों में उसे न लगायेंगे, तो वह बुराई की ओर चलेगा। यदि आप उसे पुष्प-पुष्प विचरण करने वाली मधु-लोभी तितली बना देंगे—जो रूप, रस और गन्ध पर मँडराये—तो वह अवश्य आपको किसी भयङ्कर स्थिति में डाल देगा। यदि आप उसे उद्दण्ड रखेंगे तो वह दिन-रात असंख्य स्थानों पर भ्रान्तिमति रहेगा। यदि आप शुभ इष्ट-पदार्थों के सुविचारों में उसे स्थिर रक्खेंगे, तो वह आपका सबसे बड़ा मित्र बन जायगा।

जब-जब अपने अन्तःकरण में विषय-वासना का प्रबल सङ्घर्ष उत्पन्न हो, तब तब, नीर-क्षीर-विवेकी निश्चयात्मिका बुद्धि को जाग्रत् कीजिये। मन से थोड़ी देर पृथक् रह कर इसके कार्य-व्यापारों पर तीव्र दृष्टि रखिये। वह, कुविचार, कुत्सित चिन्तन, वासना का ताण्डव कुकल्पना-चक्र टूट जायगा और आप मन के साथ चलायमान न होंगे। मन के व्यापार के साथ निज आत्मा की समस्वरता न होने दें। इसी अभ्यास द्वारा वह आज्ञा देने वाला न रह कर सीधा-सादा आज्ञाकारी अनुचर बन जायगा—

मन लोभी, मन लालची, मन चंचल मन चोर।
मन के मत चलिये नहीं, पलक पलक मन और॥

प्रमाद में फँसी इन्द्रियों के सुख में स्थिरता नहीं है। इन्द्रिय सुख दुःख रूप है। यह अस्थिर और क्षणिक है। यह आनन्द आवरणमात्र है। इन्द्रिय सुख के लिये मनुष्य को अनेक कुचक्रों, कुटिल रीतियों का अवलम्ब लेना पड़ता है। एक सुखकी लालसा में मनुष्य अधिकाधिक उलझता ही जाता है। एक इन्द्रिय को तृप्त करते-करते मनुष्य दूसरी-तीसरी, अधिकाधिक सांसारिकता में लिप्त होता ही जाता है। अन्ततः पाप योनि को प्राप्त होता है। जब तक मन और इन्द्रियों पर पूरा नियन्त्रण नहीं होता, तब तक सुख की आशा रखना व्यर्थ है। मन पर निरन्तर कड़ी दृष्टि

रखिये-स्वयं भगवान् श्री कृष्णजी ने गीता में हमें मन पर तीखी निगाह रखने की ओर निर्देश किया है—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप्य इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुमायतः ॥ (६ । ३६)

'मनको संयमित न करने वाले पुरुषके द्वारा योग दुष्प्राप्य है। स्वाधीन मन वाले प्रयत्नशील पुरुष द्वारा ही योग प्राप्त होता है। इष्ट सिद्धि प्राप्त होती है।'

अभ्यास और वैराग्य से मन को वश में करने में वहुत सहायता मिलती है। गीता में मन को भगवान में एकाग्र करने का अमूल्य उपदेश है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैदतदत्मन्येव वशं नयेत् ॥ (६ । २६)

'यह अस्थिर और चञ्चल मन जिस-जिस कारण से संसार में जाय, उस-उससे हटा कर इसे वार-वार आत्मा में लगावे।'

सुख रूप भासने वाले विपय-वासना के प्रलोभन में कदापि न फँसिये। मन के विपरीत चलिये। परमात्माका जो रूप आपको विशेष आकर्पक प्रतीत होता हो, उसी में मन वुद्धि को एकाग्र करने का सतत अभ्यास करते रहिये। वैराग्य और शुभचिन्तन के अभ्यास से ही प्रलोभन से ही मुक्ति मिल सकती है।

वासनाओं को जीतने के लिये आध्यात्मिक चिन्तन

पर जिन लोगों के मन पर वासनाओं ने अधिकार जमा लिया है, और जो इसके फल स्वरूप इन्द्रियों के दास वन चुके हैं, उनका छुटकारा सहज मे नहीं होता। वे विपयों की वुराइयाँ जान कर भी निर्वलता अथवा मोहवश उनके फन्दे से नहीं निकल पाते। ऐसे लोगों को निरन्तर सत्संगति और आध्यात्मिक चिन्तन की आवश्यकता पड़ती है। इन वासनाओं में प्रायः काम-वासना

ही सर्व प्रधान होती है, और सबसे पहले उसी के निग्रह की चेष्टा की जानी चाहिये।

स्त्री की प्रतिमूर्ति अथवा स्मरण मन को क्षुब्ध करता है। काम वासना शक्तिशाली होती है। यह एक कुसुम-धनुष साथ लेकर चलती है जिसमें मोहन, स्तम्भन, उन्मादन, शोषण और तपन रूपी पाँच बाण सजे होते हैं। विवेक, विचार, भक्ति और ध्यान इस घोर राग का मूलोच्छेद करते हैं। यदि काम पर विजय प्राप्त हुई तो क्रोध, लोभ आदि जो उसके शस्त्र हैं, आप ही कुण्ठित हो जायेंगे। राग का प्रधान अस्त्र रमणी है। यदि इसे मन से नष्ट किया गया तो इसके अनुवर्ती और परिजन बड़ी आसानी से जीते जायेंगे। यदि सेनापति मारा गया तो सैनिकों को मार डालना आसान हो जायगा। वासना पर विजय प्राप्त करो। फिर क्रोध को जीत लेना आसान हो जायगा, केवल क्रोध ही वासना का अनुवर्ती है।

सैनिक जैसे ही दुर्ग से बाहर निकले, उन्हें एक-एक करके मार डालो। अन्त में तुम्हारा दुर्ग पर आधिपत्य हो जायगा। इसी प्रकार प्रत्येक संकल्प को जो मन में उठे एक-एक करके नष्ट करदो। अन्त में तुम्हारा मन पर अधिकार हो जायगा।

विचार, शांति, ध्यान और क्षमा के द्वारा क्रोध पर विजय प्राप्त करो। जो मनुष्य तुम्हारी हानि करता हो, उसके ऊपर दया करो और उसे क्षमा कर दो। उलाहने को प्रसाद समझो, उसे आभूषण जानो तथा अमृततुल्य मानो। भर्त्सना को सह लो। सेवा, दया और ब्रह्मभावना के द्वारा विश्वप्रेम का विकास करो। जब क्रोध पर विजय प्राप्त हो जायगी तो धृष्टता, अहङ्कार और द्वेष स्वयं ही नष्ट हो जायेंगे। प्रार्थना और भजन से भी क्रोध दूर हो जाता है।

सन्तोष, अभेद, विराग तथा दान के द्वारा लोभ का शमन

करो। अभिलाषाओं को मत बढ़ाओ। तुम्हें कभी निराश न होना पड़ेगा। सन्तोष के राज्य के चार सन्तरियों की सहायता से तुम ब्रह्म ज्ञान, जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हो।

अनुराग के पीछे-पीछे शोक और दुःख भी लगे रहते हैं। अनुराग शोक से मिश्रित होता है। सुख के पीछे दुःख चलता है, जहाँ सुख है वहाँ दुःख भी है। अनुराग के नाम पर मनुष्य दुःख का विषमय बीज वपन करता है, जिससे शीघ्र ही स्नेह के अंकुर निकल आते हैं, जिसमें बिजली के समान भयानक दाहकता होती है और इन अंकुरों से अनेक शाखाओं से युक्त दुःख का वृक्ष उत्पन्न होता है, जो ढँके हुए घास के ढेर के समान जलते हुए, धीरे-धीरे शरीर को दग्धकर डालता है। बराबर इस संसार की असारता पर विचार करो। राग से मोह उत्पन्न होता है। यह सभी जानते हैं कि जब किसी मनुष्य की पालतू चिड़िया को बिल्ली खा जाती है तो उसे दुःख होता है, परन्तु यदि बिल्ली किसी दूसरी गौरैया या चूहे को खाती है, जिससे उसे कुछ सम्बन्ध नहीं होता, तो वह कुछ भी दुःख नहीं प्रगट करता। अतः तुमको उस अनुराग का मूलोच्छेद करना चाहिए जो व्यर्थ की आसक्ति का कारण होता है। शरीर असंख्यों कीटाणुओं को उत्पन्न करता है, जिसे दूर करने के लिये लोग आतुर होते हैं। परन्तु एक को वह बच्चे के नाम से पुकारते हैं जिसके लिये उनका जीवन क्षीण होता है। सांसारिक मोह इस प्रकार का होता है। अनुराग की गांठ उस महामोह से दृढ़ होती है जो मनुष्य के हृदय को चारों ओर से सूत्र के समान ग्रथित किये हुए हैं। अनुराग से छुटकारा पानेका प्रधान उपाय है यह चिन्तन करना कि यह संसार एक असार वस्तु है। इस महान् जगत् में असंख्य पिता, माता, पति, स्त्री बच्चे तथा पितामह चले गये हैं। तुम्हें अपनी मित्र-मण्डली को विद्युत की क्षणिक छटा के समान समझना चाहिए

और इसका अपने मन में पुनः पुनः चिन्तन करते हुए शान्ति करनी चाहिए ।

मन को शून्य कर दो। शोक के महान् आघातों से बचने का यह एकमात्र उपाय है। सकल्प को दबा देना कठिन है। और जब वह एक बार दबा दिया जाता है तो संकल्पों की एक नवीन शृङ्खला उत्पन्न होती है जो मन को आक्रांत कर देती है। किसी स्थिर वस्तु के ऊपर चित्त जमाओ। तुम मन को रोकने में सफल होगे। आत्मा में संकल्पों को एकत्र करो, जिस प्रकार ग्रीष्म मे मनुष्य पोखरे के शीतल जल मे जाकर अपने शरीर को ठण्डा करता है। हरि का सतत ध्यान करो, जो श्याम रङ्ग के हैं तथा जो गले में बहुमूल्य हार धारण करते हैं, एवं भुजाओं, कानों और सिर को आभूपणों से अलकृत किये हुए हैं ।

जब विपय तुम्हें व्यथित करें, समोहित करे, तब विचार विवेक और सात्विक बुद्धि का सदा प्रयोग करो। इन्द्रियों को भ्रांत करने वाला अहङ्कार जो मन को आच्छादित करता है, जब विवेक द्वारा नष्ट हो जाता है तो मृगमरीचिका के जल के समान वह अन्य भ्रान्तिजनक पदार्थों में आ जाता है। बारम्बार विवेक का आश्रय लो जब तक ज्ञान में तुम्हारी स्थिति न हो जाय। वस्तुतः अविद्या की शक्ति महान् है ।

जब तुम्हारे संकल्प जो बिखरे हुए हैं, एकत्रित किये जायेंगे और तुम शांत अवस्था मे आओगे तो शाश्वत आनन्दमय आत्मा चमक उठेगी, जैसे सूर्य स्वच्छ जल के ऊपर चमकता दीख पड़ता है। शान्ति धन, दारा या भोग में नहीं रहती। जब मन संकल्पहीन और कामनाहीन हो जाता है तो आत्मा चमक उठती है और शाश्वत आनन्द और शान्ति की वर्षा करती है। फिर तुम बाहरी विपयों में व्यर्थ ही सुख के लिये क्यों भटकते हो ?

अन्दर खोजो, अपने आनन्द के लिये अपने भीतर सत् चित्-आनन्द का अमृत आत्मा मे ढूँढो।

आवेशों से वचना आवश्यक है

इन्द्रिय निग्रह का मूल मंत्र अपने को आवेशों से वचाये रहना है जिस व्यक्ति के भीतर तरह-तरह के मनोवेगों का तूफान उठता रहता है तो उसका मानसिक सन्तुलन स्थिर नहीं रह सकता और इससे वह इन्द्रियों का वशीभूत रखने में भी असमर्थ हो जाता है। इसलिए जो लोग इन्द्रियो को संयत रखना चाहें उनको अपने मनोवेगों पर भी सदैव दृष्टि रखना आवश्यक है।

भूतकाल की बीती हुई दुखदाई घटनाओं का स्मरण करके कितने ही मनुष्य अपने आपको बेचैन वनाये रहते हैं। किसी प्रियजन की मृत्यु, पैसे की हानि, अपमान, विछोह आदि की कटु स्मृतियों को वे भुला नहीं पाते और सदा कुढ़ते एव जलते रहते हैं। इसी प्रकार कितने ही मनुष्य भविष्य की कठिनाइयों को हल करने की चिन्ता में जला करते हैं। लड़की के विवाह के लिए इतना रुपया कहाँ से आवेगा? वुढापे मे क्या खायेंगे? लड़के कुपात्र निकले तो प्रतिष्ठा कैसे कायम रहेगी? गरीवी आगई तो कैसे वीतेगी? इतना धन इकट्ठा न हो पाया तो अमुक कार्य कैसे पूरा होगा? अमुक ने सहारा न दिया तो कैसी दुर्दशा होगी? अमुक आपत्ति आ गई तो भविष्य अन्धकार मय हो जायेगा, आदि, अनेकों प्रकार के भावी सङ्कटों की चिंता में रक्त, मॉस को सुखाते रहते हैं। भूत का शोक और भविष्य का भय इतना त्रास दायक होता है कि मस्तिष्क का अधिकांश भाग उसी में उलझा रहता है। वर्तमान समय की गुत्थियों को सुलझाने और सामने पड़े हुए कार्य को पूरा करने के लिये शक्तियों का वहुत थोड़ा भाग वचता है। उस वचे खुचे, आंशिक मनोवल से जो थोड़ा-सा काम हो पाता है, उतने मात्र से व्यवस्था क्रम यथावत् नहीं चल सकता।

फल स्वरूप गति अवरोध उत्पन्न होकर जीवन की बधिया बैठ जातीहै। इस उलझन भरी दशामें कि कर्त्तव्य विमूढ़ होकर कितने ही मनुष्य आत्म-हत्या कर लेते हैं, पागल हो जाते हैं, घरबार छोड़कर भाग जाते हैं या दुखदायी कार्यकर बैठते हैं। कितने ही घोर निराश वादी या सनकी हो जाते हैं, कितने ही इस अशांति के भार से कुछ देर के लिये छूट के लिय जाने का सत्यानाशी प्रयत्न करते हैं।

आवेशों से मानसिक तन्तुओं को सदा उत्तेजित रखना, अपने आपको जलती मशाल से झुलसाते रहने के समान है। आवेश, जीवन की अस्वाभाविक दशा हैं, उनसे शक्तियों का भयङ्कर रूप स नाश होता है। डाक्टरों ने पता लगाया है कि यदि मनुष्य ४॥ घण्टे लगातार क्रोध में भरा रहे तो लगभग ८ औंस खून जल जायगा और इतना विप उत्पन्न हो जायगा जितना कि १ तोला कुचला से उत्पन्न होता है। चिन्ता की अधिकता से हड्डियों के भीतर रहने वाली मज्जा सूख जाती है फलस्वरूप निमोनियाँ, इन्फलुऐंन्जा सरीखे रोगों के आक्रमण का अंदेशा बढ़ जाता है। ऐसे लोगों की हड्डियाँ टेढ़ी पड़ जाती हैं और नियत स्थान से ऊपर आजाती हैं। कनपटी की, गलेकी, कन्धेकी, कानके पीछे की हड्डियां यदि ऊपर उभर आई हों तो कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति चिन्ता में घुला जा रहा है। लोभी और कन्जूसों को कब्ज की शिकायतें बनी रहती हैं और आये दिन जुकाम बना रहता है। भय और आशङ्का से जिनका कलेजा कापता है उनके शरीर में लोहू और क्षार की मात्रा कम हो जाती है। बाल झड़ने लगते हैं और सफेद होने लगते हैं। शोक के कारण नेत्रों की ज्योति-क्षीणता, गठिया, स्मरण शक्ति की कमी, स्नायविक दुर्बलता, बहु मूत्र, पथरी, सरीखे रोग हो जाते है। ईर्षा द्वेप एवं प्रति-हिंसा की जलन के कारण तपेदिक, दमा, कुष्ट सरीखी व्याधियाँ

उत्पन्न होती देखी गई है। कारण स्पष्ट है–इन मानसिक आवेशोंके कारण एक प्रकार का अन्तर्दाह उत्पन्न होता है। अग्नि जहाँ रहती है, वहाँ जलाती है। अन्तर्दाह की अग्नि में जीवन के उपयोगी तत्व इंधनकी भाँति जलते रहते हैं, जिससे देह भीतर खोखली हो जाती है। जहाँ अग्नि जलती है, वहाँ ऑक्सिजन [प्राणवायु] खर्च होती है, और कार्बन गैस [विष वायु] उत्पन्न होती है। अन्तर्दाह की प्रक्रिया से भी अनेकों विष उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके कारण शरीर तरह-तरह क रोगों का घर बन जाता है और कुछ ही समय मे इतना सड-गल जाता है कि जीवात्मा को असमयमे ही उसे छोड़कर भागने ने लिए विवश होना पड़ता है।

आवेशों का तूफान न शारीरिक स्वास्थ्यको कायमरहने देता है और न मानसिक स्वास्थ्य को। वैद्य को नाड़ी पकड़ने से कोई रोग भले ही न मालूम पड़े, पर वस्तुतः आवेश की अवस्था में जीवन की उतनी ही क्षति होती रहती है, जितनी कि बड़े-बड़े भयङ्कर रोगों के समय होती है। यह सर्व विदित है कि रोगी मनुष्य शारीरिक दृष्टिसे एक प्रकारका अपाहिज बन जाता है। वह चाहता है कि काम करूँ पर होता कुछ नहीं। जरा देर काम करने पर थककर चूर हो जाता है, मन वहाँ जमता ही नहीं, काम को छोड़ कर लेट जाने या कहीं चले जाने की तबियत करती है, करता कुछ है किन्तु हो कुछ जाता है, जरा देर के काम में काफी समय खर्च होजाता है, सो भी ठीक तरह होता नहीं, जब निरीक्षण किया जाता है तो भूल पर भूल निकलती हैं। आवेशमें भरा हुआ मनुष्य आधा पागल बन जाता है, वह कभी सर्प की तरह फुसकारता है, कभी व्याघ्र की तरह मुँह फाड़ कर खाने को दौड़ता है, कभी ऐसा दीन और कातर हो जाता है कि विलाप करने, रोने, विरक्त बनने, आत्म हत्या करने के अतिरिक्त और कुछ सूझीता नहीं पड़ता। मेरे इस आचरण का भविष्यमें क्या परिणाम होगा

यह सोचने में उसकी बुद्धि बिलकुल असमर्थ हो जाती है ।

जीवन को समुन्नता दिशा की ओर ले जाने के लिये यह आवश्यक है कि विवेक बुद्धि ठीक प्रकार काम करे । विवेक बुद्धि की स्थिरता के लिए निराकुलता आवश्यकता है । दर्पण या पानी में प्रतिविम्ब तभी दिखाई पड़ सकता है जब वह स्थिर हो । यदि दर्पण या पानी हिल रहा हो तो उसमें प्रतिविम्ब भी ठहर न सकेगा । मस्तिष्क में जब उफान आ रहे हों विवेक स्थिर नहीं रह सकता । ठीक पथ प्रदर्शन कराने वाली बुद्धि तभी उद्भूत होगी जब मन शांती हो. स्थिर हो, निराकुल हो । किसी काम की अच्छाई बुराई, हानि, लाभ, सुविधा कठिनाई आदिकी ठीक-ठीक कल्पना करने और अनेक दृष्टियों से विचार करके किसी अन्तिम निर्णय पर पहुँचने की क्षमता रखने वाला विवेक तभी मस्तिष्क में रह सकता है जब आवेशों की उद्विग्नता न हो । जो कार्य भले प्रकार आगा-पीछा सोच कर आरम्भ किए जाते हैं जोश और उतावली में बिना विचारे जिन कार्यों को आरम्भ किया जाता है, प्रायः उन्हें बीचमें ही छोड़ने को विवश होना पड़ता है ।

अध्यात्म विद्या के प्रायः सभी ग्रंथों में मन को रोकने चित्त वृत्तियों को एकाग्र करने, मन को वश में करने का पग-पग पर आदेश किया है । अनेकों साधनाऐं मन को वश में करने की बताइ गई हैं ! यह मन को वश में करना और कुछ नहीं, "निराकुलता" ही है । दुख—सुख, हानि—लाभ, जय—अजय के कारण उत्पन्न होंने वाले आवेशों से बचना ही योग की सफलता है । गीता कहती है:—

यंहि न व्यथयन्त्येत्ते पुरुपं पुरुपर्प भ ।
सम दुखं सुखं धीरं सोऽमत्वोय कल्पते ॥२—१५॥
सुखे दुखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजमौ॥२—३८॥
दुःखे ष्वनुद्विग्न मन. सुखेवु विगतस्पृहः।

वीत राग भय क्रोधस्थित धी मुंनिरुच्यते ॥ २—५६ ॥
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्यचाप्रियम् ।
स्थिर बुद्धिरसं मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ ५—२० ॥

आदि अनेक स्थलों पर निराकुलता को योग की सफलता बताया गया है। आवेश सुख-प्रधान और-दुख प्रधान दोनों प्रकार के हैं। शोक, हानि, विछोह, रोग, दंड, भय, विपत्ति, मृत्यु क्रोध, अपमान, कायरता आदि हानि-प्रधान आवेश हैं। कुछ आवेश लाभ-प्रधान भी होते हैं—लाभ, सम्पति, मिलन, कुटुम्ब, बल, सत्ता, पद, धन, मैत्री, विद्या, बुद्धि कला, विशेषता आदि के कारण एक प्रकार का नशा चढ़ आता है। इस प्रकार की कोई सम्पत्ति जब बड़ी मात्रा में यकायक मिल जाती है तब तो मनुष्य हर्षोन्मत्त हो जाता है। उसकी दशा अर्ध विक्षिप्त जैसी हो जाती है। सुख के मारे लोग फूले नहीं समाते, वे कस्तूरी हिरन की तरह इधर-उधर दौड़े फिरते हैं, चित्त बल्लियों उछलने लगता है। जब कोई सम्पत्ति स्थायी रूप से प्राप्त हो जाती है तो उसका अहङ्कार चढ़ आता है, उसे ऐसा मालूम पड़ता है मानों मैं साधारण मनुष्यों की अपेक्षा सैकड़ों गुना भारी हूँ। वैभव के मद में वह इतराता है, दूसरों का अपमान करके अपनी महत्ता का प्रदर्शन करता है।

ऐसे अहङ्कार के नशे में मदहोश पड़े हुए लोगों को अपनी प्रेस्टिज—पोजीशन—मान—बड़ाई—बड़प्पन—खातिर की बड़ी चिन्ता रहती है। इसके लिए हर काम में बहुत अधिक फिजूलखर्ची करनी पड़ती है। उस फिजूलखर्ची की सामिग्री को जुटाने के लिए अनुचित साधन जुटाने पड़ते हैं, अनेकों प्रकार की बुराई ओढ़नी पड़ती हैं। इस प्रकार एक तो अहङ्कार के नशे की जलन, दूसरे उस नशे को बनाये रहने के साधनों की चिन्ता, दोनों प्रकार की आकुलताऐं मन में कुहराम मचाये रहती हैं। दुख प्रधान

आवेशों से अन्तःकरण में जैसी अशान्ति रहती है वैसी ही सुख प्रधान आवेशों में भी उत्पन्न हो जाती है। इन दोनों से ही बचना आवश्यक है। दोनों से ही स्वास्थ्य एवं विवेक की क्षति होती है। गीता आदि शास्त्रा में इसी लिए दोनों प्रकार के आवेशों-द्वन्द्वों से दूर रहने का जोरों से प्रतिपादन किया गया है।

जीवन को समुन्नत देखने की इच्छा करने वालों के लिए यह आवश्यक है कि अपने स्वभाव को गम्भीर बनावें। उथलेपन, लड़कपन, छिछोरपन को जिन्हें आदत पड़ जाती है वे गहराई के के साथ किसी विषय में विचार नहीं कर सकते। किसी समय मन को गुदगुदाने के लिए बाल-क्रीड़ा की जा सकती है, पर वैसा स्वभाव न बना लेना चाहिए। आवेशों से बचे रहने की आदत बनानी चाहिए जैसे समुद्र तट पर रहने वाले पर्वत, नित्य टकराते रहने वाली समुद्र की लहरों की परवा नहीं करते। इसी प्रकार अपने को भी उद्वेगों की उपेक्षा करना चाहिए। खिलाड़ी खेलते हैं, कई बार हारते हैं, कई बार जीतते हैं। कई बार हारते-हारते जीत जाते हैं, कई बार जीतते-जीतते हार जाते हैं। कभी-कभी बहुत देर हार-जीत के झूले में यों ही झूलते रहते हैं। परन्तु कोई खिलाड़ी उसका अत्यधिक असर मन पर नहीं पड़ने देता। हारने पर कोई सिर धुन कर क्रन्दन नहीं करता और जीतने पर न कोई अपने को बादशाह मान लेता है। हारने वालों के होठों पर झेंप भरी मुस्कराहट होती है और जीतने वाले के होठों पर जो मुस्कराहट रहती है उस में सफलता की प्रसन्नता मिली होती है। इस थोड़े से स्वाभाविक भेद के अतिरिक्त और कोई विशेष अन्तर जीते हुए तथा हारे हुए खिलाड़ी में नहीं दिखाई पड़ता। विश्व के रङ्ग मञ्च पर हम सब खिलाड़ी हैं। खेलने में रस है, वह रस दोनों दलों को समान रूप से मिलता है। हार-जीत तो उस रस की तुलना में नगण्य चीज है।

मनोवृत्तियों का सदुपयोग

इस प्रकार के हानिकारक आवेशों से मुक्त रह कर यदि मनोवृत्तियों का उपयोग किया जाय तो वे हानि पहुँचाने के बजाय हितकारी ही सिद्ध होंगी। सर्वथा संसार-त्यागियों की तो बात छोड़ दीजिये, पर अधिकांश मनुष्यों को, जो संसार में रहते हैं और जिनको भली-बुरी सभी परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, सभी मनोवृत्तियों से काम लेना आवश्यक होता है। इस लिये हमारा कर्तव्य यही है कि अपनी मनोवृत्तियों और इन्द्रियों को ऐसी ही सधी हुई अवस्था में रखें।

मनुष्य को जो मनोवृत्तियाँ जन्म से ही दी गई हैं, वे सब उपयोगी एवं महत्वपूर्ण है। यदि उनको ठीक प्रकार से प्रयोग में लाया जाय तो प्रत्येक व्यक्ति अत्यन्त सुख शान्ति पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकता है। हम देखते हैं कि दुर्भाग्यवश लोग उनका सदुपयोग करना नहीं जानते और उन्हे बुरे मार्ग से खर्च करके अपने लिए तथा दूसरों के लिए दुखों की सृष्टि करते हैं।

हम देखते हैं कि कई मनोवृत्तियों की संसार मे बड़ी निन्दा होती है। कहा जाता है कि यह बातें पाप और दुख की जड है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि को जी भर कोसा जाता है और कहा जाता है कि इन्हीं के कारण संसार में अनर्थ हो रहे हैं। इस प्रकार के कथन किस हद तक सही हैं इसका विचारवान पाठक स्वयं निर्णय कर सकते हैं।

यदि काम बुरी वस्तु है, त्याज्य है, पाप मूलक है तो उसका उपयोग न तो सत्पुरुषों को ग्राह्य हो सकता था और न बुरी बात का अच्छा परिणाम निकल सकता था। परन्तु इतिहास दूसरी ही बात सिद्ध करता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश विवाहित जीवन व्यतीत करते हैं, व्यास, अत्रि, गौतम, वशिष्ट, विश्वामित्र, यज्ञवल्क, भारद्वाज, च्यवन, आदि प्रायः सभी प्रधान ऋषि सपत्नीक

रहते थे और संतानोत्पादन करते थे। दुनियां में असंख्य पैगम्बर, ऋषि, अवतार, महात्मा, तपस्वी, विद्वान, महापुरुष हुए हैं, यह सब किसी न किसी माता पिता के संयोग से ही उत्पन्न हुए थे। यदि काम सेवन बुरी बात है तो उसके द्वारा उत्पन्न हुए बालक भी बुरे ही होने चाहिए। बुरेसे अच्छे की सृष्टि कैसे हो सकती है? कालोंच से सफेदी कैसे निकल सकती है? इन बातों पर विचार करने से स्पष्ट होजाता है कि 'काम' स्वयं कोई बुरी वस्तु नहीं है। परमात्मा ने अपनी सर्व श्रेष्ठ कृति 'मनुष्य' में कोई बुरी बात नहीं रखी, काम भी बुरी वस्तु नहीं है, बुरा केवल काम का दुरुपयोग है। दुरुपयोग करने से तो अमृत भी विष बन सकता है। पेट की सामर्थ्य से बाहर अमृत पीने वाले को भी दुख ही भोगना पड़ेगा।

क्रोध के ऊपर विचार कीजिये। क्रोध एक प्रकार की उत्तेजना है जो आक्रमण करने से पूर्व,छलांग मारने से पूर्व आनी अत्यन्त आवश्यक है। लम्बी छलांग कूदने वालेको पहले कुछ दूर से दौड़ कर आना होता है,तब वह लम्बा कूद सकता है। यदि यों ही शांत खड़ा हुआ व्यक्ति अचानक छलांग मारना चाहे तो उसे बहुत कम सफलता मिलेगी। अपने भीतर घुसी हुई तथा फैली हुई बुराइयों से लड़नेके लिए एक विशेष उत्साह की आवश्यकता होती है और वह उत्साह क्रोध द्वारा आता है। यदि क्रोध तत्व मानव वृत्ति में से हटा दिया जाय तो बुराइयों का प्रतिकार नहीं हो सकता। रावण, कंस, दुर्योधन, हिरण्यकश्यप, महिषासुर जैसों के प्रति यदि क्रोध की भावनाऐं न उत्पन्न होतीं तो उनका विनाश कैसे होता? भारतमें यदि अंग्रेजों के विरुद्ध व्यापक क्रोध न उभरता तो भारत माता आज स्वाधीन कैसे हुई होती? अत्याचारों के विरुद्ध क्रोध न आता तो परशुराम कैसे अपना फरसा संभालते? महारानी लक्ष्मी बाई, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, जैसे आदर्श नर

रत्नों की सृष्टि कैसे होती ? अधर्म की बढ़ोतरी से कुपित होकर ही भगवान पापों का संहार करते हैं। इससे प्रगट है कि क्रोध बुरा नहीं है। क्रोध का अनुपयुक्त स्थान पर दुरुपयोग होना ही बुरा है।

लोभ को लीजिये। उन्नति की इच्छा का नाम ही लोभ है। स्वास्थ्य, विद्या, धन, प्रतिष्ठा, पुण्य, स्वर्ग, मुक्ति, आदि का लोभ ही मनुष्यको क्रियाशील बनाता है। यदि लोभ न हो तो न किसी प्रकार की इच्छा ही उत्पन्न न होगी और इच्छा के अभाव में उन्नति केलिये प्रयास करना भी न हो सकेगा। फल स्वरूप मनुष्य भी कीट-पतंगों की तरह भूख और निद्रा को पूर्ण करतेहुए जीवन समाप्त करले। लोभ उन्नति का मूल है। पहलवान, विद्यार्थी, व्यापारी किसान, मजदूर, लोकसेवी, पुण्यात्मा, ब्रह्मचारी, तपस्वी, दानी, सत्संगी, योगी सभी अपने दृष्टिकोण के अनुसार लोभी हैं। जिसे जिस वस्तु की आवेश्यकता है, जो जिस वस्तु का सचय करने में लगा हुआ है उसे उस विषय का लोभी कहा जा सकता है। अन्य लोभों की भांति धन का लोभ भी बुरा नहीं है। यदि बुरा है तो भामाशाह का, जमना लाल बजाज का धन संचय भी बुरा कहा जाना चाहिए, परन्तु हम देखते हैंकि इनके धन संचय द्वारा संसार का बड़ा उपकार हुआ। और भी अनेकों ऐसे उदार पुरुष हुए हैं जिन्होंने अपने धनको सत्कार्यमें लगाकर अपनी कमाई को सार्थक बनाया। ऐसे लोभ में और निर्लोभता में कोई अन्तर नहीं है। निन्दा तो उस लोभ की, की जाती है जिसके कारण अनीति पूर्वक अनुचित धन संचय करके उसको कुवासनाओं की पूर्ति में व्यय किया जाता है, जोड़ जोड़ कर अनुपयुक्त अधिकारी के लिए छोड़ा जाता है। लोभ का दुरुपयोग ही बुरा है वस्तुतः लोभ वृत्ति की मूल भूत रूप में निन्दा नहीं की जा सकती।

मोह का प्रकरण भी ऐसा ही है। यदि प्राणी निर्मोही होजाय

तो माताऐं अपने बच्चे को कूड़े करकट के ढेर में फेक आया करें, क्योंकि इन बालकों से उनको लाभ तो कुछ नहीं, उलटी हैरानी ही होती है। फिर मनुष्य तो यह भी सोचते कि बड़ी होने पर हमारी सन्तान हमें कुछ लाभ देगी, पर बेचारे पशु पक्षी तो यह भी नहीं सोचते, उनकी सन्तान तो बड़े होने पर उन्हें पहचानती तक नहीं, फिर सेवा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। रक्षा की सभी क्रियाऐं मोह के कारण होती हैं। शरीर का मोह, यश का मोह, प्रतिष्ठा का मोह, कर्तव्य का मोह, स्वर्ग का मोह, साधन सामिग्री का मोह, यदि न हो तो निर्माण और उत्पादन न हो और रक्षा की व्यवस्था भी न की जा सके। ममता का भाव न रहे तो "मेरा कर्तव्य" भी न सोचा जा सकेगा "मेरी मुक्ति-मेरा कल्याण" भी कौन सोच सकेगा ? अपनी संस्कृति, अपनी देशभक्ति को भी लोग भुलादेंगे। एक दूसरे प्रति प्रेम का बंधन कायम न रह सकेगा और सब लोग आपस में उदासीन की तरह रहा करेंगे। क्या ऐसा नीरस जीवन जीना कोई मनुष्य पसंद कर सकता है ? कदापि नहीं। मोह एक पवित्र शृंखला है जो व्यष्टि को समष्टि के साथ, व्यक्तिको समाजके साथ, मजबूती से बांधे हुए हैं। यदि यह कड़ी टूट जाय तो विश्व मानव की सुरम्य माला के सभी मोती इधर-उधर बिखर कर नष्ट हो जांयगे। मोह का अज्ञान जनित रूप ही त्याज्य है उसके दुरुपयोग की ही भार्त्सना की जाती है।

इसी प्रकार मद मत्सर अहंकार आदि निंदित वृत्तियोंके बारे में समझना चाहिए। परमात्मा के प्रेम में झूम जाना सात्विक मद है, क्षमा करना, भूल जाना, अनावश्यक बातों की ओर से उपेक्षा करना एक प्रकार का मत्सर है। आत्म ज्ञान को, आत्मानुभूति को, आत्म गौरव को अहंकार कहा जा सकता है। इस रूप में यह वृत्तियां निन्दित नहीं है। इनकी निन्दा तब की जाती है जब यह

संकीर्णता पूर्वक, तुच्छ स्वार्थों के लिए, स्थूल रूप में प्रयुक्त होती हैं।

मानव प्राणी, प्रभु की अद्भुत कृति है, इसमें विशेषता ही विशेषता भरी हैं, निन्दनीय एक भी वस्तु नहीं है। इन्द्रियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग हैं उनकी सहायता से हमारे आनन्द मे वृद्धि होती है तथा उन्नति में सहायता मिलती है, पुण्य परमार्थ का लाभ होता है। पर यदि इन इन्द्रियों को उचित रीति से प्रयुक्त न करके उनकी सारी शक्ति अत्यधिक, अमर्यादित भोग भोगने मे खर्च कर डाली जाय तो इससे नाश ही होगा, विपत्तियों की उत्पत्ति ही होगी। इसी प्रकार काम क्रोध, मोह आदि की मनोवृत्तियाँ, परमात्मा ने आत्मोन्नति तथा जीवन की सुव्यवस्था के लिये बनाई हैं इनके सदुपयोग से हम विकास पथ पर अग्रसर होते हैं। इनका त्याग पूर्ण रूप से नहीं हो सकता। जो इनको नष्ट करने या पूर्णतया त्याग करने की सोचते हैं, वे ऐसा ही सोचते हैं जैसे कि आँख, कान, हाथ, पांव, आदि काट देने से पाप न होंगे या सिर काट देने से बुरी बातें न सोची जांयगी। ऐसे प्रयत्नों को बालबुद्धि का उपहासास्पद कृत्य ही कहा जा सकेगा। प्रभु ने जो शारीरिक और मानसिक साधन हमें दिए हैं वे उसके श्रेष्ठ वरदान हैं, उनके द्वारा हमारा कल्याण ही होता है। विपत्ति का कारण तो हमारा दुरुपयोग है। हमें चाहिये कि अपने प्रत्येक शारीरिक और मानसिक औजार के ऊपर अपना पूर्ण नियंत्रण रखें, उनसे उचित काम लें, उनका सदुपयोग करें। ऐसा करने से जिन्हें आज निंदित कहा जाता है, शत्रु समझा जाता है, कल वे ही हमारे मित्र बन जाते हैं। स्मरण रखिये प्रभु ने हमें श्रेष्ठ तत्वों से बनाया है, यदि उनका दुरुपयोग न किया जाय तो जो कुछ हमें मिला हुआ है हमारे लिये सब प्रकार श्रेयस्कर ही है। रसायन शास्त्री जब विष का शोधन मारण करके उससे अमृतोपम औषधि बना लेते हैं तो

कोई कारण नहीं कि विवेक द्वारा वह अमूल्य वृत्तियाँ जो आम-तौर से निंदित समझी जाती हैं, सत्परिणाम उत्पन्न होने वाली न वन जांय।

इन्द्रिय-संयम और अस्वाद व्रत

अस्वाद का अर्थ है स्वाद का गुलाम न होना। अस्वाद का यह अर्थ नहीं है कि हम संसार के भोग्य पदार्थों का सेवन न करें, या षट रसों का पान न करें या जिह्वा की रस–ज्ञान की शक्ति को खो दें। अस्वाद व्रत ऐसा नहीं कहता। वह तो कहता है कि शरीर के पोषण, स्वास्थ्य तथा रक्षा के लिए जिन-जिन पदार्थों की आवश्यकता हो उनका अवश्य सेवन करो परन्तु केवल जीभ के चोचले पूरा करने के लिये किसी वस्तु का सेवन न करो। दूसरे, स्पष्ट शब्दों में जिह्वा के गुलाम न बनो। उसके ऊपर सदैव अपना स्वामित्व कायम रखो। ऐसे रहो कि वह तुम्हारे आदेश पर चले। ऐसा न हो कि तुम ही उसके संकेत पर नाचने लगो। विनोबा जी के सुन्दर शब्दों में जीभ की स्थिति चम्मच जैसी हो जानी चाहिए। "चम्मच से चाहे हलुआ परोसो, चाहे दाल-भात, उसे उसका कोई सुख दुख-नहीं।"

हनुमान जी के भक्तों ने बहुत वार कथा सुनी होगी कि एक दफा विभीषण भगवान राम के पास आये और कहने लगे कि "प्रभु! लौकिक तथा पारलौकिक सफलता का साधन क्या है?" भगवान ने कहा कि यह तो "बड़ा सरल प्रश्न है, इसको तो तुमको हनुमान जी से ही पूछ लेना चाहिये था" और यह कहकर उन्हें हनुमान जी के पास भेज दिया। विभीषण ने जब हनुमान जी के पास जाकर पूछा तो उन्होंने कोई उत्तर तो नहीं दिया पर अपने हाथ से अपनी जीभ को पकड़ कर बैठ गए। विभीषण के कई वार कहने पर भी जब हनुमान कुछ न बोले तो विभीषण नाराज होकर भगवान के पास फिर वापिस गये और बोले कि "भगवान

आपने मुझे कहाँ भेज दिया ?" भगवान ने कहा कि "क्या हनु-मान जी ने तुम्हारे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया ?" विभीषण बोले कि प्रभू ! वह क्या उत्तर देंगे। मैंने उनसे कई बार पूँछा पर उन्होंने कोई उत्तर तो दिया नहीं बल्कि अपने हाथ से अपनी जीभ को पकड़ कर बैठ गये।" भगवान बोले "विभीषण, हनुमान जी ने सब कुछ तो बतला दिया और क्या कहते ? तुम्हारे प्रश्न का केवल यही उत्तर है कि अपनी जीभ को अपने वश में रखो। यही लौकिक और पारलौकिक सफलता का सबसे सुन्दर साधन है।

श्री महादेव गोविंद रानाडे के जीवन की एक घटना इस अस्वाद व्रत के सही रूप को समझने में हमें बड़ी मदद देगी। कहते हैं कि एक दिन किसी मित्र ने यहाँ कुछ बहुत सुन्दर आम भेंट में भेजे। उनकी चतुर पत्नी ने उनमें से एक आम को धोकर, ठण्डा करके, बनाकर एक तश्तरी में उनके सामने रखा। रानाडे ने उसमें से एक दो टुकड़े खा कर आम की प्रशंसा करते हुए वह तश्तरी अपनी पत्नी को वापिस कर दी और कहा कि यह अब तुम खाना और बच्चों को देना। पत्नी ने उत्तर दिया कि उसके और बच्चों के लिये तो और आम है तो रानाडे बोले कि फिर नौकरों को दे देना। पत्नी बोली कि नौकरों के लिए भी और आम हैं, आप सब खा लीजिए। जब इस पर भी रानाडे आम खाने को तैयार न हुए तो पत्नीने कहा कि क्या आम अच्छे नहीं है ? रानाडे बोले कि आमतो इतने मीठे और स्वादिष्ट हैं कि मैंने अपने जीवनमें इससे पहले इतने स्वादिष्ट आम कभी खाये नहीं। फिर पत्नीने पूछा "आपका स्वास्थ्य तो ठीकहै ? रानाडे बोला मेरा स्वास्थ्य आज इतना सुन्दर हैकि कभी रहानहीं। तब पत्नीने कहा कि आप भी अजब बात कर रहे हैं, आमको भी स्वादिष्ट बताते हैं स्वास्थ्यको भी सुन्दर बताते हैं और फिरभी कहतेहैं कि अब और न खाऊँगा। रानाडे हँसे और बोलेकि आम बहुत सुन्दर और

स्वादिष्ट है इसीलिए अब और न खाऊँगा । ऐसा मैं क्यों कररहा हूँ उसका कारण सुनो । बात यह है कि बचपन में जबमैं बम्बई में पढ़ता था,तबमेरे पड़ोसमें एक महिला रहतीथी । वह पहले एकधनी घराने की सदस्य रह चुकी थी । परन्तु भाग्य के फेर से अब उसके पास वह धन नहीं था, पर इतनी आय थी कि वह और उसका लड़का दोनों भली प्रकार भोजन कर सकें और अपना निर्वाह कर सकें । वह महिला बड़ी दुखी रहती और प्राय: रोया करती थी । एक दिन मैंने जाकर जब उससे उसके दुख का कारण पूछा तो उसने अपना पहिला वैभव बतलाते हुए कहा कि मेरे दुख का कारण मेरी जीभ का चटोरपन है,बहुत समझाती हूँ फिर भी दुखी रहती हूँ । जिस जमाने मे मैं स्वादिष्ट पदार्थ खाती थी प्राय: रोगी रहा करती थी औषधियों की दासी बनी हुई थी । अब जब से वह पदार्थ नहीं मिलते बिल्कुल स्वस्थ रहती हूँ किसी भी औषधि की शरण नहीं लेनी पड़ती । मनको बहुत समझाती हूँ कि अब नाना प्रकार के साग, अचार, मुरब्बे, सोंठ, चटनी,रायते मिठाइयों और पकवानों के दिन गये । अब उनका स्मरण करने से कोई फायदा नहीं फिर भी जीभ मानती नहीं है । मेरा बेटा रूखी-सूखी खाकर पेट भर लेता है और आनन्दित रहता है क्योंकि उसने वह दिन देखे नहीं । वह जिह्वा का गुलाम नहीं हुआ है परन्तु मेरा दो तीन साग बनाये बिना पेट ही नहीं भरता । रानाडे ने कहा जब से मैंने उस महिला की यह बात सुनी और उसकी वह दशा देखी तभी से मैंने यह नियम बना लिया कि जीभ जिस पदार्थ को पसन्द करे उसे बहुत थोड़ा खाना । जीभ के वश में न होना । क्योंकि यह आम जीभ को बहुत अच्छा लगा इसीलिये मैं अब और नहीं खाऊँगा ।

किसी वस्तुके खानेसे पहिलेअपने आपसे प्रश्न कीजियेकि उस समय उस वस्तु का खाना आपके लिए आवश्यक है या नहीं,

अथवा उस वस्तु के खाये विना आप रह सकते हैं या नहीं। यदि उत्तर मिले कि नहीं रह सकते, तो उस वस्तु को अवश्य खाइये अन्यथा नहीं।

इस साधन को अपनाने में आपको शारीरिक, आर्थिक या सामाजिक किसी प्रकार की भी हानि नहीं होगी। इसके विपरीत इन तीनों दिशाओं में भी आपको लाभ ही लाभ होगा। "भोग और स्वाद का आनन्द तो पशु भी लेते है" और आपको भी इनके आनन्द लेते न जाने कितना ममय वीत गया। अव त्याग और अस्वाद का आनन्द भी देख लीजिये।

यदि किसी समय आपको इस कल्याण मार्ग को अपनाने की प्रेरणा मिले तो आप सवसे प्रथम भोजन मे से खोआ,मैदा,बेसन से बनीहुई चीजों का त्याग कर दीजिए। यदि आपको परिमार्थिक या धार्मिक जीवन की ओर रुचि न भी हो तव भी इस साधन को अपनाने में आपके स्वास्थ्य को वड़ा लाभ पहुँचेगा। पढ़े लिखे व्यक्तियों में आजकल जितने रोग हैं उन सव के पीछे उपरोक्त वस्तुओं की भोजन में प्रधानता होना ही मुख्य कारण है।

अस्वाद व्रत द्वारा यदि आपने प्रयास किया और निरंतर अभ्यास करते रहे तो आप अवश्य बुद्धि योगके द्वारा ज्ञान,भक्ति या कर्म किसी से भी योग करके सच्चा सुख और शांति प्राप्त करते हुए अपने वास्तविक. सत्यं, शिवं, सुन्दरम् स्वरूप को प्राप्त हो जायेंगे।

इन्द्रिय-संयम और ब्रह्मचर्य व्रत

ब्रह्मचर्य व्रत की महिमा सर्व विदित है। इसकी शक्ति अमोघ मानी गई है,और आज संसार में जितने व्यक्तियों ने महान् और उपयोगी काम कर दिखाये हैं वे किसी न किसी रूप में ब्रह्मचर्य के अनुगामी थे। जैसा अनेकवार वतलाया जा चुका है,ब्रह्मचर्य का अर्थ यह नहीं कि काम वृत्ति का सर्वथा परित्याग ही करदिया

जाय। उचित अवस्था प्राप्त होने पर शास्त्रों की मर्यादा के अनुसार उसको प्रयोग करना किसी ने बुरा नहीं वतलाया। इतना ही नहीं शास्त्रकारों ने तो उस गृहस्थ को भी ब्रह्मचारी ही वतलाया है जो केवल अपनी स्त्री तक सीमित रहकर नियमानुकूल आचरण करता है।

ब्रह्मचर्य का विश्लेषण करने पर तीन तत्व मिलते हैं:—

(१) आत्मसंयम—ब्रह्मचर्य यथार्थ में शक्तिसंयम ही है।

(२) सादगी—भोजन, वेश तथा जीवन के प्रत्येक अङ्ग में; दैनिक जीवन की हरएक बातमें सादगी रखना इसी की युवकोंको जरूरत है। जोलोग जरूरतोंके बढ़ाने हीको सभ्यता का अर्थ समझते हैं, उनसे मैं सहमत नहीं, सच्ची सभ्यता सादगी में है, न कि संग्रह में।

(३) विचार शक्ति—ब्रह्मचर्य एक आन्तरिक शक्ति है। विचार शक्ति का विकास किस प्रकार हो सकता है, सादगी का जीवन किस प्रकार आचरण में लाया जा सकता है, तथा आत्मसयम या आत्मशक्ति किसप्रकार बढ़ सकती है इन बातोंके विवेचन पर्याप्त किया जाचुका है; तोभी कुछ ऐसे साधन और अभ्यास हैं, जिन्हें ब्रह्मचर्य भाव की वृद्धि के लिए पालन करना आवश्यक है।

प्राचीन और आधुनिक में जो बड़ा भारी भेद है, वह है ब्रह्मचर्य और भोग का। वर्तमान आदर्शों के आन्तरिक महत्व को मैं नहीं भुलाता। आजकल के वैज्ञानिक विवेचन,आलोचनात्मक भाव तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता की भावनाओं का मैं अनादर नहीं करता,किन्तु आधुनिक सभ्यता की इन आन्तरिक और गूढ़-तर भावनाओं पर हमारी शालाओं में आजकल जोर नहीं दिया जाता। वहां तो आधुनिक सभ्यता के ऊपरी पहलू और गलत भावनाओं और दुर्गुणों ही पर दृष्टि रखी जाती है। नवयुवक भोग के पीछे दौड़ रहे हैं। वे भूल जाते हैं कि सभ्यता का अर्थ

जरूरतों की बढ़ती या कामनाओं का संग्रह नहीं, किन्तु उनकी सादगी है। वे नहीं समझते कि मनुष्यता का नियम आत्मभोग नहीं, किन्तु आत्म-संयम है। प्राचीन भारत ने यह अनुभव किया था कि मनुष्य भोग विलासी जानवर नहीं, किन्तु वह एक दिव्य पुरुष है, जो कि आत्म-संयम और आत्म-तपस्या के द्वारा अपनी दिव्य मनुष्यता का अनुभव प्राप्त करना चाहता है। प्राचीन आदर्श ब्रह्मचर्य था, वर्तमान आदर्श बहुतों की दृष्टि में भोगचर्य जान पड़ता है। वे आरामतलबी और विलासिता चाहते हैं, पर हिन्दू शास्त्रों के अनुसार तपस्या ही सभ्यता और सृष्टि की आधार-शिला है।

संयम और सदाचार की महिमा

अपने जीवन को शुद्ध और समृद्ध बनाने की साधना जिन्होंने की है, वे अनुभव से कहते आये हैं कि 'आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः'। इस सूत्र के दो अर्थ हो सकते हैं, क्योंकि सत्व के दो माने हैं—शरीर का संगठन और चारित्र्य। अगर आहार शुद्ध है, याने स्वच्छ है, ताजा है, परिपक्व है, सुपाच्य है, प्रमाण-युक्त है और उसके घटक परम्परानुकूल हैं तो उसके सेवन से शरीर के रक्त, मज्जा, शुक्र आदि सब घटक शुद्ध होते हैं। वात, पित्त, कफ आदि की साम्यावस्था रहती है और सप्तधातु परिपुष्ट होकर शरीर सुदृढ़, कार्यक्षम तथा सब तरहके आघात सहन करनेके योग्य बनता है और इस आरोग्य का मन पर भी अच्छा असर होता है। 'आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः' का दूसरा और व्यापक अर्थ यह है कि आहार अगर प्रामाणिक है, हिंसाशून्य है, द्रोहशून्य है, और यज्ञ, दान, तप का फर्ज अदा करने के बाद प्राप्त किया गया है तो उससे चारित्र्य शुद्धि को पूरी २ मदद मिलती है। चारित्र्य शुद्धि का आधार ही इस प्रकार की आहार शुद्धि पर है।

अगर यह बात सही है, आहार का चारित्र्य पर इतना असर

है तो विहार का याने लैंगिक शुद्धि का चारित्र्य पर कितना हो सकता है, इसका अनुमान करना कठिन नहीं होना चाहिये।

जिसे हम काम-विकार कहते हैं अथवा लैंगिक आकर्षण कहते हैं, वह केवल शारीरिक भावना नहीं है। मनुष्य के सारे के सारे पहलू उसमें उत्तेजित हो जाते हैं, और अपना-अपना काम करते हैं। इसलिए जिसमें शरीर, मन-हृदय की भावनायें और आत्मिक निष्ठा—सब का सहयोग अपरिहार्य है, ऐसी प्रवृत्ति का विचार एकांगी दृष्टि से नहीं होना चाहिए। जीवन के सार्वभौम और सर्वोत्तम मूल्य से ही उसका विचार करना चाहिए। इस आचरण में शारीरिक प्रेरणा के वश होकर बाकी के सब तत्वों का अपमान किया जाता है, वह आचरण समाज-द्रोह तो करता ही है लेकिन उससे भी अधिक अपने व्यक्तित्व का महान द्रोह करता है।

लोग जिसे वैवाहिक प्रेम कहते हैं, उसके तीन पहलू हैं। एक भोग से सम्बन्ध रखता है, दूसरा प्रजा तन्तु से और तीसरा भावना की उत्कटता से। पहला प्रधानता शारीरिक है, दूसरा मुख्यतः सामाजिक और व्यापक अर्थ में आध्यात्मिक। यह तीसरा तत्व सब से महत्व का सार्वभौम है और उसी का असर जब पहले दोनों के ऊपर पूरा २ पड़ता है, तभी वे दोनों उत्कट, तृप्तिदायक और पवित्र बनते हैं।

इन तीन तत्वों में से पहला तत्व बिल्कुल पार्थिव होने से उसकी स्वाभाविक मर्यादायें भी होती हैं, भोग से शरीर क्षीण होता है। अति सेवन से भोग-शक्ति भी क्षीण होती है और भोग भी नी-रस हो जाते हैं। भोग से संयम का प्रमाण जितना अधिक होगा उतनी ही अधिक उसकी उत्कटता होगी। भोग में संयम का तत्व आने से ही उसमें आध्यात्मिकता आसकती है। संयमपूर्ण भोग में ही निष्ठा और आध्यात्मिकता आकर टिक सकते हैं, और संयम और

निष्ठा के बिना वैवाहिक जीवन का सामाजिक पहलू कृतार्थ हो ही नहीं सकता। केवल लाभ हानि की दृष्टि से देखा जाय तो वैवाहिक जीवन का परमोत्कर्ष संयम और अन्योन्यनिष्ठा में ही है। भोग-तत्व पार्थिव हैं और इसलिए परमित है। भावना तत्व हार्दिक और आत्मिक होने से उसके विकास की कोई मर्यादा ही नहीं है।

आजकल के लोग जब कभी लैंगिक नीति की स्वच्छन्दता का प्रचार करते हैं, तब वे केवल भोग-प्रधान पार्थिव अंश को ही ध्यान मे लेते हैं। जीवन की इतनी क्षुद्र कल्पना वे ले बैठे हैं कि थोड़े ही दिनों में उन्हें अनुभव हो जाता है कि ऐसी स्वतन्त्रता में किसी किस्म की सिद्धि नहीं है और न सच्ची तृप्ति। ऐसे लोगों ने अगर उच्च आदर्श ही छोड़ दिया तो फिर उनमें तारक असन्तोष भी नहीं बच पाता। विवाह-सम्बन्ध में केवल भोग के सम्बन्ध का विचार करने वाले लोगों ने भी अपना अनुभव जाहिर किया है—

एतत्कामफल लोके यत् द्वयोः एकचित्तता।
अन्य चित्तकृते कामे शवयो इव संगमः॥

यह एकचित्तता यानी हृदय की एकता अथवा स्नेहग्रन्थि अन्योन्य निष्ठा और अपत्यनिष्ठा के बिना टिक ही नहीं सकती। बढ़ने की बात दूर रही।

संयम और निष्ठा ही सामाजिकता की सच्ची बुनियाद है। संयम से जो शक्ति पैदा होती है, वही चारित्र्य का आधार है। जो आदमी कहता है मैं संयम नहीं कर सकता, वह चारित्र्य की छोटी-मोटी एक भी परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकेगा। इसलिए संयम ही चारित्र्य का मुख्य आधार है।

चारित्र्य का दूसरा आधार है निष्ठा। व्यक्ति के जीवन की कृतार्थता तभी हो सकती है, जब वह स्वतन्त्रता-पूर्वक समष्टि

में विलीन हो जाता है।,व्यक्ति स्वातन्त्र्य को सम्हालते हुए अगर समाज-परायणता सिद्ध करना हो तो वह अन्योन्य निष्ठा के विना हो नहीं सकती और अखिल समाज के प्रति एक-सी अनन्य निष्ठा तभी सिद्ध होती है, जब आदमी ब्रह्मचर्य का पालन करता है, अथवा कमसेकम वैवाहिक जीवनमें परस्पर दृढ़निष्ठासे प्रारम्भ करता है। अन्योन्य निष्ठा जब आदर्श कोटि तक पहुँचती है तब वहीं से सच्ची समाज-सेवा शुरू होती है॥

अंत में हम यही कहना चाहते हैं कि 'मनके जीते जीत है, मनके हारे हार।' अगर आपने अपने मनको वश में कर लिया है और आप उस पर विवेक का अंकुश रखते हैं तो आपको संसार के व्यवहार करते हुए भी कोई कठिनाई प्रतीत न होगी। वैराग्य, त्याग, विरक्ति, इन महातत्वों का सीधा संवन्ध अपने मनोभावों से है। यदि भावनाऐं सङ्कीर्ण हों,कलुषित हों,स्वार्थमयी हों तो चाहे कैसीभी उत्तम सात्विक स्थितिमें मनुष्य क्यों न रहे मनका विकार वहाँ भी पाप की, दुराचार की सृष्टि करेगा। यदि भावनाऐं उदार एवं उत्तम हैं तो अनमिल और अनिष्ट कारक स्थिति मेंभी मनुष्य पुण्य एवं पवित्रता उत्पन्न करेगा। महात्मा इमर्सन कहा करते थे कि—"मुझे नरक में भेज दिया जाय तो भी मैं वहाँ अपने लिए स्वर्ग बना लूँगा।" वास्तविक वात यही है कि बुराई-भलाई हमारे ही मनसे उत्पन्न होतीहै। हमारी इन्द्रियाँ अगर बुरे मार्गपर जाती हैं तो उसकी जिम्मेदारी किसी दूसरे पर नहीं, वरन् स्वयम् मनपर ही है। अगर हमारा मन सुमार्गगामी रहकर इन्द्रियों को संयम में रखे तो समस्त सांसारिक कार्यों को करते हुये भी हम सद्गति के अधिकारी बन सकते हैं।

जीवन को सुख-शान्तिमय बनाने वाला साहित्य

(मूल्य प्रत्येक पुस्तक का छः-छः आना है)

१-सूर्यचिकित्सा विज्ञान २-प्राणचिकित्सा विज्ञान ३-स्वस्थ बनने की विद्या ४-भोग में योग ५-बुद्धि बढ़ाने के उपाय ६-आसन और प्राणायाम ७-तुलसी के अमृतोपम गुण ८-महान जागरण ९-तुम महान हो १०-घरेलू चिकित्सा ११-दीर्घ जीवनके रहस्य १२-नेत्रों की प्राकृतिक चिकित्सा १३-स्वप्न दोष की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा १४-दूधकी आश्चर्यजनक शक्ति १५-उन्नति का मूलमन्त्र ब्रह्मचर्य १६-उपवासके चमत्कार १७-स्त्री रोग चिकित्सा १९-बालरोग चिकित्सा २०-कब्ज की चिकित्सा २१-निरोग जीवन का राजमार्ग २२-चिरस्थाई यौवन २३-सौन्दर्य बढ़ाने के ठोस उपाय २४-मनुष्य शरीर की बिजली के चमत्कार २५-पुत्र-पुत्री उत्पन्न करने की विधि २५-हमारी पारिवारिक समस्याएँ २६-मन चाही सन्तान २७-दाम्पत्ति जीवन का सुख २८-हमारी आन्तरिक शत्रु २९-क्याखायें ? क्योंखायें ? कैसेखायें ? ३०-हमारे सभ्यताके कलङ्क ३१-धनवान बनने के गुप्त रहस्य ३२-मरने के बाद हमारा क्या होता है ? ३३-मित्रभाव बढ़ानेकी कला ३४-आकृति देखकर मनुष्य की पहिचान ३५-हमें स्वप्न क्यों दीखते हैं ? ३६-विचार करने की कला ३७-हम वक्ता कैसे बन सकते हैं ? ३८-सफलताके तीन साधन ३९-जिंदगी कैसे जिएँ ४०-प्रसिद्धि और समृद्धि ४१-ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ? ४२-क्या धर्म ? क्या अधर्म ? ४३-ईश्वर और स्वर्ग प्राप्ति का सच्चा मार्ग ४४ भारतीय संस्कृति का बीज मंत्र यज्ञोपवीत ४५-यज्ञोपवीत द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति ४६-मैं क्या हूँ ? ४७-वशीकरण की सच्ची सिद्धि ४८-ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग।

'अखण्ड-ज्योति' प्रेस, मथुरा।

पवित्र जीवन
अखण्ड ज्योति प्रेस मथुरा

लेखक—
श्रीराम शर्मा आचार्य
गायत्री तपोभूमि, मथुरा।

ॐ भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि
धियो योनः प्रचोदयात्।

प्रकाशक—
"अखण्ड ज्योति" प्रेस, मथुरा।

प्रथम वार] सन् १९५८ [मूल्य ।)

❀ श्री गायत्री नमः ❀

पवित्र-जीवन

—:-।।।।।।।-:—

गायत्री का बारहवाँ अक्षर 'व' मनुष्य को पवित्र जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देता है—

वसतां ना पवित्रः सन् बाह्यतोऽभ्यन्तरस्तथा ।
यतः पवित्रताया हि रिजतेऽति प्रसन्नता ॥

अर्थात्—"मनुष्य को बाहर और भीतर से पवित्र रहना चाहिये। क्योंकि पवित्रता में ही प्रसन्नता रहती है।"

पवित्रता में चित्त की प्रसन्नता शीतलता, शान्ति, निश्चिन्तता, प्रतिष्ठा और सचाई छिपी रहती है. कूड़ा-करकट, मैल विकार, पाप, गन्दगी, दुर्गन्ध, सड़न, अव्यवस्था और घिचपिच से मनुष्य की आन्तरिक निकृष्टता प्रकट होती है।

आलस्य और दरिद्र, पाप और पतन जहाँ रहते हैं वहीं मलिनता या गन्दगी का निवास रहता है। जो ऐसी प्रकृति के हैं उनके वस्त्र, घर, सामान, शरीर, मन, व्यवहार, वचन, लेन-देन सबमें गन्दगी और अव्यवस्था भरी रहती है। इसके विपरीत जहाँ चैतन्यता, जागरुकता, सुरुचि, सात्विकता होगी वहाँ सबसे पहले स्वच्छता की ओर ध्यान जायगा। सफाई, सादगी और सुव्यवस्था में ही सौन्दर्य है, इसी को पवित्रता कहते हैं।

गन्दे खाद से गुलाब के सुन्दर फूल पैदा होते हैं। जिसे मलिनता को साफ करने में हिचक न होगी वही सौन्दर्य का सच्चा उपासक कहा जायगा। मलिनता से घृणा होनी चाहिये पर उसे हटाने या दूर करने में तत्परता होनी चाहिये आलसी अथवा

गन्दगी की आदत वाले प्रायः फुरसत न मिलने का बहाना करके अपनी कुरुचि पर पर्दा डाला करते हैं।

पवित्रता एक आध्यात्मिक गुण है। आत्मा स्वभावतः पवित्र और सुन्दर है, इसलिये आत्मपरायण व्यक्ति के विचार, व्यवहार तथा वस्तुएँ भी सदा स्वच्छ एवं सुन्दर रहते हैं। गन्दगी उसे किसी भी रूप में नहीं सुहाती, गन्दे वातावरण में उसकी साँस घुटती है, इसलिये वह सफाई के लिये दूसरों का आसरा नहीं टटोलता, अपनी समस्त वस्तुओं को स्वच्छ बनाने के लिये वह सब से पहले अवकाश निकालता है।

पवित्रता के कई भेद हैं। सबसे पहले शारीरिक स्वच्छता का नम्बर आता है, जिसमें वस्त्रों और निवास स्थान की सफाई भी आवश्यक होती है। दूसरी स्वच्छता मानसिक विचारों और भावों की होती है। आर्थिक मामलों में भी, जैसे आजीविका, लेन-देन आदि में शुद्ध व्यवहार करना श्रेष्ठ गुण समझा जाता है। चौथी पवित्रता-व्यवहारिक विषयों की है, जिसका आशय बातचीत और कार्यों के औचित्य से है। अंतिम नम्बर आध्यात्मिक विषयों की पवित्रता का है, जिसके बिना हमारा धर्म-कर्म निरर्थक हो जाता है। इन सब में शारीरिक और मानसिक पवित्रता से लोगों का विशेष काम पड़ा करता है, क्योंकि इनके होने से अन्य विषयों में स्वयं ही पवित्र भावों का उदय होता है।

स्वच्छता दैवी गुण है

स्वच्छता या सफाई वास्तव में एक दैवी गुण है। अंग्रेजी में एक कहावत है जिसका तात्पर्य है कि सफाई से रहना देवत्व के समीप रहना है। जो साफ रहता है, अपने रहन सहन द्वारा देवत्व प्रकट करता है। सफाई से सौन्दर्य की वृद्धि होती है और साधारण वस्तु भी अपने आकर्षक रूप में प्रकट होती है। वस्तुओं का जीवन बढ़जाता है। मशीनों की सफाई करने, या समय समय

पर कराते रहने का तात्पर्य उसकी कार्य शक्तियों को बढ़ा लेना है।

जब किसी मशीन को ओवरहाल (आमूल नए ढंग से फिटिंग) किया जाता है, तो न केवल सफाई हो जाती है, प्रत्युत सब पुर्जों को साफ कर नए सिरे से रखने के कारण उनमें नई स्फूर्ति का संचार होता है। जो पुर्जे चूँ-चूँ चर्र-चर्र करते थे, वह थोड़े से तेल से सहज स्निग्ध होकर मजे में चलने लगते हैं। उनकी कार्य शक्ति बढ़ जाती है।

इसी प्रकार मानव शरीर रूपी मशीन का हाल है। हमारे शरीर में अनेक छोटे बड़े सूक्ष्म पुर्जे हैं। हमारा शरीर, मस्तिष्क, हृदय, फेफड़े, उदर अनेक ग्रन्थियों से मिलकर बना है। इन पुर्जों में निरन्तर भोजन को पचाकर रक्त बनाने की क्रिया के कारण मैल एकत्रित हो जाता है। जीवन में पैसे के लिए हम शरीर को अधिक घिस डालते हैं। प्रायः नेत्रों की ज्योति क्षीण पड़ जाती है, गाल पिचक जाते हैं, दांत गिर जाते है, पाचन विकार उत्पन्न हो जाते हैं। ये सब रोग शरीर की अधिक घिसावट के दुष्परिणाम हैं। यदि हम शरीर की आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार की सफाई का ध्यान रखें, तो शरीर मन प्राण में नई स्फूर्ति, नई शक्ति और प्रेरणा का संचार हो सकता है।

भारत में जिस तत्त्व की बड़ी कमी मिलती है वह सफाई है। सुव्यवस्था और सौंदर्य इसके पुत्र-पुत्री हैं। लोगों के पास मान प्रतिष्ठा, उत्साह है पर स्वच्छता और सुव्यवस्था का बड़ा अभाव है। दूकानें, गलियाँ, सार्वजनिक स्थान, भोजन तथा मिठाई के बाजारों में आप पत्तों के ढेर, जूठन, मैल, मक्खियाँ, नालियों में भरा हुआ कीचड़, मैला देखकर हमें हिन्दुस्थानियों की गंदी आदतों पर लज्जा आती है। लोग बड़ी बड़ी धर्मशालाएँ बनाते हैं, पर उनमें सफाई पर ध्यान नहीं देते। टट्टियों तथा नालियों की सफाई पर व्यय नहीं करते। सार्वजनिक टट्टियों में सभ्य व्यक्ति को जाते

हुए शर्म आती है। मेहतर अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते। अधिकारी वर्ग देख-रेख के मामले मे शिथिलता दिखलाता है। टट्टी के घिनौने स्वरूप रेल के डिब्बो और रेल के स्टेशनों पर पाई जाने वाली टट्टियों में भी देखे जाते हैं। जितना बड़ा शहर, उसकी गलियों में उतना ही अंधेरा, बदबू और गन्दगी पाई जाती है। जहाँ मवेशी बांधे जाते हैं वहाँ का तो कहना ही क्या ?

सफाई एक सार्वजनिक आदत है। हम भारतियों को अपनी सार्वजनिक गन्दगी पर लाज आनी चाहिए। जहाँ दूसरे राष्ट्रों में सफाई को ओर विशेष ध्यान दिया जाता है, सरकार पर्याप्त व्यय करती है, म्यूनिस्पैलिटी बहुत ध्यान देती है, प्रत्येक नागरिक सार्वजनिक सफाई की ओर ध्यान देता है, वहाँ हमारे यहाँ कोई भी इस ओर ध्यान नहीं देता। नागरिक, विशेषतः ग्रामीण व्यक्ति और नारी समाज इतने पिछड़े हुए हैं कि जहाँ कहीं जाते हैं सार्वजनिक स्थानो को गन्दा छोड़ जाते हैं। कूड़ा करकट सड़कों पर डाला जाता है। केले, सन्तरे, तथा अन्य फलों के छिलके सड़कों पर डाले जाते हैं और कितने ही व्यक्ति उनसे फिसल कर घायल होते हैं। सिनेमा हालों में मूंगफली के ढेर छिलके, बीड़ी सिगरेट के टुकड़े, पानकी पीक यत्र-तत्र फैले हुए मिलते हैं। स्टेशनों को हर आध घण्टे पश्चात् साफ किया जाता है पर वह गन्दा होता जाता है। ये बातें हमारी गन्दी आदत की सूचक हैं। हमें अपनी इन आदतों पर लज्जित होना चाहिए।

शारीरिक स्वच्छता के दो अङ्ग हैं—बाह्य तथा आन्तरिक सफाई। नित्यप्रति मालिश और व्यायाम के पश्चात् स्नान करने से और खुरदरे तौलिये से पोंछने से शरीर स्वच्छ होता है। प्रायः लोग बार-बार स्नान करने का क्रम करते हैं, जल में पड़े रहते हैं असख्य गोते लगाते हैं, बाल्टी पर बाल्टी पानी डालते हैं लेकिन सच्चे अर्थों में यह स्नान नहीं है। जब तक शरीर के रोमकूप

स्वच्छ नहीं होते और त्वचा का संचित मल दूर नहीं होना, तब तक शरीर की स्वच्छता नहीं हो सकती। खुरदरे तौलिये को पानी मे भिगोकर त्वचा पर रगड़ने से त्वचा साफ होती है। नाखूनों को काटना, नासिका द्वार को स्वच्छ रखना, जिह्वा की स्वच्छता से हमारे बहुसंख्यक भाई प्रायः उपेक्षित रहते हैं। इन पर बड़ा ध्यान देने की आवश्यकता है।

आन्तरिक स्वच्छता का साधन उपवास है। पन्द्रह दिन पश्चात् उपवास करने से संचित भोजन पच जाता है, मल पदार्थ निकल जाते हैं और पेट की बीमारियाँ दूर होती हैं। हमारे देश में उपवास धर्म के अन्तर्गत इसीलिए रखा गया है कि सब इससे लाभ उठा सकें। यथासाध्य ठण्डे जल से स्नान करें। मूत्र-त्याग और मल त्याग के पश्चात् इन्द्रियों को शीतल जल से धो डालें।

आपका घर वह स्थान है, जिसके वातावरण में आप पलते, वायु पाते, संसर्ग से प्रभावित होते हैं। प्रतिदिन हमारा १४-१५ घण्टे का जीवन घर ही में व्यतीत होता है। घर की चारदीवारी कमरों, फरनीचर, वस्त्रों तथा विभिन्न स्थानों पर जो समय हम व्यतीत करते हैं, उनसे हमारी आदतों और स्वास्थ्य का निर्माण होता है। घर जितना ही स्वच्छ और सुव्यवस्थित होगा, उससे उतनी ही स्वच्छ वायु तथा आनन्द प्राप्त हो सकेगा। यदि आप दूकानदार हैं, या आफिस में आठ घण्टे व्यतीत करते हैं, तो दूकान और आफिस के वातावरण का भी प्रभाव गुप्त रूपसे पड़ता रहता है। मान लीजिये, आप तम्बाकू शराब, गांजा, भांग, चरस अथवा जूते की दूकान करते हैं। इन वस्तुओं की बदबू निरन्तर आपके स्वास्थ्य पर प्रभाव डालती रहती है। अतः हमें चाहिये कि हम अपने घर, दूकान या आफिसों को खिलौनों की तरह साफ-स्वच्छ रखें।

स्वच्छ घर में रहने वाले की आत्मा प्रसन्न रहती है। आप

स्वच्छ धुले हुए वस्त्र पहन कर देखें मन कितना खिला रहता है। उसी प्रकार सफेद पुता हुआ कमरा, स्वच्छ फरनीचर, स्वच्छ वस्त्र, स्नान से स्वच्छ शरीर, आत्मा को प्रसन्न करने वाले हैं।

स्वच्छ रख कर हम अपने घर के सौंदर्य की वृद्धि करते हैं और चीजों के जीवन को बढ़ा लेते हैं। हमें आन्तरिक शान्ति प्राप्त होती है। सफाई प्रकृति का अंग बन जाने से सर्वत्र सौंदर्य की सृष्टि करती है।

आफिस, घर और दूकान में छोटी-बड़ी असंख्य वस्तुएँ होती हैं। इनमें कुछ ऐसी हैं जिनका नित्य प्रयोग होता है, तो कुछ ऐसी होती हैं जो देर से निकलती और काम में आती हैं। कुशल व्यक्ति अपने घर, दूकान या आफिस की वस्तुओं की व्यवस्था इस प्रकार करते है कि आवश्यकता पड़ते ही, तुरन्त जरूरत की चीज मिल जाती है। ग्राहक आकर जिस छोटी वस्तु की माँग करता है, चतुर दूकानदार एक क्षण में उसे प्रस्तुत कर देता है। घर में दवाई से लेकर सुई, डोरा, आलपिन तक एक क्षण मे मिल जानी चाहिये। आफिस की फाइल का कोई कागज जरा देर में अफसर के सन्मुख आना चाहिये। पुस्तकालय में जो पुस्तक माँगी जाय, तुरन्त पाठक को प्राप्त हो जानी चाहिये।

अव्यवस्थित दूकानदार, अफसर या परिवार का मुखिया उस व्यक्ति की तरह है, जो उर्द, मूँग, मसूर, गेहूँ, जौ इत्यादि भिन्न-भिन्न अनाजों को एक साथ मिश्रित कर लेता है और जरूरत के समय उनको पृथक पृथक करने मे व्यर्थ शक्ति का क्षय करता है। वह न गेहूँ निकाल सकता है, न उर्द न मूँग। और यदि निकालता भी है तो उस समय जब उसके हाथ से अवसर निकल जाता है। यदि प्रारम्भ से ही वह व्यवस्था से इन अनाजों को अलग-अलग रखता तो क्यों इतना श्रम और समय नष्ट होता।

प्रायः अफसर लोग चिल्लाया करते हैं और क्लर्क फाइलों को,

भिन्न-भिन्न पत्रों को, रेफरेन्सों को तलाश करते हुए थक जाते हैं। दूकानदार वस्तुओं को गलत स्थान पर रख कर झींकते रहते हैं। घर में दियासलाई, चाकू, साबुन, तौलिया, रूमाल, हाथ का थैला, पेन्सिल, कलम इत्यादि प्रायः अव्यवस्थित होने से बड़ा हल्ला मचता रहता है। जो डाक्टर अपने यहां विभिन्न दवाइयों को क्रम व्यवस्था से नहीं रखते, वे पछताते रहते हैं। सर्वत्र व्यवस्था की आवश्यकता है।

आप चाहे जिस स्थिति, वर्ग या स्तर के व्यक्ति क्यों न हों, क्रम और व्यवस्था की आपको सबसे अधिक आवश्यकता है। व्यवस्था से आपका कार्य सरल होगा, समय की बचत होगी और जल्दी आप काम कर सकेंगे। मनमें किसी प्रकार की उलझन उपस्थित न होगी। काम करने को तबियत करेगी।

जिस व्यक्ति में अपनी वस्तुओं को एक निश्चित क्रम और व्यवस्था से रखने की आदत होती है, वह उनको उचित स्थान पर रख कर सौंदर्य की सृष्टि करता है। पं० जवाहर लाल नेहरू जब जेल में थे, तो उनके पास कुछ गिनी-चुनी वस्तुएँ थीं—हजामत का सामान, कङ्घा, कलम, दवात, कागज इत्यादि। लेकिन वे अपनी आत्मकथा में लिखते हैं कि उन्होंने उन्हीं को क्रम और व्यवस्था से रख कर सौंदर्य की सृष्टि की और अपनी आत्मा को आनन्दित किया था। आपके पास जो भी वस्तुएँ हों, उन्हीं को किसी निश्चित क्रम-व्यवस्था से रख कर सौंदर्य और उपयोगिता में वृद्धि कर सकते हैं।

अपने घर के पृथक-पृथक कमरों को लेकर यह निश्चित कीजिए कि आप उस कमरे को किस कार्य के लिये रखना चाहते हैं—बैठक, स्टोर, प्राइवेट कमरा, औरतों के बैठने-उठने का कमरा, भोजन करने का कमरा इत्यादि। प्रत्येक कमरे उसी कार्य के लिए क्रमवार सुव्यवस्थित कीजिये।

मान लीजिए, बाहर वाले एक कमरे को आप बैठक बनाना चाहते हैं। इसमें एक मेज, एक कुर्सी, सोफासैट, या फर्श तकिया इत्यादि रखिए, पाँव पोंछने के लिये पायदान, दीवारों पर कुछ कलेण्डर और एक-दो अच्छे चित्र, खूंटा और जूता रखने का स्थान। इस कमरे में व्यर्थ की चीजें, खूँटियों पर कपड़े या फालतू वस्तुएँ नहीं रहनी चाहिये। मेन्टलपीस पर कलात्मक रूप से सजे हुए फूलदान और एक दो फोटो। अधिक सजावट भी असभ्यता की निशानी है।

आपके स्टोर में अनाज, दालें, महीने भर के कुटे हुए मसाले, घी, तेल, गुड़, चीनी, एक ओर वस्त्रों के सन्दूक तथा अन्य घर की वस्तुएँ रहनी चाहिए। यदि मकान छोटा हो तो क्रम से रखी हुई लकड़ियाँ और उपले भी रह सकते हैं। मिट्टी का तेल और लालटेन भी रखी जा सकती है। सोने के कमरे में भी वस्तुएँ कम ही रहें क्योंकि फालतू वस्तुओं से मच्छर होते हैं। रसोई में भी भिन्न २ बर्तन क्रम से सजे रहें। सीने, काढ़ने, बुनने और कातने का सब सामान एक स्थान पर सजा रहे। मशीन हो तो स्वच्छ तेल लगी हुई रहे। पुस्तकालय हो तो उसकी सब पुस्तकें विषयवार सजी रहें, जिससे जिस समय आवश्यकता हो निकाली जा सके। संक्षेप में, आपके पास जो भी स्थान हो, जो-जो वस्तुएँ हों, वे स्वच्छ से स्वच्छ और सबसे आकर्षक रूप में मौजूद रहें, जिन्हें देख कर आपको भी प्रसन्नता हो और देखने वाले भी प्रसन्न रहें।

हमारे घरों में वस्त्रों की जो दुरवस्था है, उसे देख कर क्षोभ होता है। प्रायः स्त्रियाँ मँहगे से मँहगे रेशमी वस्त्र खरीदती हैं पर उनके साथ अकथनीय अत्याचार होता है। इधर-उधर फेंका जाता है, आले या कोने में मैले पड़े रहते हैं, धोबी २०-२० दिन में धोकर वापिस नहीं लाता। यदि हम वस्त्रों की उचित व्यवस्था

रखें, मैला होने पर स्वयं उसे धो लिया करें, तो हम आधे वस्त्रों में मजे से काम चला सकते हैं, रुपया बचा सकते हैं, और स्वच्छ भी रह सकते हैं। रँहगे कपड़े बना लेना आसान है पर उनकी सेवा करना, उनसे अधिकतम लाभ उठाना कुशलता और चतुराई का काम है।

वस्त्रों के सन्दूक या अलमारी में वस्त्रों को करीने से रखना चाहिए। इससे वस्त्रों के कोने मिकुड़ने या मुड़ने नहीं पाते और इस्तरी नहीं टूटती। रेशमी साड़ियों को कागज में लपेट कर पृथक रखना चाहिये। फिनायल की गोलियाँ रखने से वस्त्र, विशेषत: साड़ियाँ कीड़ों से बची रहती हैं।

वस्तुओं की सम्हाल और व्यवस्था और भी आवश्यक है। सम्हाल रखने से मशीन का जीवन कई गुना बढ़ जाता है, जबकि तनिक सी लापरवाही से कीमती चीजें भी जल्दी ही नष्ट हो जाती हैं। यदि प्रत्येक वस्तु को उचित देख-रेख से रखा जाय तो वह कई गुना अधिक काम देती है। क्या आप जानते हैं कि आपका फाउण्टेनपेन घिस कर नहीं, खोकर नष्ट होता हैं। पेंसिले कभी पूरी तरह काम में नहीं आतीं, कोई मांग लेता है अथवा खो जाती हैं। चाकू और रूमाल भी प्राय: खोते हैं। कीमती साड़ियाँ पहनी नहीं जातीं, सन्दूकों में रखी रहती हैं और कीड़ों का भोजन बन कर नष्ट होती हैं। जिस साड़ी पर सबसे अधिक व्यय होता है, वह उतनी ही कम पहनी जाती है। आभूषणों पर औरतें प्राण देती हैं, किन्तु वे खोकर नष्ट होते हैं, इनके कारण चोरियाँ होती हैं, औरतें तक चुराली जाती हैं और अपमानित होती हैं।

यदि आप अपनी थोड़ी सी वस्तुओं को क्रम व्यवस्था से सजाके रखें, तो इन्हीं की सहायता से हम घर की शोभा में वृद्धि कर सकते हैं। सौंदर्य के लिए अधिक वस्तुओं की आवश्यकता नहीं है। जो थोड़ी सी चीजें हैं, उन्हीं की सहायता से आप

सौंदर्य की उत्पत्ति कर सकते हैं। बस आपकी दृष्टि में कलात्मकता अपेक्षित है। कलात्मक दृष्टि से हर वस्तु का एक नियत स्थान है, जहाँ वह सुन्दरतम लग सकती है। घर की शोभा इस बात में है कि आप उस स्थान को खोज निकालें। प्रत्येक वस्तु के लिए एक स्थान नियत करें। घर का प्रत्येक सदस्य उस वस्तु को उठा कर नियत स्थान पर रखे। आपके कमरे में एक चित्र हो, या कैलेन्डर लेकिन यदि वही स्वच्छ हो, मैल का नाम निशान न हो, तो वही आकर्षक प्रतीत होता है।

सौंदर्य व्यवस्था पर निर्भर है। जूते कैसे नगण्य हैं, किन्तु यदि आप उन्हीं को पालिश कर सजाकर क्रमानुसार रखें, अपने सन्दूकों को स्वच्छ कर, उन पर स्वच्छ वस्त्र बिछा लिया करें, चारपाइयों की चादरों को गन्दा न होने दें, कुर्सियों, मेजों, पुस्तकों की धूल झाड़ते रहें, तो निश्चय जानिये घर की चीजों में ही सौंदर्य प्रस्फुटित होगा और आपको अपने साधारण घर में ही आनन्द प्राप्त होगा। आत्मा प्रसन्न रहेगी और मन में यह साहस रहेगा कि आप अच्छे तरीके से रहते हैं।

जीवन में अधिक वस्तुओं की आवश्यकता नहीं है, बल्कि जो थोड़ी सी वस्तुएं हों उन्हीं से सबसे अधिक, सबसे सुन्दर क्रम-व्यवस्था से काम लेने में आनन्द है। जिनके पास अधिक वस्तुएँ पड़ी रहती हैं, उनमें से आधी ही काम में आती हैं, शेष अनावश्यक, जंग लगी हुई, निष्क्रिय, अव्यवस्थित, बेकार पड़ी रहती हैं। आप अधिक वस्तुओं के संचय के मोह में न पड़ें, वरन् अपनी अपनी थोड़ी सी वस्तुओं को सम्हाल कर प्रयोग में लायें।

सार्वजनिक स्थानों की सफाई, सुव्यवस्था एवं सौंदर्य का उत्तरदायित्व आप पर है। आप एक श्रेष्ठ नागरिक हैं। समाज की उन्नति में आपका महत्वपूर्ण स्थान है। आपकी आदतों से समाज बनता बिगड़ता, समुन्नत-अवनत होता है। अतः आप

सार्वजनिक स्थानों को कार्य में लेते समय उनकी सफाई और सुव्यवस्था के सम्बन्ध में बड़े सावधान रहें।

यदि आप धर्मशाला में टिकें, तो उसके कमरे या इर्द-गिर्द की सफाई का ध्यान रखें, कमरे को वैसा ही सुन्दर छोड़कर जाय, जैसा वह आपको मिला था। पब्लिक पाखाना का ठीक इस्तेमाल करें। पेशाबघरों में सर्वत्र ध्यान रखें। पब्लिक पार्क, मन्दिर, सार्वजनिक बिल्डिंगों को बिगड़ने न दें। रेल के डिब्बे हम सबके काम आते है, किंतु हम सफर के पश्चात् उन्हें छिलकों, पत्तों,पानी, धूल-मिट्टी से सना हुआ, जूठन से परिपूर्ण छोड़कर उठते हैं। यह हमारी गन्दी आदतो की परिचायक गन्दी वृत्ति की द्योतक है। हर सार्वजनिक स्थान सबके बैठने-उठने के कार्य में लेने के लिए बना हुआ है। यदि हममें से प्रत्येक उसे अच्छी तरह प्रयोग में लाये, तो वह अधिक दिन चल सकता है और सबको आकर्षक लग सकता है। सार्वजनिक स्थान हमारे है। जैसे हम अपनी वस्तु की सफाई और सुरक्षा का ध्यान रखते हैं, इसी प्रकार हमें सार्वजनिक वस्तुओं तथा स्थानों का ध्यान रखना चाहिये।

जो समर्थ है, अपनी शक्ति या रुपये का दान दे सकते हैं, उन्हें सार्वजनिक स्थानों, पार्कों, पुल, धर्मशालाओं, पब्लिक स्कूलों, टहलने के स्थानों, मन्दिरों, स्नान के घाटों, रेल के डिब्बों, टट्टियों, प्लेटफार्मों की स्वच्छता और व्यवस्था का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। अपने रुपये से मरम्मत या नई वस्तुएँ बनवाने में पीछे नहीं रहना चाहिये। रुपया दान देने के स्थान पर मरम्मत या पुताई करा देना अधिक श्रेयस्कर है।

शरीर के भीतरी अंगों की सफाई

जिस प्रकार हम स्नान करके साबुन लगाकर, तौलिये से घिस कर शरीर के बाहरी भाग की सफाई कर डालते हैं, उसी प्रकार भीतरी अङ्गों की सफाई रहना भी परमावश्यक है। सच पूछा जाय

तो गन्दगी हमारे शरीर के भीतर ही इकट्ठी रहती है और उसी का एक अंश पसीने तथा मैल के रूप में बाहर निकलता है। पर भीतर की सफाई कैसे हो यह सब लोग नहीं जानते। यों तो कहने के लिये हमारे प्राचीन ऋषि मुनियों ने उद्देश्य की पूर्ति के लिये नेती, धोती, वस्ति आदि हठयोग के षट् कर्मों का आविष्कार किया था, जिससे प्रत्येक भीतरी अंश को धोकर उसी प्रकार स्वच्छ कर लिया जाता है जैसे हम शरीर के ऊपरी भाग को धोते हैं। पर ये विधियाँ योगियों द्वारा ही की जाती हैं, साधारण मनुष्यों के लिये सुविधा-जनक नहीं मानी जातीं। यह भी संभव है कि अधिकांश व्यक्ति उनको ठीक ढंग से न कर सकें और लाभ के स्थान में कुछ हानि उठालें।

इसलिये साधारण मनुष्यों के लिये भीतरी अङ्गों की सफाई का दूसरा तरीका निकाला गया है और वह है—उपवास। वास्तव में हमारे शारीरिक यंत्र का निर्माण परमात्मा ने ऐसे ढंग से किया है कि अगर उसे स्वाभाविक ढंग से रखा जाय, और वह प्रकृतिके अनुकूल आचरण करने दिया जाय तो वह स्वयं अपने भीतरी अंगों की सफाई कर सकता है। पर चूँकि वर्तमान समय में मनुष्य ने प्रकृति के आदेश को मानना छोड़कर कृत्रिम ढंगों से रहना आरम्भ कर दिया है, उसका आहार-विहार अधिकांश में अस्वाभाविक हो गया है, इसलिये शरीर में दूषित विकारों का अंश बढ़ जाता है। हमारी प्राण-शक्ति इस विकार को हानिकारक समझ कर बाहर निकालना चाहती है, पर हम नित्य-प्रति दो-दो चार-चार बार भोजन करके उस पर बोझा पर बोझा लादते चले जाते हैं। इससे विवश होकर वह निष्क्रिय हो जाती है। उपवास करने से जब पेट खाली हो जाता है और भोजन पचाने के लिये शक्ति की आवश्यकता नहीं होती, तब वही शक्ति शारीरिक विकारों को बाहर निकाल कर भीतरी अंगों की सफाई का कार्य करने लगती

है। इसीलिये शरीर-शास्त्र--वेताओं ने कहा है कि यदि आप स्वास्थ्य, यौवन, जीवन का आनन्द, स्वतन्त्रता या शक्ति चाहते हैं तो उपवास कीजिये। आपको सौंदर्य, विश्वास, हिम्मत, गौरव सरीखी निधियाँ प्राप्त करने के लिए भी उपवास करना चाहिए। उपवास स मनुष्य की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति होती है, उसकी नैसर्गिक बुद्धि जगती है और वह प्रेम की विशालता का अनुभव कर पाता है।

आन्तरिक विकारों के दुष्परिणाम

प्रायः जिस बात से शरीर में विकार तथा विविध व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं, उनका प्रधान कारण शरीर का संचित मल है। हम अनाप-शनाप खाते हैं, अप्राकृतिक भोजन प्रयोग मे लाते हैं, घर और कल कारखानों या आफिसों में वन्द पड़े रहते हैं। अतः शरीर और अन्तड़ियों में दूषित द्रव्य या मल जमा हो जाता है। यह मल-संचय कुछ दिनों तक तो पड़ा रहता है किन्तु बाद में रक्त को दूषित बना देता है, पाचन प्रणाली दोषयुक्त हो जाती है, मल विसर्जन का कार्य करने वाले अवयव शिथिल हो जाते हैं. तब शरीर अन्तर्बाह्य रोगी व दुर्बल बन जाता है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि उदर को कुछ काल के लिए विश्रांति दी जाय।

भोजन बन्द कर देने से रक्त अस्वच्छ और विषाक्त नहीं होने पाता और अनेक रोग उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती। हमारे शरीर के ज्ञानतन्तुओं पर बहुत जोर नहीं पड़ता। अतः शरीर का बल बढ़ता है और ओज क्षीण नहीं होने पाता। बिना पचा हुआ जो भी अंश पेट में फालतू पड़ा रहता है, वह धीरे-धीरे पच जाता है, पेट की तोंद नहीं निकल पाती। डा० लिंडल्हार लिखते हैं—"उपवास में शरीर को, अन्दर एकत्र भोजन का उपयोग शुरू करना होता है, किन्तु इसके पूर्व शरीर की बहुत

सी गन्दगी और विप निकल जाते हैं। जब हम यह जान लेते हैं कि हमारी सारीकी सारी पाचन प्रणाली,जो २६ फीट लम्बी होती है, और जिसका आरम्भ मुख और अन्त गुदा द्वार है, ऐसी सेलों और ग्रन्थियो से सुसज्जित है, जिनका काम गन्दगी निकालना है, तव लम्वे उपवास का शोधक प्रभाव अच्छी तरह समझ में आ जाता है।"

वास्तव में उपवास हमारे वर्षों के संचित मल को बाहर फेंक कर नई जीवन शक्ति फूंक देता है, शरीर की गन्दगी और विष उपवास काल में पिये गये जल द्वारा आसानी से निकलते रहते हैं। अनेक रोगियों को उपवास इसी कारण कराया जाता है, जिससे आँतों की श्लेष्मिक कला को सचित मल की सफाई का अवसर प्राप्त हो सके। जो पूरी सफाई चाहते हैं, वे किसी प्राकृतिक चिकित्सक की देख-रेख में लम्बा उपवास करते हैं। यह संचित मल धीरे-धीरे निकलता है। पर सफाई होने के पश्चात् कब्ज पूरी तरह चला जाता है।

उपवास से मानसिक पवित्रता

स्वास्थ्य, आरोग्यता, दीर्घायु के अतिरिक्त आध्यात्मिक दृष्टि से उपवास का विशेप महत्त्व है। शरीर की शुद्धि होने से मन पर भी प्रभाव पड़ता है। शरीर तथा मन दोनों में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। जब हमारा पेट भरा होता है. तो दृष्टि भी मैली हो जाती है, मन में कुविचार आते हैं, दुर्वल वासनाएँ उद्दीप्त हो उठती हैं, मानसिक विकारों में अभिवृद्धि होती है। राजसी भोजन से शृङ्गार रस की उत्पत्ति होती है और काम, क्रोध, रोगादि रिपु प्रवल हो उठते हैं। -सम्पूर्ण-पाप की जड़ अधिक भोजन, विशेप कर राजसी कामोत्तेजक भोजन करना है। पेट का विवेक, शान्ति, धर्मवुद्धि नष्ट हो जाती है और वह हठात् पाप कर्मों में प्रवृत्त होता है। इस तत्व को ध्यान मे रख हमारे पूर्व

पुरुप अतीत काल से उपवास को मानसिक एवं आत्मिक स्वास्थ्य के लिए भी अपनाते रहे हैं। इस प्रकार के उपवासों में ईसा, मुहम्मद, महावीर के लम्वे उपवास सर्व-विदित हैं। महात्मा गाँधी के उपवास इसी कोटि में आते हैं। महात्माजी ने जितने भी उपवास किये हैं, सभी लगभग नैतिक ध्येय से किए हैं।

जव हमें भोजन खान-पान से छुट्टी मिलती है और ये झंझट दूर होजाते हैं, तब चित्त-वृत्ति अच्छी तरह उच्च विषयों पर एकाग्र हो पाती है। हमारी आंतरिक वृत्ति पवित्र एवं निर्दोष होती है। ब्रह्म मे वृत्ति लीन करने के लिए उपवास सर्वोत्तम उपाय है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिन व्यक्तियों ने ब्रह्मानंद का वर्णन किया है, वे अवश्य ही उपवास परायण रहे होंगे। उपवास के समय चिंतन तथा एकाग्रता बड़ी उत्तमता से कार्य करते हैं। उपवास काल का ज्ञान अधिक स्थायी और स्पष्ट होता है। ज्ञान प्रायः भोजन के बोझ से दब जाता है किंतु भोजन से मुक्ति मिलने पर स्पष्ट, निर्विकार और स्थायी बनता है। गीता में कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रस वर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

उपवास में बहुत सी नीच प्रवृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं, अन्तर्दृष्टि पवित्र बनती है, वृत्तियाँ वश में रहती हैं, धर्मबुद्धि प्रबल बनती है, काम, क्रोध, लोभ, आदि षट्रिपु क्षीण पड़ जाते हैं, प्राणशक्ति का प्रबल प्रवाह हमारे हृदय में बहने लगता है और शांत रस उत्पन्न होता है। उपवास से इन्द्रियों का नर्तन, वृत्तियों का व्यर्थ इधर-उधर बहक जाना और एकाग्रता का अभाव दूर होजाता है। ईश्वर पूजन, साधना तथा योग के चमत्कारों के लिए उपवास अमोघ औषधि है।

महात्मा गांधी जी ने उपवास के आध्यात्मिक पहलू पर बड़ा जोर दिया है। वे कहते हैं, "मैं तो सदा ही इसका पक्षपाती रहा

हूँ, क्योंकि ब्रह्मचर्य के लिए उपवास सदा सहायक है। ईश्वर और उपवास का गठजोड़ा सा जान पड़ता है। खाऊपन (ठूँस-ठूँस कर भोजन करना) और ईश्वर का परस्पर वैर है।"

सत्याग्रही के लिए उपवास अन्तिम उपाय है, उसका न चूकने वाला शस्त्र है। गांधी जी इसे आग्नेय अस्त्र कहते हैं और उनका दावा है कि उन्होंने उसे वैज्ञानिक रूप दिया है। उपवास से मनुष्य की दैवी सम्पदाएं विकसित हो उठती हैं, उसके मन में दैवी शक्ति आ जाती है, अतः इस आध्यात्मिक साधन के प्रयोग के बड़े चमत्कार प्रतीत होते हैं।

उपवास का प्रयोग आत्म-विकास के लिए भी होता है। यदि हम से जान बूझ कर कोई गलती हो जाय और बाद में मन में ग्लानि का अनुभव हो तो हमें अपने आप को सजा देनी चाहिए। अपने प्रत्येक दोष पर कमजोरी को दूर करने के लिए उपवास का प्रयोग हो सकता है। अपने दोषों को देखकर उनका निवारण करना आत्मोद्धार का अचूक उपाय है। महापुरुषों का वचन है—"जैसे पुरुष पर-दोषों का निरूपण करने में अति कुशल हैं, यदि वैसे ही अपने दोषों को देखने में हों, तो ऐसा कौन है जो संसार के कठोर बन्धन से मुक्त न हो जाय।" प्रत्येक दोष पर उपवास कीजिये।

"जब कभी आपके सन्मुख कोई उलझन उपस्थित होती है, तो आप उपवास क्यों कर बैठते हैं"—यह प्रश्न महात्मा गांधीजी से पूछा गया, तो उन्होंने उपवास के आध्यात्मिक पहलू पर प्रकाश डालते हुए कहा था—

"इस प्रकार के प्रश्न मुझसे पहले भी किये गये हैं किंतु कदाचित् इन्हीं शब्दों में नहीं। इसका उत्तर सीधा और स्पष्ट है। अहिंसा के पुजारी के पास यही अन्तिम हथियार है। जब मानवी बुद्धि अपना कार्य न कर निरुपाय हो जाती है, तो

अहिंसा का पथिक उपवास करता है। उपवास द्वारा शोधित शरीर से प्रार्थना की ओर चित्त-वृत्ति अधिक सूक्ष्मता और सत्यता के सन्मुख होती है अर्थात् उपवास एक आध्यात्मिक वस्तु है और उसकी मूल प्रवृत्ति ईश्वर की ओर होती है। मनुष्य को यदि यह यकीन हो जावे कि वह उचित और न्यायोचित है तो उसे उस कार्य को पूर्ण करने से कदापि नहीं रुकना चाहिए। इस प्रकार का आध्यात्मिक उपवास अन्तरात्मा की अन्तर्ध्वनि के उत्तर में किया जाता है, अतः उसमें जल्दबाजी का भय कम होता है।

धार्मिक उपवास और आत्मा की पवित्रता

उपवास द्वारा मनुष्य की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति होती है, उसकी बुद्धि और विवेक जागृत होता है—यह देखकर ही हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने उपवास को धर्म के अन्तर्गत विशेष स्थान प्रदान किया है। इससे मनुष्य के मानसिक और वासनाजन्य विकार शान्त हो जाते हैं और विवेक तीव्र हो उठता है।

हिन्दू धर्म में प्रत्येक १५ दिन पश्चात् व्रत का विधान रक्खा गया है। एकादशी के अतिरिक्त प्रदोप और रविवार, भिन्न-भिन्न पुण्य तिथियों तथा पर्वों पर व्रत किया जाता है। हिन्दू-धर्म में आन्तरिक शुद्धि के लिये व्रत प्रधान तत्व माना गया है। इसी कारण उसमें व्रतों की संख्या संसार के अन्य सब धर्मों से अधिक है। हमारे यहाँ निर्जल तथा चांद्रायण आदि अनेक प्रकार के दूसरे उपवास भी हैं, किसी की मृत्यु पर लङ्घन करना, शोक मनाने का चिह्न है। क्या प्रसन्नता, क्या क्लेश सभी में उपवास को प्रधानता दी गई है। जैन धर्म में लम्बे उपवासों पर आस्था है। जैन धर्म के ग्रन्थों में केवल नाना प्रकार के उपवासों का ही विधान नहीं, प्रत्युत बहुकालव्यापी उपवासों का विधान है। जैनियों के उपवास सप्ताहों और महीनों तक चलते हैं। मिश्र में

प्राचीन काल में कई धार्मिक पर्वों पर उपवास किया जाता था, किन्तु वह जन-साधारण के लिए अनिवार्य नहीं था। यहूदी अपने सातवें महीने के दसवे दिन उपवास रखते हैं। उनके धर्म में जो इस उपवास का उल्लङ्घन करता है वह दण्डनीय है। इसके अन्तर्गत प्रातः से सायंकाल तक निराहार रहना पड़ता है। ईसाई धर्म में तथा ईसा की पाँचवी शताब्दी से पूर्व महात्मा सुकरात ने उन दिनों यूनान में प्रचलित कितने ही उपवासों का जिक्र किया है। रोमन जाति के व्यक्ति ईस्टर से पूर्व तीन सप्ताहों में शनिवार और रविवार के अतिरिक्त अन्य दिनों में उपवास किया करते थे। महात्मा ईसा ने स्वयं एक बार चालीस दिन और चालीस रात्रियों का उपवास किया था। योरोप में जब पापों का प्रभाव बढ़ा तो उपवासों को विशेष महत्व प्रदान किया गया। मुसलमान रमजान के महीने में अपने धर्म ग्रन्थों के अनुसार तीस दिन तक रोजे रखते हैं। प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में कुछ खाकर सूर्यास्त के पश्चात् रोजा टूटता है। तात्पर्य यह है कि सभी प्रधान धर्मों में उपवास को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। सभी ने एक स्वर से उसकी उपयोगिता स्वीकार की है। उपवास से शरीर, मन तथा आत्मा पर लाभदायक प्रभाव को देखकर ही उसे धर्म के अन्तर्गत स्थान दिया गया है।

भारत के प्राचीन ऋषियों की तपस्या का उपवास एक प्रधान अङ्ग था। बड़े-बड़े धर्माचार्य स्वयं बहुत दिनों तक उपवास करके अपने अनुयायियों और भक्तों को उसका लाभ बतलाते थे और उनका स्वयं आदर्श बनते थे, पर आजकल जो लोग धार्मिक दृष्टि से उपवास करते हैं, प्रायः सभी देशों में उन्हें धर्मान्ध बतलाया जाता है और उनकी हँसी उड़ाई जाती है। इसका कारण यही है कि आजकल लोग प्राकृतिक नियमों से एक दम अनभिज्ञ हो गये हैं। जो लोग अन्न को ही प्राण समझते हैं, उन्हीं का आँखें खोलने-

के लिए उपवास के सिद्धांतों का फिर से प्रचार होने लगा है ।

तात्पर्य यह है कि उपवास के दो प्रधान उद्देश्य हैं—(१) शारीरिक स्वच्छता, आन्तरिक विकारों, विजातीय द्रव्यों, संचित विषों का निराकरण तथा (२) आध्यात्मिक उपयोग, नैतिक बुद्धि की जागृति, आत्मिक और मानसिक शुद्धि। उपवास न केवल शरीर शोधक है, प्रत्युत साथ-साथ आत्म-परिपोषक भी है।

पवित्रता और मनोविकारों का सम्बन्ध

वैसे पवित्रता और स्वच्छता प्रधानतः एक शारीरिक कार्य माना जाता है, पर हमारे मनोविकारों से भी उसका बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। देखने में तो सभी सांसारिक कार्य हमारी बाह्य इन्द्रियों, हाथ पैरों द्वारा किये जाते हैं, पर जैसा हम सभी जानते हैं इन्द्रियों का संचालन मन द्वारा ही होता है। हमारा मन ही भली-बुरी इच्छाएँ और अभिलाषाएँ किया करता है और उसका प्रभाव हमारे शरीर पर पूर्ण रूप से पड़ता है।

कितने ही लोग यह ख्याल करते हैं कि काम, क्रोध, लोभ आदि मनोविकार केवल आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं, भौतिक बातों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। पर यह विचार ठीक नहीं। परमात्मा ने मनुष्य की जिस प्रकार रचना की है उसमें भौतिक और आध्यात्मिक दोनों पहलुओं में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भौतिक विभाग में खराबी आने से उसका प्रभाव आध्यात्मिक जीवन पर अवश्य पड़ेगा और आध्यात्मिक दोषों के उत्पन्न होने से भौतिक जीवन में भी अव्यवस्था और बुराइयों का उत्पन्न हो जाना अनिवार्य है। हमारे काम, क्रोधादि एक प्रकार के वास्तविक विष हैं, जो मन में प्रवेश करके वहां अपना अड्डा जमा लेते हैं और हमारे भीतरी शारीरिक अंगों को गन्दा बना डालते हैं। ये विष अपने काले धुऐं से शरीर की धातुओं को

विषैला वना कर उन्हें रोगों का केन्द्र वना देते हैं। यदि इन विकारों को हटाकर जीवन को प्रसन्नता, प्रेम, सौन्दर्य और पवित्रता के भावों से भर लिया जाय तो मनुष्य वहुत ही अल्प समय में पूर्ण स्वस्थ वन सकता है। और यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं कि स्वास्थ्य ही सौन्दर्य है, एक ही वस्तु के यह दो पहलू हैं।

काम वासना के विकार

नर और मादा में लोह-चुम्बक का स्वाभाविक आकर्षण होने के कारण दोनों जोड़े से रहना पसन्द करते हैं। जो पशु पक्षी जितने हो विकसित होते जाते हैं वे यौन-आकर्षण को अनुभव करते हैं और साथ साथ रहते हैं। चकवा, सारस, कवूतर, तीतर वतक, राजहंस आदि पक्षी और सिंह, हिरण, भेड़िया आदि पशु एवं सांप मगर जैसे जीव जन्तु जोड़े से रहते हैं। जो नियमित जोड़ा चुनना नहीं जानता, वे भी समय-समय पर यौन आकर्षण के अनुसार आकर्षित होते रहते हैं और विपरीत योनि के साथ रहना पसन्द करते हैं। प्रजा की उत्पत्ति के कार्य को प्राणी भूल न जाय इसलिए प्रकृति ने उसमें एक विशेष आनन्द का भी समावेश कर दिया है। इस प्रकार विकसित जीव जन्तु जोड़े से रहना चाहते हैं तदनुसार मनुष्य भी चाहता है। इस आकर्षण को प्रेम के नाम से पुकारा जाता है। यही रस्सी नर और मादा को साथ साथ रहने के लिए आपस में वांधे रहती है। तरुण पुरुष विवाह की इच्छा करे तो यह उसका शारीरिक धर्म है, इसमें हानि कुछ नहीं, लाभ ही है।

जोड़े से रहना वुरा नहीं है परन्तु प्रेम की स्वाभाविक शक्ति और गर्भाधान क्रिया के तात्कालिक आनन्द, इन दोनों सात्विक वस्तुओं को जव हम काम वासना के वुरे रूप में परिणित कर देते है तो वह शरीर के लिए वहुत ही खतरनाक वस्तु वन जाती है।

जैसे भूख स्वाभाविक है और मधुर भोजन करना भी स्वाभाविक है किन्तु इन प्राकृतिक कियाओं को विकृत करके जो मनुष्य चटोरा बन जाता है, दिन भर तरह तरह के भोजन का ही चिन्तन करता है। थोड़ी थोड़ी देर पर चाट पकौड़ी, मिठाई, खटाई, चाटता रहता है, उसकी यह विकृत आदत ही उसके सर्वनाश का कारण बन जाती है। पेट खराब होने से वह बीमार पड़ता है और शक्ति हीन होकर बहुत जल्द मर जाता है। इसी प्रकार यौन आकर्षण की स्वाभाविक क्रिया को जब कामाग्नि के रूप में परिणित कर दिया जाता है तो यह शरीर को जलाकर भस्म कर देती है। दिन भर पंखा चलाने वाली, रात भर रोशनी करने वाली, आपको सब प्रकार का सुख देने वाली, बिजली भी जब अनुचित रीति से छू ली जाती है तो वह एक झटके में ही प्राण ले लेती है।

काम शक्ति, जीवन शक्ति का एक चिन्ह है, किन्तु उसका निर्धारित अवसर पर ही प्रयोग करना चाहिए। प्राकृतिक नियम यह है कि जब मादा को गर्भ धारण करने की तीव्र इच्छा हो तो नर के पास गमन करे। यही काम तृप्ति की मर्यादा है। किन्तु आज कल तो जिह्वा के चटोरपन और इन्द्रियों की लिप्सा को तृप्त करना मनुष्यों का जीवनोद्देश्य बन गया है। अमर्यादित कामोत्तेजना एक प्रकार की प्रत्यक्ष अग्नि है। कामुकता के भाव उदय होते ही शरीर की गर्मी बढ़ जाती है। स्वांस गरम आने लगती है। त्वचा का तापमान बढ़ जाता है। रक्त का वेग तीव्र हो जाता है हैं। इस गर्मी के दाह से कुछ धातुऐं पिघलने और कुछ जलने लगती हैं। शरीर के कुछ सत्व पिघल कर मूत्र के साथ स्रवित होने लगते हैं। देखा जाता है कि कामुक व्यक्तियों के पेशाब का रङ्ग पीला होता है, क्योंकि उनमें पित्त, क्षार, शर्करा आदि शरीरोपयोगी वस्तुऐं मिल जाती हैं, कभी कभी उनका पेशाब अधिक चिकना, गाढ़ा, सफेदी लिए और लसदार होता है,

इसमें चर्वी, अलव्यूमिन, हड्डियों का सार भाग, आदि मिल जाता है। जब अधिक गरम पेशाब आता है तो उसमें कई फास्फोरस और लोह-सत्व जैसी अमूल्य वस्तुएँ मिली रहती हैं। इस तरह कामाग्नि से शरीर के रस पिघल-पिघल कर नीचे बहते रहते हैं और देह खोखला होती जाती है। त्वचा स्नायु तन्तु पेशियां और अस्थि पिंजर उस अग्नि से जलने लगते हैं, और वे मामूली रोगों से बचने की भी शक्ति को खो बैठते हैं।

उष्णता के कारण पकी हुई चमड़ी खुरदरी, काली, और सूखी, निस्तेज हो जाती है। निकट से देखने पर उसका शरीर बिलकुल रूखा और मुर्दापन लिए हुए देखा जा सकता है। लकवा, गठिया, कम्प आदि बात सम्बन्धी रोग अक्सर अति मैथुन से होते हैं, यह अग्नि मस्तिष्क के लिए तो सबसे अधिक घातक है। स्मरण शक्ति और निश्चयात्मक शक्ति का लोप होने लगता है। ऐसे खण्डहर मस्तिष्क में हीन विचारों के चमगीदड़ आकर इकट्ठे होने लगते हैं। यह हीन विचार उसे उद्विग्न कर देते हैं और कभी-कभी तो घर से भाग कर भिखारी बन जाना, पागलपन, मद्य सेवन एवं आत्म हत्या जैसी प्रवृत्तियों तक ले पहुँचते हैं। कामुकता का निश्चित परिणाम आसक्ति है। निर्बलता या कमजोरी साथमें अपना एक बड़ा कुटुम्ब लेकर आती है। उसके यह बाल बच्चे शरीर के जिस कोने में जगह पाते हैं, उसी में डेरा लेते हैं। सिर में दर्द, रीढ़ में दर्द, पैरों में भड़कन, आंखों के तले अँधेरा, भूख न लगना, उदासीनता, निराश, मुँह कड़ुआ रहना, दस्त साफ न होना, कफ गिरना, दाँतों का दर्द खुश्की, जलन, निन्द्रा की कमी, यह सब रोग कमजोरी के बाल बच्चे हैं। यह अपनी माता के साथ रहते हैं। कोई दवा दारू इन्हें हटा नहीं सकती। दूषित काम वासना केवल शारीरिक निर्बलता

ही उत्पन्न नहीं करती वरन् ऐसे गन्दे रोगों को भी पैदा करती है जो शारीरिक पवित्रता को पूर्ण रूप से नष्ट कर देते हैं।

क्रोध के भयङ्कर परिणाम

डाक्टर अरोली और केनन ने अनेक परीक्षणों के बाद यह घोषित कर दिया है कि क्रोध के कारण अनिवार्यतः उत्पन्न होने वाली रक्तकी विषैली शर्करा हाजमा बिगाड़ने के लिए सबसे अधिक भयानक है। आक्सफोर्ड युनीवर्सिटी के स्वास्थ्य निरीक्षक डा०-हेमन गर्ग ने अपनी रिपोर्ट में उल्लेख किया है—'इस वर्ष परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने वाले छात्रों में अधिकांश चिड़चिड़े मिजाज के थे।, पागलखानों की रिपोर्ट बनाती है कि 'क्रोध से उत्पन्न होने वाले मस्तिष्क रोगों ने अनेकों को पागल बना दिया। डाक्टर जे० एस्टर का कथन है कि 'पन्द्रह मिनट क्रोध करने में शरीर की इतनी शक्ति खर्च हो जाती है, जितनी से साड़े नौ घन्टे परिश्रम कर सकता है। बाईबिल कहती है कि 'क्रोध को लेकर सोना अपनी बगल में जहरीले सांप को लेकर सोना है।' सचमुच क्रोध की भयङ्करता सब दृष्टियों से बहुत अधिक है।

इस महाव्याधि का शरीर और मन पर जो दूषित असर होता है, वह जीवन को पूरी तरह असफल बना देता है, अशान्ति, आशंका आवेश उसे घेरे रहते हैं। पास पड़ोसियों की दृष्टि में वह घृणा का पात्र बन जाता है। गृह कलह छिड़ा रहता है। प्रसिद्ध दार्शनिक सोना कहते हैं—"क्रोध शराब की तरह मनुष्य को विचारशून्य दुर्बल एवं लकवे की तरह शक्तिहीन कर देता है। दुर्भाग्य की तरह यह जिसके पीछे पड़ता है, उसका सर्वनाश करके ही छोड़ता है। डाक्टर पूरनचन्द खत्री का कथन है कि—"क्रोध का मानसिक रोग किसी शारीरिक रोग से कम नहीं हैं। दमा, यकृति-वृद्धि, गठिया, आम रोग जिस प्रकार आदमी को घुला-

घुला कर मार डालते हैं, उसी प्रकार क्रोध का कार्य होता है। कुछ ही दिनों में क्रोधी के शरीर में कई प्रकार के विष उत्पन्न हो जाते हैं, जिनकी तीक्ष्णता से भीतरी अवयव गलने लगते हैं।"

न्यूयार्क के वैज्ञानिकों ने परीक्षा करने के लिए गुस्से में भरे हुए मनुष्य का कुछ बूंद खून लेकर पिचकारी द्वारा खरगोश के शरीर में पहुँचाया। नतीजा यह हुआ कि बाईस मिनट बाद खरगोश आदमियों को काटने दौड़ने लगा। पैंतीसवें मिनट पर उसने अपने को काटना शुरू कर दिया और एक घण्टे के अन्दर पैर पटक पटक कर मर गया। क्रोध के कारण उत्पन्न होने वाली विषैली शक्कर खून को बहुत अशुद्ध कर देती है। अशुद्धता के कारण चहरा और सारा शरीर पीला पड़ जाता है। पाचन शक्ति बिगड़ जाती है। नसें खिचती हैं, एवं गर्मी, खुश्की का प्रकोप रहने लगता है। शिर का भारीपन, आँखों तले अन्धेरा, कमर में दर्द, पेशाब का पीलापन, क्रोध जन्य उपद्रव है। अन्य अनेक प्रकार की व्याधियां उसके पीछे पड़ जाती हैं। एक अच्छी होती है, तो दूसरी उठ खड़ी होती है और दिन-दिन क्षीण होकर मनुष्य अल्पकाल में ही काल के गाल में चला जाता है।

क्रोध एक भयङ्कर विषधर है। जिसने अपनी आस्तीन में इस सांप को पाल रखा है, उसका ईश्वर ही रक्षक है। एक प्रचीन नीतिकार का कथन है कि "जिसने क्रोध की अग्नि अपने हृदय में प्रज्वलित कर रखी है, उसे चिता से क्या प्रयोजन ? "अर्थात् वह तो बिना चिता के ही जल जायगा ऐसी महाव्याधि से दूर रहना ही कल्याणकारी है जिन्हे क्रोध की बीमारी नहीं है, उन्हे पहले से ही सावधान होकर इससे दूर रहना चाहिए और जो इसके चुंगल में फंस चुके हैं, उन्हें पीछा छुड़ाने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

क्रोध का कारण प्रायः हमारा झूँठा अहङ्कार या अज्ञान होता है। 'प्रत्येक व्यक्ति को हमारी आज्ञा या बात माननी चाहिए' इस दूषित भावना के कारण प्रायः क्रोध भड़का करता है। इसके लिए हमको सदैव अपनी वास्तविक स्थिति पर विचार करके चित्त को शान्त करने का अभ्यास करना चाहिए। प्रतिज्ञा कर लीजिए कि 'अपने दुश्मन क्रोध को पास न फटकने दूँगा। जब आवेगा तभी उसका प्रतिकार करूँगा।' हो सके तो इन शब्दों को लिख कर किसी ऐसे स्थान पर टाँग लीजिए, जहाँ दिन भर निगाह पड़ती रहे। जब क्रोध आवे, तभी अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण करना चाहिए और दण्ड स्वरूप शरीर में एक-दो कड़ी चिकोटी काट लेनी चाहिए। एवं कुछ देर के लिए चुप्पी साध लेनी चाहिए। क्रोध के समय ठण्डे पानी का एक गिलास पीना आयुर्वेदीय चिकित्सा है। इससे मस्तिष्क और शरीर की बढ़ी हुई गर्मी शान्त हो जाती है। एक विद्वान का मत है कि जिस स्थान पर क्रोध आवे, वहाँ से उठकर कहीं चले जाना या किसी और काम में लगना अच्छा है। इससे मन की दशा बदल जाती है और चित्त का झुकाव दूसरी ओर हो जाता है। एक योगाभ्यासी सज्जन बताते हैं कि क्रोध आते ही गायत्री मन्त्र का जप करने लगना अनुभूत और परीक्षित प्रयोग है। इन उपायों से आप क्रोध को भगाकर अपने मन को पवित्र बना सकेंगे।

लोभ से जीवन नष्ट होता है

निरन्तर कृपणता कंजूसी और जमा करने के विचार जब मस्तिष्क में आते रहते हैं तो वे कुछ समय बाद आदत का रूप धारण कर लेते हैं। बहुत जमा करने और खर्च के समय अनावश्यक कंजूसी को लोभ कहा जा सकता है। लोभ की विचार-धारा जब सुप्त मन पर असर करती है, तो उसका स्वास्थ्य पर बहुत अनिष्टकर प्रभाव पड़ता है। रुपया पैसा यथार्थ में एक भोग-

वस्तु है। ज्ञानवान मनुष्य इसे हाथ का मैल बताते हैं। धन का वास्तविक काम उसको सदुपयोग में लाना है। जैसे पानी पीने की वस्तु है, उसके पीने या प्रयोग करने में ही आनन्द है। पानी को जो अनावश्यक मात्रा में जोड़-जोड़ कर जमा करता है, वह अयोग्य कार्य करता है। जमा किया हुआ पानी कुछ दिन बाद सड़ने लगेगा और चारों ओर दुर्गन्ध पैदा करेगा। शरीर और मन का स्वाभाविक धर्म है कि वह जिसे लेता है, उसे त्यागता भी है। मन में विचारों का आवागमन लगा रहता है। एक प्रकार के विचार आते हैं, तो दूसरी प्रकार के जाते हैं। मन में विभिन्न प्रकार के विचार हर घड़ी उठते रहने का विधान परमात्मा ने बहुत सोच समझ कर बनाया है, इससे बढ़ती हुई नदी के जल की तरह मस्तिष्क निर्मल होता रहता है, यदि एक ही प्रकार के विचार किये जॉय और ये निम्न श्रेणी के हों तो मनुष्य भयङ्कर विपत्ति में पड़ सकता है। आकर्षण के विश्वव्यापी नियम के अनुसार उसी प्रकार के विचार उस आदमी के पास इतनी अधिक मात्रा में इकट्ठे हो जायेंगे कि वह डर जायगा, और बीमार हो जायगा या मर जायगा। लोभी मनुष्य निरन्तर धन का ही चिन्तन करता है। उसे पैसा अधिक जोड़ने की चिन्ता बनी रहती है, इस प्रकार वह 'हाथ के मल' को छुड़ाने की अपेक्षा उसे जमा करने का प्रकृति विरुद्ध प्रयत्न करता है। इसका असर गुप्त मन पर होता है। पाठक यह तो जानते ही होंगे कि शरीर की श्वास-प्रश्वास क्रिया, खून का दौरा, रसों का पचना, मल मूत्र का परित्याग आदि दैनिक जीवन क्रियाएँ सुप्त मन के द्वारा होती रहती हैं। हमारा चेतन मन इन क्रियाओं में दखल नहीं देता, किन्तु सुप्त मन की स्थिति के अनुसार क्षण भर में बड़ा भारी परिवर्तन हो सकता है। मनोविज्ञानवेत्ताओं ने शरीर की क्रियाओं पर सुप्त मनका पूरा-पूरा अधिकार देखते हुए उस मन पर प्रभाव डालकर समस्त बीमारियों

को दूर करने में सफलता प्राप्त की है। हमारे स्वभाव के दोष और अन्य बुरी आदतें भी इस प्रकार के मानसिक उपचार से सुधर सकती हैं।

आध्यात्मिक पवित्रता का मार्ग

शारीरिक और मानसिक पवित्रता के साथ ही आध्यात्मिक पवित्रता भी आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना आत्मोन्नति, जो कि मनुष्य का प्रधान लक्ष्य है, सम्भव नहीं होती। आध्यात्मिक पवित्रता द्वारा ही मनुष्य में सच्चे प्रेम, भक्ति, दया, उदारता, परोपकार आदि की उत्पत्ति हो सकती है और देवत्त्व का विकास हो सकता है।

यह सृष्टि त्रिगुणमयी है। सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण, इन तीन गुणों से संसार के समस्त जड़ चेतन ओत प्रोत होरहे हैं। तमोगुण में आलस्य (अशान्ति युक्त मूढता) रजोगुण में क्रिया शीलता (चंचलता) सतोगुण मे शान्ति युक्त क्रिया (पवित्रता और अनासक्त व्यवहार) होता है।

प्राय: तमोगुण और रजोगुण की ही लोगों में प्रधानता होती है। सतोगुण आज कल बहुत कम मात्रा में पाया जाता है। क्योंकि उच्च आध्यात्मिक साधना के फल स्वरूप ही सतोगुण का विकास होता है। सतोगुण की वृद्धि ही पवित्रता और कल्याण का हेतु है। सात्विकता जितनी बढ़ती जायगी उतना ही प्राणी अपने लक्ष्य के निकट होता जायगा। इसके विपरीत रजोगुण की अधिकता से मनुष्य भोग और लोभ के कुचक्र में फँस जाता है और तमोगुणी तो तीव्र गति से पतन के गर्त में गिरने लगता है।

तमोगुण प्रधान मनुष्य आलसी, अकर्मण्य निराश और परमुखापेक्षी होता है। वह हर बात में दूसरों का सहारा टटोलता है। अपने ऊपर, अपनी शक्तियों के ऊपर उसे विश्वास नहीं होता। दूसरे लोग किसी कुपात्र को सहायता क्यों दें ? जब उसे किसी

ओर से समुचित सहयोग नहीं मिलता तो खिन्न और क्रुद्ध हो कर दूसरों पर दोषारोपण करता है और लड़ता-झगड़ता है। लकवा मार जाने वाले रोगी की तरह उसको शक्तियां कुण्ठित हो जाती हैं और जड़ता एवं मूढ़ता में मनोभूमि जकड़ जाती है। शरीर में स्थूल बल थोड़ा बहुत भले ही रहे पर प्राण-शक्ति, आत्मबल, शौर्य एवं तेज का नितान्त अभाव रहता है। ऐसे व्यक्ति बहुधा, कायर, कुकर्मी, क्रूर, आलसी और अहंकारी होते हैं। उनके आचरण, विचार, आहार, कार्य और उद्देश्य सभी मलीन होते हैं।

तमोगुण पशुता का चिन्ह है। चौरासी लाख योनियों में तमोगुण ही प्रधान रहता है। वही संस्कार जिस मनुष्य के जीवन में प्रबल हैं उसे नर पशु कहा जाता है। इस पशुता से जब जीव की कुछ प्रगति होती है तब उसका रजोगुण बढ़ता है। तम की अपेक्षा उसके विचार और कार्यों में राजसिकता अधिक रहती है।

रजोगुणी में उत्साह अधिक रहता है, फुर्ती, चतुराई, चालाकी, होशियारी खुदगर्जी, दूसरों को उल्लू बनाकर अपना मतलब गांठ लेने की योग्यता खूब होती है। ऐसे लोग बातून, प्रभाव शाली, क्रियाशील, परिश्रमी, उद्योगी, साहसी, आशावादी, और विलासी होते हैं। उनकी इन्द्रियां बड़ी प्रबल होती हैं। स्वादिष्ट भोजन, बढ़िया ठाठ बाठ, विषय वासना की इच्छा सदैव मन मे लगी रहती है। कई बार तो वे भोग और परिश्रम में इतने निमग्न हो जाते हैं कि अपना स्वास्थ्य तक गँवा देते हैं।

यारबाशी, गप शप, खेल तमाशे, नृत्य गान, भोगविलास, शान शौकत, रौब दाब, ऐश आराम, शाबाशी, वाहवाही, बड़प्पन और धन दौलत में रजोगुणी लोगों का मन खूब लगता है। सत्य और शिव की ओर उनका ध्यान नहीं जाता पर 'सुन्दरम्' को देखते ही लट्टू होजाते हैं। ऐसे लोग बहिर्मुखी होते हैं, बाहर की बातें तो बहुत सोचते हैं पर अपनी आन्तरिक दुर्बलता पर

विचार नहीं करते, अपनी बहुमूल्य योग्यताओं परिस्थितियों और शक्तियों को अनावश्यक रूप से हलकी छछोरी और बेकार की बातों में बर्बाद करते रहते हैं।

सतोगुण की वृद्धि जब किसी मनुष्य में होती है तो अंतरात्मा में धर्म, कर्तव्य, और पवित्रता की इच्छा उत्पन्न होती है। न्याय और अन्याय का, सत् और असत् का, कर्तव्य और अकर्तव्य का, ग्राह्य और त्योज्य का भेद स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगता है। तत्व ज्ञान, धर्म विवेक, दूरदर्शिता, सरलता, नम्रता और सज्जनता से उसकी दृष्टि भरी रहती है। दूसरों के साथ करुणा, दया, मैत्री, उदारता, स्नेह, आत्मीयता और सद्भावना का व्यवहार करता है। कुच-कांचन की तुच्छता को समझ कर वह तप, साधना, स्वाध्याय, सत्संग, सेवा, दान, और प्रभु शरणागति की ओर अग्रसर होता है।

सात्विकता की अभिवृद्धि होने से आत्मा में असाधारण शान्ति, सन्तोष, प्रसन्नता, प्रफुल्लता एवं आनन्द रहता है। उसका प्रत्येक विचार और कार्य पुण्य मय होता है, जिससे निकटवर्ती लोगो को भी ज्ञात और अज्ञात रूप से बड़ी शान्ति एवं प्रेरणा प्राप्त होती है।

तमोगुण सबसे निष्कृष्ट अवस्था है। रजोगुण उससे कुछ ऊँची तो है पर मनुष्यता से नीची है। मनुष्य का वास्तविक परिधान सतोगुण है। मनुष्यता का निवास सात्विकता में है। आत्मा को तब तक शान्ति नहीं मिलती जब तक कि उसे सात्विकता की परिस्थिति प्राप्त न हो। जो मनुष्य जितना सतोगुणी है वह परमात्मा के उतना ही समीप है। इस दैवी तत्व को प्राप्त करके जीव धन्य होता है क्योंकि जीवन लक्ष की प्राप्ति का एक मात्र साधन सतोगुण ही है। प्रत्येक पवित्र-जीवन के प्रेमी को

अपने में सात्विकता की अभिवृद्धि के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए।

वास्तव में सतोगुणी जीवन सब प्रकार का पवित्रता की जड़ है। इससे मनुष्य में श्रेष्ठ गुणों का प्रादुर्भाव होता है और वह हर तरह के मलिन आचरणों से दूर रहकर शुद्ध और पवित्र बन सकता है। सतोगुणी मनुष्य दैनिक रहन-सहन खान-पान आहार-विहार सब बातों में शुद्धता का विचार रखता है और इसके परिणाम स्वरूप उसके मन, वचन और कर्म में अशुचि भावनाओं का प्रवेश नहीं हो पाता। वह सब के लिये हितकारी विचार करता है, दूसरों को अच्छी लगने वाली बातें मुँह से निकालता है और सब की भलाई के काम करता है। ऐसा व्यक्ति केवल मानसिक और आत्मिक पवित्रता का ही विचार नहीं रखता, वरन उसके चारों ओर का वातावरण पवित्र रहता है, प्रत्येक वस्तु में शुद्धता का विचार रखा जाता है और कोई भी गन्दा काम नहीं किया जा सकता। जैसा हम अन्यत्र लिख चुके हैं शरीर का राजा मन है और मनपर आत्मा द्वारा शासन किया जा सकता है। इसलिये पवित्र-जीवन का वास्तविक उद्गम-स्थान आत्मा ही है। अगर हम आत्मा की शुद्धता और पवित्रता का ध्यान रखेंगे तो हमारा शेष समस्त जीवन स्वयम् ही पवित्रता की ओर प्रेरित होगा, और आत्मा उसी अवस्था में जागृत और उच्च भावापन्न होती है जब उसकी प्रवृत्ति सतोगुण की तरफ हो। गीता में भी कहा है:—

सर्व द्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥

अर्थात् "जिस काल में इस देह में तथा अन्तःकरण और इन्द्रियों में चेतनता और बोधशक्ति उत्पन्न होती है उस काल में ऐसा जानना चाहिये कि सत्वगुण बढ़ा है।" और भी कहा है:—

सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमाद मोहौं तमसो भवतोऽज्ञान मेव च॥

अर्थात्—सत्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुण से निस्सन्देह लोभ उत्पन्न होता है, तथा तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान की उत्पत्ति होती है।

पवित्रता में ही जीवन की सार्थकता है

पवित्रता मानव-जीवन की सार्थकता के लिये अनिवार्य है। मनुष्य का विकास और उत्थान केवल ज्ञान अथवा भक्ति की बातों से ही नहीं हो सकता, उसे व्यवहारिक रूप से भी अपनी उच्चता और श्रेष्ठता का प्रमाण देना आवश्यक है, और इसका प्रधान साधन पवित्रता ही है। जो व्यक्ति गन्दे वातावरण में रहता है अथवा गन्दे विचार प्रकट करता है, उसके पास जाने या ठहरने की किसी को रुचि ही नहीं होती। ऐसे व्यक्ति से सभी घृणा करते हैं। और किसी अनिवार्य कारणवश उसके निकट जाना भी पड़े तो जल्दी से जल्दी वहाँ से हट जाना चाहते हैं।

मनुष्य के लिये शरीर, मन, चरित्र, आचार-विचार आदि सब प्रकार की पवित्रता आवश्यक है। यदि शारीरिक पवित्रता का ध्यान न रखा जायगा तो स्वास्थ्य कभी अच्छा नहीं रह सकता और अस्वस्थ व्यक्ति कोई अच्छा काम करने में समर्थ नहीं हो सकता। इसी प्रकार मानसिक पवित्रता के बिना मनुष्य मे सज्जनता, प्रेम, सद्व्यवहार के भाव उत्पन्न नहीं हो सकते और वह संसार में किसी की भलाई नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति में चरित्र की पवित्रता नहीं है, वह कभी संसार में प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त नहीं कर सकता। अगर मुँह पर नहीं तो परोक्ष में सब लोग उसकी निन्दा और बुराई ही करेंगे। आचार-विचार की पवित्रता ने यद्यपि आज कल ढोंग का रूप धारण कर लिया

है और इस कारण अनेक आधुनिक विचारों के व्यक्ति उसे अनावश्यक समझने लगे हैं, पर वास्तव में मनुष्य की अध्यात्मिक उन्नति का बहुत सम्बन्ध आचार-विचार की पवित्रता से है। खान-पान में शुद्धता और पवित्रता का ध्यान न रखने से केवल हमारा स्वास्थ्य ही खराव नहीं होता वरन् हमारा मानसिक संयम भी नष्ट हो जाता है और हमको चटोरपन की हानिकारक आदत लग जाती है। इसी प्रकार विचारों में शुद्धता का ख्याल न रखने से काम, कोध, लोभ आदि की हानिकारक भावनाऐ वढ़ती है।

इसलिये यदि आप वास्तव में अपने कल्याण की अभिलाषा रखते हैं तो अपने भोजन, वस्त्र, निवास स्थान, देह, मन, आत्मा आदि सबकी स्वच्छता और पवित्रता का ध्यान रखना परमावश्यक है। इन सबकी सम्मिलित पवित्रता से ही जीवन में उस निर्मलता और प्रकाश के भाव का विकास हो सकेगा जिसके द्वारा आप वास्तविक मनुष्य कहलाने के अधिकारी वन सकते हैं। आपको केवल अपनी व्यक्तिगत स्वच्छता का ध्यान रखना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् आपके आस-पास भी कहीं गन्दगी, अस्वच्छता दिखलाई नहीं पड़नी चाहिये, क्योंकि मनुष्य सामाजिक जीव है और उसके जीवन का एक क्षण भी बिना दूसरों के सहयोग के व्यतीत नहीं हो सकता। इस लिये उसकी पवित्रता तभी कायम रह सकती है जव कि समस्त समाज में पवित्र-जीवन की भावना समविष्ट हो जाय।

जीवन को सुख-शान्तिमय बनाने वाला साहित्य

(मूल्य प्रत्येक पुस्तक का छः-छः आना है)

१-सूर्यचिकित्सा विज्ञान २-प्राणचिकित्सा विज्ञान ३-स्वस्थ बनने की विद्या ४-भोग में योग ५-बुद्धि बढ़ाने के उपाय ६-आसन और प्राणायाम ७-तुलसी के अमृतोपम गुण ८-महान जागरण ६-तुम महान हो १०-घरेलू चिकित्सा ११ दीर्घ जीवन के रहस्य १२-नेत्रों की प्राकृतिक चिकित्सा १३-स्वप्न दोष को मनोवैज्ञानिक चिकित्सा १४-दूध की आश्चर्यजनक शक्ति १५-उन्नति का मूलमन्त्र ब्रह्मचर्य १६-उपवास के चमत्कार १७-स्त्री रोग चिकित्सा १८-वालरोग चिकित्सा १६-कब्ज की चिकित्सा २०-निरोग जीवन का राजमार्ग २१-चिरस्थाई यौवन २२-सौन्दर्य बढ़ाने के ठोस उपाय २३-मनुष्य शरीर की बिजली के चमत्कार २४-पुत्र-पुत्री उत्पन्न करने की विधि २५-हमारी पारिवारिक समस्याएं २६-मनचाही सन्तान २७-दाम्पत्ति जीवन का सुख २८-हमारे आन्तरिक शत्रु २६-क्या खायें ?क्यों खायें ? कैसे खायें ? ३०-हमारे सभ्यता के कलङ्क ३१-धनवान बनने के गुप्त रहस्य ३२-मरने के वाद हमारा क्या होता है ? ३३-मित्रभाव बढ़ाने की कला ३४-आकृति देखकर मनुष्य की पहिचान ३५-हमें स्वप्न क्यों दीखते हैं ? ३६-विचार करने की कला ३७-हम वक्ता कैसे बन सकते हैं ? ३८-सफलता के तीन साधन ३६-जिंदगी कैसे जिएँ ४०-प्रसिद्धि और समृद्धि ४१-ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ? ४२-क्या धर्म ? क्या अधर्म ? ४३-ईश्वर और स्वर्ग प्राप्ति का सच्चा मार्ग ४४-भारतीय संस्कृति का बीज मंत्र यज्ञोपवीत ४५-यज्ञोपवीत द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति ४६-मैं क्या हूँ ? ४७-वशीकरण की सच्ची सिद्धि ४८-ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग ।

'अखण्ड-ज्योति' प्रेस, मथुरा ।